आत्मा का विकासक्रम

निगोद से मोक्ष तक की यात्रा

भाग-१

• लेखक-संपादक •
પૂ.મુનિરાજ શ્રી સંયમકીર્તિ વિજયજી મ.સા.

• प्रकाशक •
શ્રી સમ્યગ્જ્ઞાન પ્રચારક સમિતિ

आत्मा का विकासक्रम

निगोद से मोक्ष तक की यात्रा

भाग-१

(५२)

-: दिव्यकृपा :-

शासन सिरताज तपागच्छाधिराज पूज्यपाद आचार्यदेवेश
श्रीमद् **विजय रामचंद्रसूरीश्वरजी** महाराजा

-: शुभ आशीर्वाद :-

सुविशाल गच्छाधिपति पू. आ. भ.
श्री. वि. **पुण्यपालसूरीश्वरजी** महाराजा

-: लेखक - संपादक :-

शासन सिरताज तपागच्छाधिराज पूज्यपाद आचार्यदेवेश श्रीमद् **विजय रामचंद्रसूरीश्वरजी महाराजा** के शिष्यरत्न समतानिधि पू. मुनिप्रवर **श्री दर्शनभूषणविजयजी म. सा.** के शिष्यरत्न पू. पंन्यासप्रवर **श्री दिव्यकीर्तिविजयजी गणिवर्य** के शिष्यरत्न पू. पंन्यासप्रवर **श्री पुण्यकीर्तिविजयजी गणिवर्य** के शिष्यरत्न
पू. मुनिराज **श्री संयमकीर्तिविजयजी** म. सा.

-: प्रकाशक :-

श्रीसम्यग्ज्ञान प्रचारक समिति

अहमदाबाद

पुस्तक का नाम : आत्मा का विकासक्रम, भाग-१ (निगोद से मोक्ष तक की यात्रा)
लेखक-संपादक : पू.मु.श्री **संयमकिर्ति विजयजी** म.सा.
हिन्दी अनुवाद : विनीतभाई दुबे
प्रकाशक : श्रीसम्यग्ज्ञान प्रचारक समिति
अक्षरांकन : **सन्मार्ग प्रकाशन,** अमदावाद
आवृत्ति : प्रथम,
पृष्ठ : ३२ + २९२ = ३२४
प्रकाशन : वि.सं. २०७४, मूल्य : सदुपयोग

:- प्राप्तिस्थान :-

1. **श्री सम्यग्ज्ञान प्रचारक समिति**
बीजल गांधी
४०१, ओप्सन्ज, नेस्ट होटल के पास, सरदार पटेल नगर रोड, नवरंगपूरा, **अमदाबाद-९**
2. **नृपेनभाई आर.शाह**
४, सरगम फ्लेट, वी.आर.शाह स्कुल के पास, विकासगृह रोड, पालडी, **अमदाबाद-७.**
3. **श्रीविजय रामचन्द्रसूरि आराधना भवन**
चंदावरकर लेन, बोरीवल्ली (वेस्ट) मुंबई - ४०००९२ (महाराष्ट्र), फो.न.-(०२२) २८९५२४९२
4. **विजयरामचन्द्र सूरि आराधना भवन**
सुभाष चोक, गोपीपुरा, **सुरत.**
5. **नरेशभाई नवसारीवाला**
डी.एन.आर., BC, 3022, Bharat Dimond, Bursh, BKC, Bandra-Mumbai-51, Phone-236993702.
6. Shree Suparshwanath Jain **Temple 43,** Chell Pillar Koli Street Near Amir Mahel, Pycrofts Road, Roya Pettah, **Chennai** - 14, Keyur Kapadia, Mo - 09043466702

७. श्रीतपगच्छ अमर जैनशाला
टेकरी, आर.डी. श्रोफ मार्ग, **खंभात,** जी. आणंद, फोन : २२००९९
८. दीक्षित एन शाह
३०१, सुन्दरम् एपा.सरगम शोपींग सेन्टर के पीछे, पार्ले पोईन्ट **सुरत** - ३९५००७
९. सेवंतीलाल वी. जैन अजयभाई
डी-५२, सर्वोदयनगर, ग्राउन्ड फ्लोर, पहेली पांजरापोल गली, **मुंबई** - ४, फोन : २२४०४७१७
१०. राजेन्द्रभाई डी.शाह
६०४, मेघमल्हार, को.हा.सो., मुरार रोड, मुलुंड(वेस्ट), **मुंबई** - ८० मो. ९८२१४३९९०६
११. डॉ. कमलेशभाई डी.शाह
बी-४, धनलक्ष्मी बिल्डींग, गोडीबार रोड, घाटकोपर (वेस्ट), **मुंबई-८६,** मो. ९३२४१४८१४०, ९०२९३१९५३०
१२. विजयरामचंद्रसूरि आराधना भवन
हाईटेन्शन रोड, सुभानपुरा **वडोदरा-२३,** फोन : २२८०४७७ हसमुखभाई, मो. ९९२५२३१३४३
१३. मयुरभाई दवे
महाराष्ट्र भुवन जैन धर्मशाणा-तलेटी रोड, **पालीताणा**-३६४२७ मो. ९४२९५०६३०३

श्रुतभक्ति-अनुमोदना

इस पुस्तकश्रेणी के

प्रथम भाग का

संपूर्ण लाभ...

धनश्यामभाई मधुभाई पटेल, परिवार

सुरत - वराछा''

ने प्राप्त किया है ।

इस पुस्तकश्रेणी के

द्वितीय भाग का

संपूर्ण लाभ..

''श्रुतप्रेमी आराधक वर्ग''

ने प्राप्त किया है ।

- आपकी श्रुतभक्ति की हार्दिक अनुमोदना और

आगे भी आप ऐसे श्रुतभक्ति करते रहो,

ऐसी मनोकामना सह...

लि. श्री सम्यग्ज्ञान प्रचारक समिति

सुविशाल गच्छ सर्जक - सच्चारित्र चूड़ामणि - सिद्धांत महोदधि - कर्मसाहित्य निष्णात - सुविशाल गच्छनेता पूज्यपाद आचार्यदेवेश श्रीमद् विजय प्रेमसूरीश्वरजी महाराजा के श्रीचरणों में भावपूर्ण श्रद्धांजलि

पिंडवाड़ा के पनौते पुत्र और पिता श्री भगवानजीभाई तथा मातुश्री कंकुबेन के लाड़ले नंदन **'प्रेमचंदजी'** ने वि. सं. १९५७ में पालीताणा में दीक्षा अंगीकार करके पू. मु. श्री **दानविजयजी** म. सा. (इसके बाद आचार्यश्री) के शिष्य के रूप में पू. मु. श्री **प्रेमविजयजी** महाराज का नाम धारण किया। इसके बाद रत्नत्रयी की साधना की धूनी रमाई। संयम-स्वाध्याय-गुरुसेवा-साहित्यसर्जन-वैयावच्च आदि अनेकविध तारक योगों में लीन हुए। इसके फलस्वरूप विशिष्ट योग्यता प्रकट होने से पू. बुजुर्गों द्वारा क्रमशः गणिपद, पंन्यासपद, उपाध्यायपद तथा आचार्यपद प्रदान किया गया। इसके बाद वे पू. आ. भ. श्री वि. **प्रेमसूरीश्वरजी** महाराजा के रूप में समूचे जैन जगत में सुप्रसिद्ध हुए।

वे निःस्पृहतादि अनेक गुणों के स्वामी थे और उनके विविधतापूर्ण जीवनकार्यों में तीन महत्त्वपूर्ण कार्य सम्पन्न हुए।

(१) सुविशाल गच्छ का सर्जन, (२) तिथि आदि सिद्धांतों की पुनः स्थापना और (३) कर्मसम्बंधी साहित्य का सर्जन। उनके जीवन में संयमप्रेम अभूतपूर्व कोटि का था। इसी प्रकार स्वाध्याय प्रेम भी गजब कोटि का था। संयम तो उनकी सांस था, जबकि स्वाध्याय उनका उच्छ्वास था। इसी प्रकार उनके जीवन में ब्रह्मचर्य गुण सोलह कलाओं में खिला था।

उन्होंने माता से भी अनूठे वात्सल्य और पिता से भी विशिष्ट अनुशासन द्वारा

सुविशाल-सुविहित गच्छ का सर्जन किया था। उन्होंने प्रवचन की पाट को गुंजायमान किये बिना व्याख्यान वाचस्पति पू. आ. भ. श्री वि. **रामचंद्रसूरीश्वरजी** महाराजा, आगमप्रज्ञ पू. आ. भ. श्री वि. **जंबूसूरीश्वरजी** महाराजा, सरल स्वभावी तपस्वी सम्राट पू. आ. भ. श्री वि. **राजतिलकसूरीश्वरजी** महाराजा, वर्धमान तपोनिधि पू. आ. भ. श्री वि. **भुवनभानुसूरीश्वरजी** महाराजा, युवा प्रतिबोधक पू. पंन्यासप्रवर श्री **चंद्रशेखरविजयजी** गणिवर्य जैसे अनेक बेजोड़ विद्वान शिष्य-प्रशिष्य रूपी समुदाय की विरासत शासन को सौंपी। शासन को ऐसी विरासत सौंपकर जानेवाले आचार्यश्री के रूप में पूज्यश्री की स्मृति सदैव अविस्मरणीय रहेगी।

सिद्धांत और सत्यमार्ग की सुरक्षा में भी इन महापुरुष का बड़ा योगदान था। उन्मार्ग के उन्मूलन और सन्मार्ग के संस्थापन-संरक्षण द्वारा जैन-जैनेतर जगत में **मुनि श्री रामविजयजी** के नाम से प्रसिद्ध होनेवाले मुनि श्री को इन्हीं महापुरुष ने मजबूत बल प्रदान किया था। इन महापुरुष के अनेकविध जीवनकार्यों में तिथिसम्बंधी सिद्धांतमार्ग की पुनः स्थापना एक महत्त्वपूर्ण कार्य माना जा सकता है। अपने गुरुदेव श्री **दानसूरिजी** म. सा. के मनोरथ के अनुसार तथा अपने प्रभावक समर्थ पट्टधर पू. आ. भ. श्री वि. **रामचंद्रसूरिजी** म. सा. को आगे करके लगातार उन्हें सहयोग और प्रोत्साहन देकर पूज्यश्री ने पर्वतिथिओं की क्षय-वृद्धि के सम्बंध में कथित परंपरा को आगे करके तिथि सिद्धांत की क्षति हुई थी, उसकी पुनःस्थापना की और सिद्धांत की निष्ठा व्यक्त की, जिसे सन्मार्ग-सत्यसिद्धांत के आराधक-प्रशंसक किसी काल में भुला नहीं पाएंगे।

पूज्यपाद प्रेमसूरिदादा ने विषम काल में भी आचारसम्पन्न और शास्त्र-सिद्धांत को समर्पित सुविशाल गच्छ का सर्जन किया तथा सत्य सिद्धांतों की पुनःस्थापना व रक्षा की। उनके इन दो महान कार्यों से जगत के जीवों को भवसागर तरने का श्रेष्ठ आलंबन प्राप्त हुआ है। उत्तम आलंबन देनेवाले पूज्यश्री का हम सभी पर यह महान उपकार है। उनका यह ऋण किसी भी प्रकार से चुकाया नहीं जा सकता। इसलिये उनके स्वर्गारोहण के पचासवें वर्ष में हम सभी का यह उत्तरदायित्व है कि, उन्होंने हम से जिस आचारचुस्तता, स्वाध्यायप्रेम, सिद्धांतनिष्ठा और भवभीरुता की अपेक्षा रखी थी, इन सभी अपेक्षाओं को हम सब पूर्ण करने के लिये संकल्पबद्ध हों और यथाशक्ति प्रयत्नशील बनें। हम सब उनकी अंतःकरण की भावना को पूर्ण करने का प्रयत्न करें, यही उन्हें सच्ची श्रद्धांजलि है।

उन्होंने तो शासन की श्रेष्ठ कोटि की आराधना-प्रभावना-रक्षा करके आत्मकल्याण कर लिया और पचास वर्ष पूर्व ही अपनी अधूरी मोक्षसाधना के पुनः अनुसंधान के लक्ष्यपूर्वक स्वर्गलोक की ओर प्रयाण कर गये। उनके स्वर्गारोहण को ५०-५० वर्ष पूर्ण होने को आए हैं। यह उन्हें स्मरण करने, उनके उपकारों-ऋणों को चुकाने का और अपने उत्तरदायित्वों को स्मरण करने -निभाने का सुअवसर है।

पूज्यपादश्रीजी का स्वर्गारोहण दिन वि. सं. २०२४, वैशाख वदी-११ है। इस दिन रात्रि १०.४० बजे पू. आ. भ. श्री **रामचंद्रसूरीश्वरजी** महाराजा आदि **स्वशिष्य परिवार** द्वारा कराई गई अंतिम निर्यामणा को प्राप्त करके उन्होंने वीर...वीर...के स्वमुख से उच्चारित स्पष्ट और समाधिदायक पदों के पावन सान्निध्य में अपूर्व समाधिभाव को सिद्ध करके नश्वर देह तथा नश्वर दुनिया का

त्याग किया और जगत को संयम-निःस्पृहता-सत्यनिष्ठा-स्वाध्यायप्रेम आदि का उच्चतम आदर्श सौंपकर परलोक के पुनीत पथ पर-स्वर्गलोक की ओर प्रयाण किया था।

वि. सं. २०७३, वैशाख वदी-११ के दिन पूज्यपादश्री के स्वर्गारोहण (अंतिम समाधि) के उस क्षण का **'अर्धशताब्दी'** में मंगल प्रवेश हुआ है। इस पावन निमित्त को पाकर उनका अनुयायी वर्ग कृतज्ञभाव से धर्म की प्रभावना के विविध अनुष्ठानों की श्रृंखला द्वारा अपना कर्तव्य अदा कर रहा है।

शाश्वत गिरिराज श्री सिद्धिगिरि पालीताणा में **'सूरिरामचंद्र'** साम्राज्य के मुखिया पूज्य गच्छस्थवीर परम पूज्य आचार्यदेव श्रीमद् विजय **ललितशेखरसूरीश्वरजी** महाराजा तथा सुविशाल गच्छाधिपति परमपूज्य आचार्यदेवेश श्रीमद् विजय **पुण्यपालसूरीश्वरजी** महाराजा आदि सूरिवर-पदस्थ-मुनिवरों की निश्रा-उपस्थिति में प्रारम्भ हुए **''स्वर्गारोहण अर्धशताब्दी''** महोत्सव के साथ देशभर में अनेक स्थलों पर भावपूर्ण आयोजन हुए हैं तथा हो रहे हैं।

गुरुभक्तों की मनोकामना है कि पूज्यपादश्रीजी के **'स्वर्गारोहण'** स्थल श्री **खंभात तीर्थ** के प्रांगण में अधिक से अधिक संख्या में चतुर्विध संघ को आमंत्रित करके इन सभी आयोजनों में शिरमौर समापन रूपी समाधि का जयनाद दिगदिगंत में गूंज उठे।

'स्वर्गारोहण अर्धशताब्दी' वर्ष में जैसे जिनभक्ति, गुरुभक्ति, संघ-शासनभक्ति के विविध अनुष्ठान आयोजित किये जानेवाले हैं, वैसे ही इस वर्ष में पूज्यपादश्रीजी

को ज्ञान के प्रति जो अगाध प्रेम था, उस ज्ञान का भव्यात्माओं में संपादन हो - श्रीसंघ में स्वाध्याय की प्रवृत्ति बढ़े, ऐसे कार्य करके उन्हें सम्मानपूर्ण श्रद्धांजलि देने की भी भावना व्यक्त की जा रही है।

इसीलिये इस **'स्वर्गारोहण-अर्धशताब्दी'** वर्ष में विविध पुस्तकों का लेखन-संपादन का कार्य भी शुरू किया गया है। इसी संदर्भ में सुविशाल गच्छाधिपति पू. आ. भ. श्री वि. **पुण्यपालसूरीश्वरजी** महाराजा के आज्ञाशीर्वाद से **''आत्मा का विकासक्रम भाग-१-२''** पुस्तकश्रेणी का प्रकाशन हो रहा है ।

वि. सं. २०७३.....सिद्धांत महोदधि पूज्यपाद आ. भ. श्री वि. प्रेमसूरीश्वरजी महाराजा का **'स्वर्गारोहण - अर्धशताब्दी'** वर्ष...

पू. आ. भ. श्रीमद् विजय प्रेमसूरीश्वरजी महाराजा का **तेजस्वी इतिहास**

(१) **जन्म :** सं. १९४०, फा. सु. १४, पिंडवाड़ा

(२) **दीक्षा :** सं. १९५७, का. वदी-६, पालीताणा

(३) **गणिपद :** सं. १९७६, का. व.-६, डभोई

(४) **पंन्यासपद :** सं. १९८१, का. वदी-६, अहमदाबाद

(५) **उपाध्यायपद :** सं. १९८७ का. वदी-६, मुंबई

(६) **आचार्यपद :** सं. १९९१, चै. सु.-१४, राधनपुर

(७) **स्वर्गवास :** सं. २०२४ वै. वदी-११, खंभात

प्रकाशकीय

सम्यग्ज्ञान सभी आराधनाओं का प्राण है। इसलिये अलग-अलग भूमिकावाले सभी आराधकों को विविध विषयों का ज्ञान प्राप्त हो, ऐसे शुभाशय से हमारी **'श्री सम्यग्ज्ञान प्रचारक समिति'** ने पू. मुनिराज श्री **संयमकीर्तिविजयजी** म. सा. द्वारा लिखित-संकलित-संपादित ग्रंथों-पुस्तकों का प्रकाशन करने का शुभ-संकल्प किया है। इसी संदर्भ में पांच वर्ष पूर्व **'आत्मानो विकासक्रम'** गुजराती पुस्तक प्रकाशित की गई थी। अब यही पुस्तक दो भागों में विभाजित होकर हिन्दीभाषी पाठकों के लिये हिन्दी भाषा में भी प्रकाशित हो रही है।

इस पुस्तक के प्रथम भाग का संपूर्ण लाभ **घनश्यामभाई मधुभाई पटेल** परिवार ने और द्वितीय भाग का लाभ **'श्रुतप्रेमी आराधकवर्ग'** ने लेकर उत्तम श्रुतभक्ति क़ी है। हम इस परिवार की श्रुतभक्ति की हार्दिक अनुमोदना करते हैं।

इस ग्रंथ के टाइप सेटिंग का कार्य **'सन्मार्ग प्रकाशन'** द्वारा तथा मुद्रण व्यवस्था का कार्य **'बालाराम'** ऑफसेट द्वारा सम्पन्न किया गया है। **'सन्मार्ग प्रकाशन'** का अनुमोदनीय सहयोग प्राप्त हुआ है।

पूज्यपाद प्रेमसूरिदादा के **'स्वर्गारोहण - अर्धशताब्दी'** वर्ष में हमें श्रुतभक्ति करने का अमूल्य अवसर प्राप्त हुआ है, इसे हम अपना सौभाग्य मानते हैं। सभी आराधक **'आत्मा का विकासक्रम'** ग्रंथ की विविध भूमिकाओं को यथार्थ रूप में समझकर अपनी धर्माराधना को उर्ध्वगामी बनाएंगे, ऐसी हार्दिक मंगलकामना है।

वि. श्री सम्यग्ज्ञान प्रचारक समिति

अहमदाबाद

संपादकीय

मोक्षमार्ग के प्रत्येक आराधक को अपनी धर्माराधना की भूमिका तथा उसके कर्तव्यों का ज्ञान अवश्य प्राप्त करना चाहिये। साथ ही उत्तर की भूमिका प्राप्त करने के पुरुषार्थ की दिशा भी जाननी चाहिये। इसके उपरांत निज भूमिका में रही हुइ त्रुटियों-कमियों को दूर करने की रीति भी समझनी चाहिये। इन तीनों को समझने के पश्चात् जो ग्रहण करने योग्य हो उसे ग्रहण करके, जो त्याज्य लगे उसे त्यागकर तथा प्राप्तव्य को प्राप्त करने की इच्छाशक्ति विकसित करने से मोक्ष मार्ग में प्रवृत्त होनेवाले साधकों का क्रमशः विकास होता है और वे अपनी मोक्षयात्रा मुक्ति की दिशा में आगे बढ़ाते हैं। प्रस्तुत पुस्तक में भव्यात्मा की निगोद से मोक्ष तक की विकास यात्रा के विविध पड़ावों की विस्तार से विवेचना की गई है। आगे की **'सामान्य रूपरेखा'** में प्रत्येक भूमिका का आंशिक वर्णन किया गया है तथा विषयानुक्रम में विविध विषयों का उल्लेख किया गया है।

पूज्यपाद गुरुवर्य आदि पूज्यों की महती कृपा के बल से ही यह विस्तृत कार्य निर्विघ्न संपन्न हुआ है। पूज्यपाद **तपागच्छाधिराज** के साम्राज्यवर्ती तपस्वी साध्वीवर्या श्री **सुनीतयशाश्रीजी म. सा.** की सुशिष्या विदुषी साध्वीवर्या श्री **ज्ञानदर्शिताश्रीजी** महाराज ने प्रूफशुद्धि एवं कर्मग्रंथ के पदार्थों के संकलन आदि कार्यों में बहुत सहायता की है। संपादन की शीघ्र पूर्णता में उनका महत्त्वपूर्ण योगदान है। उनकी निःस्वार्थ श्रुतभक्ति की हार्दिक अनुमोदना।

मैंने अपने अल्प क्षयोपशम से योगदृष्टिसमुच्चय तथा गुणस्थानकक्रमारोह आदि ग्रंथों के आधार पर 'आत्मा का विकासक्रम' दर्शाया है। इसमें शास्त्रीय दृष्टि से यदि कोई त्रुटि दिखाई दे तो विद्वानों से अनुरोध है कि वे मुझे अवगत कराएं, ताकि नवीन संस्करण में शुद्धि हो सके।

आत्मा के विकासक्रम की विविध भूमिकाओं को समझकर शास्त्रानुसारी आराधनाएं करके सर्व जीवात्माएं मोक्षमार्ग पर उत्तरोत्तर विकास करके शीघ्रातिशीघ्र मुक्ति प्राप्त करें, यही शुभाभिलाषा है।

महा सुदी-५, वि.सं.२०७४
ता. २२-१-२०१८

मुनि संयमकीर्ति वि.
विजय रामचंद्रसूरि आराधना भवन
सुरत-गोपीपुरा

पारिभाषिक शब्द

(इस पुस्तक में जो पारिभाषिक शब्दो का प्रयोग किया गया है, उसका अर्थ प्राय: वहाँ दिया गया है अथवा आसपास के लेखन पठने से अर्थ मिल जायेगा । यहाँ मात्र पारिभाषिक शब्द पृष्ठ नंबर लिखा है ।)

अंतराय कर्म - ५८८
अंत:करण - २२३
अंतर्भाव - १७६
अकर्तव्य = नहीं करना योग्य
अकलंक = कलंक रहित
अकल्याणमित्र - १९६
अकिंचनता - १२४
अक्रूर - ४४७
अक्षय = नाश न हो
अक्षुद्र - ४४५
अचरमावर्त - ३६
अचौर्य - १२४
अज्ञता - ४७
अणसण - ९५
अणुव्रत - १२५/४६५
अतात्त्विक-योग - ३१९
अतिथि - ४६३
अतिथि संविभाग - ४७७
अभिगमसम्यग्दर्शन - २२८
अध्यात्मयोग - २९५
अनंत = अंत विनाका
अनंतानुबंधी - ५८९
अनध्यवसाय - २६७
अननुष्ठान - २८६
अनभिज्ञ - ६२
अनर्थदंड - ४५४
अनादि = आदि रहित
अनाबाध = बाधा विनानुं
अनामय = रोग रहित
अनिवृत्तिकरण - २२०
अनुकंपा - २४५/३६६
अनुपरत = सतत
अनुबंध
अनुबंधशुद्धानुष्ठान - ५०९
अनुमोदवा - ४९१
अनुराग - ८४
अन्यमुद् - ४२५
अपकारक्षमा - ५१४
अपध्यान - ४५४
अपगम = नाश
अपरिग्रह - १२४
अपरिमित = अमर्यादित
अपाय = आत्मिक अनर्थ
अपायदर्शन - १८५
अपुनर्बंधक - ६०
अपूर्वआलोचन - ६७/२१४
अपूर्वकरण - २१८/५६६
अपोह - ४६८
अप्रतिपाती - ३९६
अप्रत्याख्यानीय - ५९०
अप्रधानद्रव्यक्रिया - २७३
अप्रशस्त = अशुभ
अप्रशांतवाहिता - १७९
अप्राप्तव्य
अप्राप्तत्वभ्रम - ४
अबाध्य
अबंधकता
अबाह्यभाव = ज्ञानादिगुणो
अभव्य - २५
अभिगमरुचि - २३४
अभिनिवेश = आग्रह
अभिन्नग्रंथिक - १३५
अभिष्वंग = गाढराग
अभ्यंतरतप - ९५
अभ्यंतरशौच - १५७
अभ्याख्यान - ९
अभ्युदय = उत्कर्ष
अमृतानुष्ठान - २८७
अयोगी - ५८२
अर्थयोग - ३४३
अरति =
अर्थदंड - ४५४
अवक्रगमन - ७०
अवन्ध्य = सफल
अविरति = विरति का अभाव
अवेद्यसंवेद्यपद - १८२
अव्यवहारराशी - २६
अशठ - ४४७
अष्टप्रवचनमाना - ५१८
अशुद्धक्रिया
असंगानुष्ठान - ३५०
असंप्रज्ञातयोग - ३५२
असांयोगिकसुख - २०
असार = अभिलषित असाधक वस्तु
अस्तेय
असत्त्व
असूया - १६
अस्वारसिक
अस्वारस्य
अहिंसा - १२४
आक्षेपकज्ञान - ४२९
आज्ञारुचि - २३३
आज्ञाविचय ध्यान - ५२६
आत्मभाव
आत्मवीर्य

आदरणीय = आदरवा योग्य
आपात = प्रारंभिक
आयोज्यकरण - ५७६
आयुष्यकर्म - ५८८
आरंभ
आर्जवता = सरलता
आर्त्तध्यान - ४९२
आलंबनयोग - ३४३
आवरक
आश्रव = कर्म का आत्मा में आना
आसंग - ५५९
आसन - १६७
आस्तिकता - २४६ / ३६६
इच्छायम - १२५
इच्छायोग - ३२१ / ३४५
इन्द्रियजय - ४५८
इत्वरकालिक - ४३७
इष्टदेवता - ७३
इर्ष्या - १५
इश्वर प्रणिधान - १६०
उचित प्रवृत्ति
उचितस्थिति - ६४
उणोदरी तप - ९५
उत्तरगुण - १५८
उत्थान - १७९
उन्मार्ग - ३७
उत्सूकता
उदय
उदयभाव
उदात्त - ६४
उदासीनभाव - ३८४
उदीरणा
उद्वेग - १५४
उपकारक्षमा - ५१४
उपचार - ५८
उपदेशरुचि - २३३
उपबृंहणा - ३८६
उपभोग
उपशम
उपादेय = आदरवा योग्य
उपादानकारण - ५७
उपादेयबुद्धि
उपाधि
उपान्त्य
उर्ण योग - ३४३
ऐदंपर्यार्थ = परमार्थ
ओघदृष्टि - ११३
औचित्य
औचित्यभंग - १९६
औदयिकभाव - ७०
कटुता = कडवाश = तीव्रता
करण - २०९
करणसित्तरी - ५१३
कर्त्तव्य = करने का योग्य
कर्म - ३०
कर्मभूमि - ४०
कलह
कल्प्य
कल्याणमित्र - १९३
कषायपरिणति - १३
कायक्लेश तप - ९५
कान्तादृष्टि - ४२१
कायगुप्ति - ५२०
कायोत्सर्ग - ९६
कारुण्यभावना - ५४५
काल - २९
कालचक्र - ३५
कुंभन = स्थिरीकरण
कुकृत्य = अशुभ कार्य
कुग्रह - ५९
कुतर्क - १८५
कुलयोगी - ६१२
कूटसाक्ष्य
कृतज्ञ - ३५४
कृतज्ञता - ८२
कृपण - ७७
कृतघ्नी - ८२
केवलीसमुद्घात - ५७७
क्रिया - २६८
क्रियारुचि - २३४
क्रियावंचकयोग - १४६/३५३
कोडाकोडि - २६०
क्षय = नाश
क्षयोपशम
क्षयोपशमभाव - ७०
क्षान्ति-क्षमा - ५०७
क्षायिक सम्यकत्व - २३०
क्षायोपशमिक - २२३
क्षुद्रता - ४२
क्षेप - १७०
खेद - १२५
गन्तव्य = जाने योग्य स्थल
गरलानुष्ठान - २८६
गुणरागी - ४४१
गुणव्रत
गुणानुराग - ८४
गुप्ति - ५१९
गुरुलाघवचिंता
गुरुवर्ग - ७३
गोत्रकर्म - ५८८
गोत्रयोगी - ६१२
ग्रंथकार = ग्रंथ के रचयिता
ग्रंथी - २०५
ग्रंथीदेश - २०८
ग्रंथीभेद - २१२
चरणसित्तरी - ५१२
चरमावर्त - ५३
चरमावर्ती - २१२
चारित्र
चारिसंजीविनी न्याय - ७५
चिरकालीन
चैतन्य = ज्ञान
जनापवादभीरुत्व - ८३
जातिभव्य - २५

जिनवचन
जिनाज्ञा - ७१
जिनेश्वर = तीर्थंकर
जुगुप्सा - २५८
ज्ञान - २६८/५०६
ज्ञानगर्भितवैराग्य - ५२५
ज्ञानदशा - २७७
ज्ञानावरणीय कर्म - ५८८
तत्त्वअद्वेष - १२७
तत्त्वचिंतन = तत्त्व का चिंतन
तत्त्वजिज्ञासा - १५६
तत्त्वप्रतिपत्ति - ५३७
तत्त्वप्रवृत्ति - ५५८
तत्त्वमीमांसा - ४२६
तत्त्वशुश्रूषा - १६८
तत्त्वश्रवण - १७८
तथाभव्यत्व - २१३
तद्हेतुअनुष्ठान - १०२/२८६
तन्निष्ठयोगी - ५४४
तप् - ९४
तप्तलोहपदन्यास - १८५
तात्त्विकयोग - ३१९
तारादृष्टि - १५२
तितिक्षा - ५०८
तीव्रभाव - ६४
त्रिवर्ग - ४६५
त्रिविध-त्रिविध
दंड - ४५४
दयालु - ८१
दयालुपणुं - ८१
दर्शनावरणीय कर्म - ५८८
दाक्षिण्यता
दीन - ७७
दीनता - ४३
दीप्रादृष्टि - १७६
दीनोद्धार - ८२
दुःखगर्भितवैराग्य - ५२४
दुःखफलक - १०
दुःखरूप - १०
दुःखानुबंधी - १०
दुर्भव्य - ३१
दुर्भेद्य - २०६
दृष्टिकोण - २९०
देशविरति - ४४२
देशावगाशिक - ४७६
देहाध्यास - १७
दोषपरिणति - १३
द्रव्यक्रिया - २७३
द्रव्यदया - ८१
द्रव्यप्राण = इन्द्रियादि दस प्राणो
द्रव्यप्राणायाम - १७५
द्रव्यसम्यक्त्व - २२८
द्रव्यहिंसा
द्विकृद्बंधक - ५६
द्वेष = अप्रीति का परिणाम
द्वन्द्व - ८
द्विविध-त्रिविध - ४९१
धर्मध्यान - ५२६/५४५
धर्मयौवनकाल - ६०६
धर्मराग - ३६२
धर्मरुचि - २३४
धर्मसंन्यास - ५६८
धारणा - ४२३
धृति-४३३
ध्यान - ५६ / ५३४
ध्यानयोग - ३०६
ध्यानान्तरिका
नदीघोलपाषण न्याय - ३५
नम्रता - ८८
नय - २९०
नवनीत - १०९
नामकर्म - ५८८
निंदा - ८६
निगोद - २४
निदानशल्य - ९६
नियम - १५७
निरनुबंधयोग
निरपाय - ३९७
निरपेक्ष
निरालंबन योग - ३४४
निराश्रवयोग - ३२०
निरूपाधिकपणुं - ३८३
निर्गुणता
निर्दंभी = दंभरहित
निर्ध्वंसता - २४०
निबीजक्रिया = निरनुबंध क्रिया
निर्मत्सरता = ईर्ष्यानो अभाव
नियति - २९
निवर्तनीय - ५१
निर्विकल्पक अवस्था
निर्वेद - २४४/३६५
निरुपाधिक
निश्चयदृष्टि - २७४
निश्चयसम्यक्त्व - २२९
निश्चयनय - २९०
निष्पन्नयोगी - ५४४/६१३
निष्फलारंभी - ४७
निःस्वन - ७७
निःश्रेयस = मोक्ष
निसर्ग सम्यग्दर्शन
निसर्गरुचि - २३३
नोकषाय
न्यासापहार
पर
परवश
परकीय
परद्रोह = अन्यनो दोह
परपरिणति - ११
परपरिवाद - ९
परपीडा = अन्यने पीडा
परभाव

परमर्षि = परमऋषि
परहितार्थकारी
पराधीन
परादृष्टि - ५५६
परार्थकरण = परोपकार
परिणामिकारण - ५७
परिग्रह - १२४
परिताप
परितोष
परिपाक - ३२
परिभोग
पल्योपम
पंचांग प्रणिपात - १३१
पाप = अशुभकर्म-कार्य
पापपरिणति - ११
पाप अकरण नियम - ४९३
पापोपदेश - १२/४५४
पारिणामिकभाव
पुण्यबीज - १७९
पुद्गलपरावर्तनकाल - ३५
पुद्गलानंदी - ४२
पुरुषार्थ - ३०
पुष्टि
पूरण - १७६
पैशुन्य - ९
पौरुषघ्नीभिक्षा - ५२३
पौषध - ४७६
प्रज्ञापनीयता - ४३९
प्रणिधान आशय - ३२६
प्रतिपाती
प्रतिपत्ति
प्रतिमा - ४८७
प्रतिबंध
प्रत्यपाय
प्रत्याख्यानीय - ५९०
प्रत्याहार - ४००
प्रदेशोदय - २२२
प्रधानकार्य - ९२
प्रधानद्रव्यक्रिया - २७३
प्रभादृष्टि - ५३२
प्रमाद - ९३
प्रमादाचरण - ४५४
प्रमोदभावना - ५४६
प्रवृत्तचक्रयोगी - ६१२
प्रवृत्ति आशय - ३२८
प्रवृत्तियम - १२५
प्रवृत्तियोग - ३४६
प्रशम - २४२/३६४
प्रशस्त = शुभ
प्रशांतवाहिता - १७९
प्रस्तुत
प्राणायाम - १७५
प्रातिभज्ञान - ५६७
प्राप्तव्य
प्रायश्चित्त तप - ९५
प्रीतिअनुष्ठान - ३४८
फलावंचकयोग - १४६ / ३५३
बलादृष्टि - १६५
बंध
बाह्यतप - ९५
बाह्यभाव - १७५
बीजरुचि - २३३
बोध = ज्ञान
ब्रह्मचर्य - १२४
भक्तिअनुष्ठान ३४८
भय - ४५
भवबालकाल - ५०६
भववैराग्य - ५६
भवशक्ति - १३८
भवाभिनंदी - ३७
भवाभिष्वंग - ५२
भवोपग्राही
भवितव्यता - २९
भव्य - २५
भाव
भावक्रिया - २७३
भावदया - ८१
भावधर्म
भावना
भावनायोग - ३०२
भावप्राण = ज्ञानादि गुणो
भावप्राणायाम - १७५
भावभिक्षु - ५०९
भावमल - ५१
भावसम्यक्त्व - २२८
भावस्तैमित्य - ३१३
भावश्रावक - ४३८
भावशुद्धि - ९९
भावहिंसा
भीरुं - ४४७
भूमिका
भ्रान्ति - ४०२
मध्यस्थ - ४५०
मनोगुप्ति - ५२०
महत्त्वांकाक्षा - ४५
महर्षि = महाऋषि
महामोह - ५
महाव्रत - १२५
महाशय - ६६
मात्सर्य - ४४
माध्यस्थभावना - ५४६
मायाशल्य - ९६
मार्ग - ७०
मार्गपतित - ७१
मार्गानुसारिता - ४३९
मार्गाभिमुख - ७१
मार्दवता - ५०८
मितभाषिता - ९०
मित्रादृष्टि - १२०
मिथ्यात्व - २४७
मिथ्यात्वशल्य - ९६
मिश्रगुण स्थानक - ३५८
मूलगुण

मैत्रीभावना - ५४५
मोक्ष - ५८४
मोक्षमार्ग - २२
मोह = अज्ञान
मोहगर्भितवैराग्य - ५२५
मोहनीयकर्म - ५८८
यतिधर्म - ५१३
यथाप्रवृत्तिकरण - ३१
यम - १२४
यावत्कालिक - ४३७
योग - ४
योग - २५२
योगदृष्टि - ११५
योगनिरोध - ५७७
योगपूर्वसेवा - ५७/७१
योगबीज - १३०
योगसंन्यास
योगांग = योग का अंग
योगावंचकयोग - १४५/३५२
रति - ७
रसत्याग तप - ९५
राग = प्रीति का परिणाम
ऋजुता - ५०८
रूपवान् - ४४५
रेचन - १७५
रौद्रध्यान
रुग् - ५३७
रुचि = करणाभिलाषा
लज्जालु
लब्धलक्ष्य - ४५५
लाभरति - ४२
लोकनिंदित
लोकरंजन - ५०
लोकप्रिय - ४४६
लोकोत्तरप्रवृत्ति - १८१
वक्रगमन - ७०
वचनअनुष्ठान - ३४९
वचनक्षमा - ५१४
वचनगुप्ति - ५२०
वाचालता (वाक्पटुता) - ९०
विक्षेप - २००
विघ्नजय आशय - ३३१
विनय - ९५/५०७
विनियोग आशय - ३३६
विनीत - ४५४
विपर्यय - २६७
विपर्यास - ४०
विपाक = फल-परिणाम
विपाकक्षमा - ५१४
विपाकोदय - २२२
विपाक विचय ध्यान - ५२६
विवेक = भेदज्ञान
विविदिषा - ४३४
विज्ञप्ति - ४३४
विशेषज्ञ - ४५३
विषयपरिणति - १५
विषयशुद्ध अनुष्ठान - ६०९
विषानुष्ठान - २८५
विस्रोतसिका - २४६
विस्ताररुचि - २३४
वृत्तिभिक्षा - ५२३
वृत्तिसंक्षय योग
वृत्तिसंक्षेप तप - ९५
वृद्धानुग - ४५३
वेदनीय कर्म - ५८८
वेद्यसंवेद्यपद - १८३
वैयावच्च तप - ९५
व्यवहारदृष्टि - २७४
व्यवहारनय - २९१
व्यवहारराशी - २८
व्यवहार सम्यक्त्व - २२९
शठता - ४६
शत्रुवर्ग
शांत - ६६
शास्त्रयोग - ३२३
शिव
शिक्षाव्रत
शिष्टलोक - ९३
शुक्लध्यान - ५५०
शुद्धक्रिया - २७२
शुद्धज्ञान - २७१
शुद्धधर्म
शुद्धभाव - १३५
शुद्धि
शुश्रूषा - ३६०
शैलेषी अवस्था
शैलेषीकरण
शौच - १५७
श्रद्धा - ४१४
षट्कर्म - ४६८
श्राद्ध - ४३९
श्रावक - ४३९
षट्द्रव्यात्मलोक
संकल्प
संक्षेपरुचि - २३४
संज्वलन - ५९०
संज्ञा - ४९/१३३
संतोष - १५९
संप्रज्ञातयोग - ३५१
संयम - ५१६
संलीनता तप - ९५
संलेखना
संवर = कर्मो को आते रोकना
संवरभाव
संवेग - २४३/३६५
संशय - २६७
संशुद्ध - १३२
संस्थानविचय - ५२६
सकाममनिर्जरा -
सकृद्बंधक - ५६
सत्कथक - ४५१

सत्ता
सत्त्व
सत्त्वशुद्धि - १५९
सत्प्रतिप्रज्ञत्व - ८८
सत्य - १२४/५१६
सद्दृष्टि - ११७
सदाचार - ७८
सन्मार्ग - ३७
सबीजक्रिया = सानुबंध क्रिया
सपृथक्त्व ध्यान - ५
समता
समदृष्टि
समतायोग - ३१४
समाधि - ५५८
समिति - ५१९
समुचित योग्यता - १०९
सम्यग्ज्ञान - २६८
सम्यग्दर्शन - २२७
सयोगी - ५७५
सर्वथा
सर्वविरति - ५०१
सर्वसंपत्करीभिक्षा - ५२३
सहजक्षमा - ५१४
सहजभववैराग्य - १३०
सहजमल - २१३
सांयोगिकसुख - ३
सागरोपम
साध्य-साधनदाव - २७५
सानुबंधयोग
सापेक्ष - ५६६
सामर्थ्ययोग - ३२४/५६६
सामायिक - ४७५
सार = अभिलषित
साधक वस्तु
साश्रवयोग - ३२०
सास्वादन गुण स्थानक ३५७
सिद्धि आशय - ३३४
सिद्धियम - १२५
सिद्धियोग - ३५६
सुकृत्य
सुखा - ४३४
सुतर्क - १८५
सुदाक्षिण्य - ८०
सुदीर्धदर्शी - ४५२
सुपक्षयुक्त - ४५२
समुच्छिन्नक्रिया-अनिवृत्ति-५५३
सूक्ष्मबोध-१८०/४०४
सूक्ष्मक्रियाअनिवृत्ति - ५५४
सूक्ष्मसंपराय गुण
सूत्ररुचि -२३३
सोपाधिक = उपाधिवाला
सौमनस्य = मानसिक प्रीति - उपाधिवाला
स्थान योग - ३४३
स्थिरादृष्टि - ३९५
स्थैर्ययम - १२५
स्थैर्ययोग - ३४६
स्याद्वाद - ३९०
स्व = में
स्वकीय = अपना = मेरा
स्वभाव - २८
स्वरूप योग्यता - १०९
स्वरूपशुद्धानुष्ठान - ९०९
स्वाधीन = स्व को अधीन
स्वाध्याय तप - ९६
स्वारसिक - ९८
स्वारस्य - ९८
हिंसा - १२४
हिंसाप्रदान - ४५४
हेय = छोडने योग्य
हेयबुद्धि - १३२
ह्रास - १०३

सूचना : इस पुस्तक के लेखन में अनेक शास्त्रपाठो का आधार लिया गया है। अमुक स्थल पे प्रकरणान्त में टिप्पनक के स्वरुप में शास्त्रपाठ दिया गया है ।

विकासक्रम की सामान्य रूपरेखा

तारणहार श्री तीर्थंकर परमात्माओं ने भव्य जीवात्माओं के उद्धार के लिये धर्मतीर्थ की स्थापना की है। इनके सहारे अनंत आत्माएं स्वधाम मोक्ष में पहुंची हैं। आज भी पहुंच रही हैं और भविष्य में भी इनके आलंबन से मोक्ष में जाएंगी। हमारे प्रबल पुण्योदय से हमें इन धर्मतीर्थ की प्राप्ति हुई है। **भूतकाल में अनंत संसार में भटकने के बाद हम सब एक स्थान पर आकर खड़े हैं और आगे अनंत भविष्य है।** संप्राप्त स्थान पर कैसा जीवन जीते हैं, इसके आधार पर आगे के पड़ावों की सुरक्षा-असुरक्षा सुनिश्चित होती है। प्रभु की आज्ञानुसार जियेंगे तो आगामी स्थान सुरक्षित एवं उज्ज्वल बनेगा तथा प्रभु की आज्ञा की उपेक्षा करेंगे तो असुरक्षित और भयंकर-अंधकारमय बनेगा। प्रभु ने हमारा सच्चा स्थान मोक्ष बताया है। इसलिये वह हमारे लिये प्राप्तव्य (प्राप्त करने योग्य) है और तब तक जिस मार्ग से मोक्ष तक पहुंचते हैं, उस मोक्ष मार्ग पर चलना हमारा परम कर्तव्य है। मोक्ष प्राप्तव्य है। संसार त्याज्य है। मोक्ष मार्ग पर चलना कर्तव्य है और संसार मार्ग पर चलना अकर्तव्य है। **कर्तव्य की पगडंडी पर धीमी गति से किन्तु दृढ़ता से प्रगति करनी हो, तो इस पगडंडी के सभी पड़ावों (भूमिकाओं) का ज्ञान प्राप्त करना अत्यावश्यक है। प्रभु ने इसके चौदह पड़ाव बताये हैं। शास्त्रीय परिभाषा में इन्हें चौदह गुणस्थानक कहा जाता है।** योगदृष्टिसमुच्चयकार ने आठ चरणों में विकासक्रम दर्शाया है। इसे योग की आठ दृष्टियों का क्रम कहा जाता है। **प्रस्तुत पुस्तक में मुख्यतः चौदह गुणस्थानक एवं योग की आठ दृष्टि : इन दोनों के माध्यम से आत्मा के विकासक्रम को रेखांकित किया गया है।**

इस पुस्तक में २७ प्रकरण और ४ परिशिष्ट हैं। यहां गुणस्थानक के क्रमानुसार मोक्षमार्ग का निरूपण किया गया है तथा इसमें योग की आठ दृष्टियों को सम्मिलित किया गया है। अब प्रत्येक गुणस्थानक की सामान्य रूपरेखा पर नज़र डालते हैं।

➠ **प्रथम गुणस्थानक : मिथ्यात्व गुणस्थानक :**

मिथ्यात्व मंद पड़ने पर यह गुण संपन्न मिथ्यात्व गुणस्थानक प्राप्त होता है। **यहां**

से मोक्षमार्ग का प्रारम्भ होता है और जीवात्मा अपुनर्बंधक अवस्था प्राप्त करती है। यहां क्रमशः मार्गाभिमुख-मार्गपतित अवस्था प्राप्त होती है...**भावमल अत्यंत अल्प हो जाता है...योग पूर्वसेवा की प्राप्ति होती है...योगदृष्टि में प्रवेश होता है...**क्रमशः मित्रा, तारा, बला और दीप्रा इन चार दृष्टियों की प्राप्ति होती है...**योगपूर्वसेवा में मुक्ति अद्वेष गुण प्राप्त होता है और योगदृष्टि में प्रवेश करते ही मुक्ति का राग प्रकट होता है...**तथाभव्यत्व का परिपाक होने से मिथ्यात्व की कटुता की निवृत्ति से यह अवस्था प्राप्त होती है...चरम यथाप्रवृत्तिकरण के सामर्थ्य से ग्रंथि की पहचान होती है और ग्रंथि-भेदन का परिणाम-पुरुषार्थ प्रारम्भ होता है...**योगदृष्टि में विकास करते-करते क्रमशः तत्त्व अद्वेष, तत्त्व जिज्ञासा, तत्त्व शुश्रूषा एवं तत्त्व श्रवण गुण की प्राप्ति, खेद-उद्वेग-क्षेप-उत्थान दोष का नाश व यम, नियम, आसन, प्राणायाम योगांग की प्राप्ति होती है...**अवांतर विशिष्ट गुण-वैभव भी प्राप्त होता है...तात्त्विक बोध, निर्मल श्रद्धा, तात्त्विक विवेक, तात्त्विक वैराग्य की प्राप्ति होती है...साधक ३२ आदि कर्मों का सेवन करता है और मार्गानुसारिता के ३५ गुणों से सम्पन्न होता है।

➞ द्वितीय-तृतीय गुणस्थानक : सास्वादन-मिश्र गुणस्थानक :

सम्यकत्व का वमन करके जब तक (प्रथम) मिथ्यात्व गुणस्थानक प्राप्त नहीं होता है, तब बीच में सास्वादन गुणस्थानक का उत्कृष्ट से छह आवलिका समय मात्र स्पर्श होता है और तत्पश्चात् जीवात्मा मिथ्यात्व गुणस्थानक में पहुंचती है। मिश्र मोहनीय कर्म के दलिकों का उदय होने से अंतर्मुहूर्त के लिये मिश्र गुणस्थानक की प्राप्ति करती है।

➞ चतुर्थ गुणस्थानक : सम्यग्दर्शन गुणस्थानक :

चरम यथाप्रवृत्तिकरण से ग्रंथि की पहचान होती है। अपूर्वकरण से ग्रंथि भेदन होता है। अनिवृत्तिकरण से सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होती है तथा साधक चतुर्थ गुण-स्थानक में आता है। यहां मिथ्यात्व मोहनीय तथा अनंतानुबंधी कषायों का नाश (क्षयोपशम) होता है...**शुश्रूषा-धर्मराग व देवगुरु की वैयावच्च : इन तीन लिंगों से इस गुणस्थानक की पहचान होती है...**प्रशम-संवेग-निर्वेद-अनुकंपा एवं आस्तिक्य

: इन पांच लक्षणों से इस गुणस्थानक की प्रतीति होती है। यहां भाव धर्म की प्राप्ति होती है - **भावाज्ञा का शुभारम्भ होता है -** योग की पांचवीं **स्थिरा** और छठवीं **कांता दृष्टि** की प्राप्ति होती है...योगदृष्टि के विकास के रूप में सूक्ष्म बोध तथा तत्त्व मीमांसा गुण की प्राप्ति होती है। भ्रांति एवं अन्यमुद् दोष का नाश होता है। प्रत्याहार तथा धारणा नामक योगांग की प्राप्ति होती है...अलोलुपता आदि अवांतर गुण-वैभव प्राप्त होता है...**जगत का तात्त्विक दर्शन होता है...संसार के बाह्य पदार्थ मरीचिका की माया, गंधर्वनगर व स्वप्न जैसे लगते हैं...संसार की क्रियाएं बालचेष्टा जैसी लगती हैं...**

➞ पांचवां गुणस्थानक : देशविरति गुणस्थानक :

अप्रत्याख्यानीय कषाय का नाश (क्षयोपशम) होने से देशविरति का परिणाम प्राप्त होता है और साधक पांचवें देशविरति गुण स्थानक में आता है...**यहां साधक भावश्रावक बनता है।** यहां देशचारित्री के छह लिंग (मार्गानुसारिता, प्रवर श्रद्धा, प्रज्ञापनीयता, क्रिया में तत्परता, गुणानुरागी, शक्यारंभ) प्रकट होते हैं। **यहां अध्यवसाय-परिणामों की तारतम्यता के कारण इस गुणस्थानक में विभिन्न भूमिकाओंवाला श्रावकत्व होता है...इसलिये श्रावकों के जघन्य, मध्यम व श्रेष्ठ ये तीन प्रकार हो जाते हैं...**इस गुणस्थानक में तात्त्विक रूप से बारह व्रत (पांच अणुव्रत, तीन गुणव्रत व चार शिक्षाव्रत का) स्वीकार होते हैं...**श्रावक षट्कर्म** (देवपूजा, गुरुभक्ति, स्वाध्याय, संयम, तप व दान) **में रत होता है -** ग्यारह प्रतिमाओं का (अभिग्रह विशेष का) संवहन करता है...**श्रावक अक्षुद्रतादि २१ गुण व मार्गानुसारिता के ३५ गुणों से युक्त होता है...**श्रावक सात व्यसन तथा अनंतकाय भक्षण का त्यागी होता है...**श्रावक के क्रियागत छह व भावगत १७ लक्षण हैं...**श्रावक सर्वविरति (चारित्र) धर्म का तीव्राकांक्षी होता है...वह गृहवास को कारावास मानते हुए गृहस्थजीवन में रहता है और उससे मुक्त होने का अवसर खोजता रहता है...**विकसित अवस्था में योग की पांचवीं-छठवीं दृष्टि होती है...**इस गुणस्थानक से **पाप-अकरण नियम का** प्रारम्भ होता है...

➞ छठवां गुणस्थानक : सर्वविरति गुणस्थानक :

प्रमत्त संयत गुणस्थानक : प्रत्याख्यानीय कषाय का नाश (क्षयोपशम) होने पर

सर्वविरति का परिणाम प्राप्त होता है और साधक छठवें गुणस्थानक को प्राप्त करता है...**यहां भाव से पांच महाव्रत और छठवें रात्रिभोजनविरमण व्रत की प्राप्ति होती है...**यहां सर्वचारित्री के मार्गानुसारिता आदि छह लिंग प्रकट होते हैं...भावसाधु के मार्गानुसारिता आदि छह तथा गुरु परतंत्रता, ये सात लिंग भी दर्शाए गये हैं...**भावसाधु अष्ट प्रवचनमाता (पांच समिति-तीन गुप्ति) के सान्निध्य में रहते हैं...**चरण सित्तरी व करण सित्तरी के पालन में उद्यमशील बनते हैं...**उनकी योग की पांचवीं-छठवीं दृष्टि अत्यंत विकसित होती है तथा इस गुणस्थानक के अध्यवसाय विशुद्ध बनने पर योग की सातवीं प्रभा दृष्टि प्राप्त होती है...**पाप नहीं करने का नियम और परिणामदायी बनता है...

→ सप्तम गुणस्थानक : अप्रमत्त गुणस्थानक :

छठवें गुणस्थानक में संज्वलन कषाय का तीव्र उदय प्रवर्तमान था और इसके कारण प्रमाद विद्यमान था, इस संज्वलन कषाय का उदय अत्यंत मंद होने पर अप्रमत्त दशा प्राप्त होती है और साधक सप्तम गुणस्थानक को प्राप्त करता है...**यहां धर्मध्यान की प्राप्ति होती है...**मन की निर्विकल्प दशा प्राप्त होती है...**योग की सातवीं प्रभा दृष्टि प्राप्त होती है और आठवीं परा दृष्टि की भूमिका सृजित होती है...**सुख-दुःख, संसार-मोक्ष की सम दृष्टि प्राप्त होती है...**गौण रूप से आंशिक शुक्लध्यान की भी प्राप्ति होती है...**

→ आठ से बारहवां गुणस्थानक : क्षपक श्रेणी : उपशम श्रेणी :

सप्तम गुणस्थानक में प्राप्त हुई अप्रमत्त दशा अंतर्मुहूर्त्त से अधिक समय तक टिकती है तो मुनि भगवंत अष्टम अपूर्वकरण गुणस्थानक में आरूढ़ होते हैं। अष्टम गुणस्थानक से क्षपक श्रेणी अथवा उपशम श्रेणी प्रारम्भ होती है। क्षपक श्रेणी प्रारम्भ करनेवाले योगी दसवें गुणस्थानक से सीधे बारहवें गुणस्थानक में पहुंचते हैं तथा उपशम श्रेणी प्रारम्भ करनेवाले योगी दसवें गुणस्थानक से ग्यारहवें गुणस्थानक में पहुंचकर वहां से वापस आते हैं - पतित होते हैं। क्षपक श्रेणी वाले योगी घनघाती कर्मों का क्षय करके सर्वज्ञ-वीतराग बनते हैं। **अष्टम गुणस्थानक से प्रातिभ ज्ञान से युक्त सामर्थ्य योग की प्राप्ति होती है और धर्मसंन्यास योग की**

प्राप्ति होती है।

➞ तेरहवां गुणस्थानक : सयोगी केवली गुणस्थानक :

क्षपकश्रेणी वाले योगी घाति कर्मों का सर्वथा क्षय करके केवली (केवलज्ञानी) बनते हैं, तब इस सयोगी केवली गुणस्थानक में आते हैं। इस गुणस्थानक में रहकर वे भव्य जीवात्माओं को धर्मदेशना देकर उनका उद्धार करते हैं। **केवली भगवंत दो प्रकार के होते हैं। एक तीर्थंकर केवली भगवंत तथा दूसरे सामान्य (जिन) केवली भगवंत।** इस गुणस्थानक का अंतर्मुहूर्त्त का काल शेष रहे तब केवली भगवंत आयोजिकाकरण, केवली समुद्घात एवं योगनिरोध करते हैं। शुक्लध्यान के तृतीय स्तंभ का ध्यान करते हैं।

➞ चौदहवां गुणस्थानक : अयोगी केवली गुणस्थानक :

इस गुणस्थानक का काल पंच हस्वाक्षर के उच्चारण काल जितना होता है। **इस गुणस्थानक में अबंधकता, सर्वसंवरभाव, शैलेषी अवस्था एवं शुक्लध्यान का चतुर्थ स्तंभ - इन चार भावों की प्राप्ति होती है।** शैलेषी अवस्था में 'योग संन्यास' नामक द्वितीय सामर्थ्य योग प्राप्त होता है। यहां सत्ता में रहनेवाली ८५ प्रकृतियों का क्षय करते हैं। भवोपग्राही चार अघाती कर्मों का नाश करते हैं और योगी उर्ध्व गति में सिद्धशिला पर सादि अनंतकाल तक निवास करते हैं अर्थात् मोक्ष स्थान प्राप्त करते हैं। **इस प्रकार प्रथम गुणस्थानक से प्रारम्भ की गई मोक्षयात्रा पूर्ण होती है और आत्मा स्व में लीन होकर स्वतंत्ररूपसे अनंतकाल तक अनंतसुख का भोग करती है।**

➞ योग की आठ दृष्टियां :

पू. आ. भ. श्री **हरिभद्रसूरीश्वरजी** महाराजा ने **योगदृष्टिसमुच्चय ग्रंथ में** गुणस्थानकों के अंतर्गत आठ योग की दृष्टि के माध्यम से विशिष्ट शैली में आत्मा के विकासक्रम का वर्णन किया है। यहां इसे भी अलग-अलग स्थानों पर समाविष्ट किया गया है। प्रथम गुणस्थानक के वर्णन में प्रथम चार दृष्टियों का वर्णन किया है। चतुर्थ गुणस्थानक के वर्णन में पांचवीं-छठवीं दृष्टि का वर्णन किया है और छठवें गुणस्थानक के वर्णन में सप्तम दृष्टि तथा सप्तम गुणस्थानक

के वर्णन में अष्टम दृष्टि का वर्णन किया है। बोध, गुण प्राप्ति, दोषों का नाश तथा योगांग की प्राप्ति और अवांतर गुण-वैभव : इन माध्यमों से निरूपण किया गया है। अलग-अलग स्थानों पर ही विशेष स्पष्टताएं भी की गई हैं।

➞ आत्मविकास में एकमात्र शुद्धधर्म का साथ :

उपरोक्त क्रमानुसार जिसे आत्मविकास करना हो उसके लिये शुद्धधर्म को प्राप्त करना अत्यावश्यक है। शुद्ध धर्म कहें अथवा अनुबंध शुद्ध अनुष्ठान[A] कहें, दोनों एक ही हैं। अनुबंध शुद्ध अनुष्ठान की प्राप्ति के लिये

(१) ग्रंथि भेदन करके सम्यग्दर्शन प्राप्त करना आवश्यक है।

(२) स्वकृति साध्यत्वादि का निर्णय करना आवश्यक है अर्थात् (i) मैं जिस अनुष्ठान को अपनाना चाहता हूं, वह अनुष्ठान मेरे लिये साध्य है या नहीं? स्वयं प्रयत्न करके इसका निर्णय करना चाहिये। (क्योंकि असंभव अनुष्ठान में प्रवृत्त होना अंततः क्लेशकारक होता है।) (ii) अपने प्रयत्नों से जिस अनुष्ठान की साधना कर रहे हैं वह अनुष्ठान मेरे इष्ट (अर्थात् मोक्ष और दोषों के नाश) का साधन है की नहीं? इसका भी निर्णय करना चाहिये और (iii) मेरे प्रयासों से साध्य तथा इष्ट का साधन अनुष्ठान भविष्य में प्रबल अनिष्ट का अननुबंधी है या निर्बंधी है? इसका भी निर्णय करना चाहिये। (बलवान अनिष्ट का अननुबंधी अनुष्ठान ही उपादेय है।)

(३) **इसके बाद आत्मप्रत्यय, गुरुप्रत्यय व लिंगप्रत्यय की शुद्धि होनी चाहिये।** अर्थात् श्रेष्ठ अनुष्ठान को अपनाने की अभिलाषा होनी चाहिये और गुरु भगवंत की वह अनुष्ठान अपनाने की आज्ञा होनी चाहिये। अनुष्ठान के पालन में शुभ संकेत मिलने चाहिये। आंतरिक भावोल्लास प्रकट होना चाहिये। इसके अलावा

(४) अनुष्ठान करनेवाला शास्त्राधीन होना चाहिये। अनुष्ठान करने का आशय तथा विधि शास्त्रानुसार ही होने चाहिये। तथापि

A योगग्रंथो में अनुष्ठान के तीन प्रकार दिखलाए है । (१) विषय शुद्ध अनुष्ठान (२) स्वरुप शुद्ध अनुष्ठान और (३) अनुबंधशुद्ध अनुष्ठानः इन तीनो के स्वरुप - की विचारणा परिशिष्ट - ३ में की गइ है ।

(५) गुरु-लाघव का विचार करके ही अनुष्ठान में प्रवृत्त होना चाहिये अर्थात् मुझे कैसे कम श्रम से अधिक लाभ प्राप्त हो और कैसे गुण वृद्धि हो और दोषों का नाश हो, इत्यादि गुरु-लाघव का विचार करना चाहिये।

(६) हेयोपादेय तत्त्वों का यथार्थ बोध और उनका यथार्थ संवेदन होना चाहिये। जिस अनुष्ठान में इतनी शर्तों का पालन हो, वह अनुष्ठान अनुबंध शुद्ध होता है। यह तो सामान्य दिशा दिखाई है, विशेष विवरण संपूर्ण पुस्तक पढ़ने से प्राप्त होगा।

➠ **मोक्ष साधना में शास्त्राधीनता मूलभूत गुण है :**

मोक्षमार्ग पर पदार्पण करनेवाली मार्गानुसारी जीवात्मा सर्वप्रथम शास्त्राधीन होती है। परलोक संबंधी किसी भी कार्य में एक मात्र शास्त्र की ही अपेक्षा रखती है। योगबिंदु ग्रंथ में कहा गया है कि,

परलोकविधौ शास्त्रात्, प्रायो नान्यदपेक्षते ।
आसन्नभव्यो मतिमान् श्रद्धाधनसमन्वितः ।।२२१।।

- श्रद्धा रूपी धन से युक्त, मार्गानुसारी प्रज्ञावाली, आसन्नभविक आत्मा परलोक संबंधी किसी भी कार्य में शास्त्र के अतिरिक्त किसी अन्य की अपेक्षा नहीं रखती है, **एकमात्र शास्त्र की ही अपेक्षा रखती है।**

शास्त्र पापरूपी व्याधि का नाश करने के लिये औषधि समान है, पुण्य (पवित्रकार्य) का **निबंधन (कारण) है, सभी सूक्ष्म-बादर पदार्थों तक पहुंचनेवाली आंख है और** सभी **प्रयोजनों की निष्पत्ति का कारण** [A]**है...** ऐसे परम तारक शास्त्रों पर जिसे श्रद्धा नहीं है, वास्तव में मोह से उसकी मति का हनन कर लेता है और ऐसी जीवात्मा की समस्त धार्मिक क्रियाएं अंध व्यक्ति की देखने की क्रिया समान असत्फल प्रदान करनेवाली होती है।[B]

A **पापमयौषधं शास्त्रं, शास्त्रं पुण्यनिबन्धनम् ।**
चक्षुः सर्वत्रगं शास्त्रं, शास्त्रं सर्वार्थसाधनम् ।। २२५ ।।

B **न यस्य** भक्तिरेतस्मिंस्तस्य धर्मक्रियापि हि ।
अन्धप्रेक्षाक्रियातुल्या, कर्मदोषादसत्फला ।। ३२६ ।। (योगबिन्दुः)

इसलिये धर्मार्थी जीवात्मा को प्रत्येक कार्य में शास्त्र का ही सन्मान करना चाहिये। क्योंकि, मोह के अंधकार में फंसे इस जगत में शास्त्र ही एकमात्र प्रकाश हैं और वे ही परलोक की विधि में प्रवर्तक हैं।[C] **ज्ञानसार नामक ग्रंथ में पू. महोपाध्याय श्री यशोविजयजी महाराजा ने भी इसी बात पर बल देते हुए कहा है कि,** प्रत्येक कार्य में शास्त्र को आगे रखने से परिणामतः श्री तीर्थंकर परमात्मा को ही आगे रखा जाता है और श्री तीर्थंकर परमात्मा को आगे रखने से सभी प्रकार की सिद्धियां प्राप्त होती हैं।[D] **इसलिये प्रत्येक धर्मार्थी जीवात्मा को शास्त्र का सन्मान करना ही चाहिये।**

शास्त्र वीतराग परमात्मा के वचनों का ऐसा समूह स्वरूप हैं जो हमारी आत्मा को अनुशासित करते हैं और हमारी आत्मा की रक्षा करते हैं अर्थात् आत्मा के हित-अहित पर प्रकाश डालते हैं और हित में प्रवृत्त होने का तथा अहित से बचने का मार्ग दर्शाते हैं। साथ ही संसार-दोष-मोह से आत्मा को बचाने का उपाय बताते हैं। वीतराग-सर्वज्ञ परमात्मा का वचन ही शास्त्र है। अवीतराग-असर्वज्ञ संसारी देवों का वचन शास्त्र नहीं है।[E]

इस प्रकार प्रत्येक आत्मार्थी जीवात्मा को शुद्ध धर्म की प्राप्ति के लिये शास्त्राधीन बनना चाहिये। विधि-निषेध का कोई भी निर्णय शास्त्राधारित ही करना चाहिये। सैद्धांतिक विषयों का निर्णय, हेयोपादेय तत्त्वों का निर्णय, जगत की स्थिति संबंधी निर्णय, कार्य-कारणभाव की व्यवस्था संबंधी निर्णय, उत्सर्ग-अपवाद का निर्णय, सन्मार्ग-उन्मार्ग का निर्णय, व्यवहार-निश्चय तथा क्रिया-ज्ञान से संयुक्त योगमार्ग का निर्णय, प्रत्येक सूक्ष्म तत्त्व का निर्णय, आत्म

C तस्मात्सदैव धर्मार्थी शास्त्रयत्नः प्रशस्यते ।
लोके मोहान्धकारेऽस्मिन् शास्त्रालोकः प्रवर्तकः ।। २२८ ।।

D-E शास्त्रे पुरस्कृते तस्माद्, वीतरागः पुरस्कृतः ।
पुरस्कृते पुनस्तस्मिन्, नियमात् सर्वसिद्धयः ।। ८ ।।
शासनात् त्राणशक्तेश्च, बुधैः शास्त्रं निरुच्यते ।
वचनं वीतरागस्य, तत्तु नान्यस्य कस्यचित् ।। ५ ।। (ज्ञानसार - २८)

विकास के प्रारम्भ-प्रगति-पूर्णता का निर्णय आदि सभी परलोक संबंधी विषयों का निर्णय शास्त्र से ही करने का आग्रह रखना चाहिये। जैसे अंध व्यक्ति किसी के सहारे ही चल सकता है, वैसे ही छद्मस्थ जीवात्मा कि जिसका ज्ञानचक्षु पूर्णतः नहीं खुले हैं, वे छद्मस्थ जीवात्माएं भी शास्त्र के सहारे ही मोक्षमार्ग पर चल सकती हैं। **इसीलिये शास्त्र का सन्मान करना अत्यावश्यक है।**

➠ **विविध प्रकार का योग मार्ग :**

योग-अध्यात्म के ग्रंथों में ज्ञानी भगवंतों ने विविध प्रकार से योगमार्ग को दर्शाया है। योग ग्रंथों में व्यवहार-निश्चय नय से योगमार्ग के प्रारम्भ-विकास-पूर्णता की रूपरेखा भी दर्शाई है। **"व्यवहार-निश्चय से योग मार्ग"** नामक एक प्रकरण में इन सभी का समावेश किया गया है।

➠ **ज्ञान-क्रिया से मोक्ष :**

सम्यग्ज्ञान व सम्यक् क्रिया (सत् क्रिया) के शुभ मिलन से ही मोक्ष की प्राप्ति होती है, यह बात मोक्ष मार्ग के प्रथम पावदान से ही हृदय में अंकित कर लेनी चाहिये। मात्र ज्ञान अथवा मात्र क्रिया को ही मोक्ष का कारण मानना मिथ्यात्व है। ज्ञान, क्रिया बिना नहीं रह सकता है और क्रिया ज्ञान के बिना जीवंत-वेगवान नहीं बन सकती है। इस विषय की अनेक शंकाओं-समाधानों तथा विविध स्पष्टताओं-उदाहरणों सहित इस विषय का स्पष्टीकरण करने के लिये एक स्वतंत्र प्रकरण बनाया है।

➠ **योगमार्ग-मोक्षमार्ग का अधिकारी :**

योगदृष्टि समुच्चय ग्रंथ में चार प्रकार के योगी दर्शाये गये हैं। (१) गोत्रयोगी, (२) कुलयोगी, (३) प्रवृत्तचक्रयोगी तथा (४) निष्पन्नयोगी। इन चार में से गोत्रयोगी योगमार्ग के अधिकारी नहीं हैं। **कुलयोगी तथा प्रवृत्तचक्रयोगी ही योग मार्ग के अधिकारी हैं।** योगमार्ग को पूर्ण करने से निष्पन्नयोगियों को योगमार्ग की अभिलाषा नहीं रहती है। इसलिये अधिकारी प्रकरण में उनकी चर्चा नहीं की गई है। चारों योगियों का स्वरूप परिशिष्ट-४ में दिया गया है।

विशेष...यहां मोक्ष मार्ग संबंधी अनेक विषयों की चर्चा की गई है। पूर्व

महर्षियों के ग्रंथों में विविध विषयों की विस्तार से चर्चा की गई है। इन सभी बातों को एक स्थान पर रखने में अनेक मर्यादाएं अवरोधक बनती हैं। इसके बावजूद अधिकांश विषयों को यहां सम्मिलित किया गया है। किसी स्थान पर मात्र दिशा निर्देश देकर ही रुक जाना पड़ा है। इसलिये विशेष जिज्ञासुओं से अनुरोध है कि वे निर्दिष्ट दिशा निर्देशों के अनुसार अन्य ग्रंथों-माध्यमों से उन विषयों की विस्तृत माहिती प्राप्त कर लें। - **जिन पाठकों को योग की आठ दृष्टियों का ज्ञान प्राप्त करना है, उनसे भी अनुरोध है कि वे विषय अनुक्रमणिका में देखकर उन विषयों को खोज लें।** - यहां विविध प्रकार के अनुष्ठानों का स्वरूप दर्शाया गया है, वह भी विषय अनुक्रमणिका के माध्यम से खोजकर उपयोग करने का अनुरोध है।

- **टिप्पणक :** इस पुस्तक में अनेक ग्रंथों के आधार पर विकासक्रम रेखांकित किया गया है। शास्त्रपाठों को कहीं रनिंग मेटर में रखा है, तो कहीं टिप्पणक क्रम देकर चेप्टर के अंत में दिया है। - **जब पुस्तक स्वयं बोलती हो तो उसकी विषय व्यवस्था की विशेष चर्चा करने की आवश्यकता नहीं रहती है। विषय अनुक्रमणिका का उपयोग करने से विषयों की जानकारी प्राप्त हो जाएगी।** - यह प्रकाशन हर स्तर के आराधकों के लिये उपयोगी है। प्रत्येक आराधक को अपनी भूमिका का अनुमान लगाकर आगे की भूमिका प्राप्त करने के लिये पुरुषार्थ करना है और द्रव्य से प्राप्त भूमिका (व्रत-क्रिया-धर्म) को भाव से प्राप्त करने का पुरुषार्थ करना है। स्व भूमिका में रही क्षतियों-त्रुटियों का निराकरण करने के लिये आंतरिक पुरुषार्थ भी प्रकट करना है। **इस जन्म में ऐसा प्रणिधान करना है कि किसी भी प्रकार से मोक्ष मार्ग में आंतरिक पुरुषार्थ प्रकट करके मोक्ष की ओर अधिक से अधिक यात्रा तय कर लेनी है। इस विषय में सभी आराधक परमकृपालु प्रभु की कृपा से सफल हों, यही शुभाभिलाषा।**

संक्षिप्त विषयानुक्रम

भाग १	विषय	पृ.नं.
→ प्रकरण -१ :	सच्चा सुख कहां है?	- १
→ प्रकरण -२ :	निगोद से निष्क्रमण	- २४
→ प्रकरण -३ :	आत्मा के विकास में पांच कारणो की भूमिका	- २७
→ प्रकरण -४ :	अचरमावर्तकाल - चरमावर्तकाल	- ३६
→ प्रकरण -५ :	अपुनर्बंधक अवस्था - प्रथम गुणस्थानक	- ५६
→ प्रकरण -६ :	अपुनर्बंधक आत्मा का योगदृष्टि में प्रवेश	- १०८
→ प्रकरण -६/१ :	प्रथम योगदृष्टि : मित्रादृष्टि	- १२०
→ प्रकरण -६/२ :	द्वितीय तारादृष्टि	- १५२
→ प्रकरण -६/३ :	तृतीय बलादृष्टि	- १६५
→ प्रकरण -६/४ :	चौथी दीप्रादृष्टि	- १७३
→ प्रकरण -७ :	अपुनर्बंधक अवस्था में ३२ आदि कर्मो के सेवन	- १९५
→ प्रकरण -८ :	सम्यग्दर्शन प्राप्ति की प्रक्रिया	- २०४
→ प्रकरण -९ :	ज्ञान-क्रिया से मोक्ष	- २६७

	भाग - २	
→ प्रकरण -१० :	व्यवहार - निश्चय से योगमार्ग	- २९०
→ प्रकरण -११ :	द्वितीय सास्वादन गुणस्थानक	- ३५७
→ प्रकरण -१२ :	तृतीय मिश्र गुणस्थानक	- ३५८
→ प्रकरण -१३ :	चतुर्थ (सम्यग्दर्शन) गुणस्थानक	- ३५९
→ प्रकरण -१४ :	सद्दृष्टियों में प्रवेश पांचवी स्थिरादृष्टि	- ३९५
→ प्रकरण -१४/१ :	छठवी कांतादृष्टि	- ४२१

भाग १	विषय	पृ.नं.
→ प्रकरण -१५ :	पांचवां (देशविरति) गुणस्थानक	- ४३६
→ प्रकरण -१६ :	छठवां (सर्वविरति) गुणस्थानक	- ५०१
→ प्रकरण -१७ :	सातवां (अप्रमत्त) गुणस्थानक	- ५४३
→ प्रकरण -१७/१:	आठवीं परादृष्टि	- ५५७
→ प्रकरण -१८ :	गुणस्थानक आठ से बारहःक्षपकश्रेणी-उपशमश्रेणी	- ५६५
→ प्रकरण -१९ :	तेरहवां (सयोगी केवली) गुणस्थानक	- ५७४
→ प्रकरण -२० :	चौदहवां (अयोगी केवली) गुणस्थानक	- ५८१
→ परिशिष्ट -१ :	गुणस्थानक व कर्मो के उदयादि	- ५८७
→ परिशिष्ट -२ :	बीजादि क्रम से विकासक्रम	- ६०४
→ परिशिष्ट -३ :	शुद्ध अनुष्ठान के तीन प्रकार	- ६०७
→ परिशिष्ट -४ :	योग मार्ग के अधिकारी कौन ?	- ६११

विस्तृत विषयानुक्रम भाग - १

क्रम	विषय	पृष्ठ संख्या

भाग - १

१. प्रकरण - १ : सच्चा सुख कहां है?१

→ सांयोगिक सुखों की भयंकरता-३

→ असांयोगिक सुखों की रमणीयता- १९

→ मोक्ष मार्ग की सामान्य रूपरेखा-२२

प्रकरण - २ : निगोद से निष्क्रमण-२४

प्रकरण - ३ : आत्मा के विकास में पांच कारणों की भूमिका - -२७

- स्वभाव -२८
- भवितव्यता -२९
- काल -२९
- कर्म -३०
- पुरुषार्थ -३०

प्रकरण - ४ : अचरमावर्त काल-चरमावर्त काल - ३६

→ - भवाभिनंदी - ३७

→ - भवाभिनंदित्व के लक्षण - ४१

- क्षुद्रता-लाभरति -४२
- दीनता -४३
- मात्सर्य -४४
- भय - ४५
- शठता- - ४६
- अज्ञता-निष्फलारंभी - ४७

→ - भवाभिनंदी का धर्म -४९

→ - भवाभिनंदित्व का नाश कब और कैसे होता है ? -५१

→ **- मोक्ष मार्ग में अवरोधक भावमल-५१**

→ - चरमावर्त काल -५३

प्रकरण - ५ : अपुनर्बंधक अवस्था:-५६

- प्रथम गुण स्थानक

- अपुनर्बंधक अवस्था -६०

→ - अपुनर्बंधक के लिंग -६३

- तीव्र भाव से पाप न करे -६४
- संसार के प्रति सन्मान भाव न रखे -६४
- सर्वत्र उचित स्थिति रखे - ६४

→ अपुनर्बंधक में अपूर्व आलोचन प्रकट होता है -६५

→ अपुनर्बंधक का लिंग-आज्ञा प्रियत्व -६८

→ मार्ग-मार्गाभिमुख-मार्गपतित -७०

→ योग पूर्वसेवा -७२

→ **प्रथम पूर्वसेवा : गुरुदेवादि पूजन-७३**

- चारि संजीविनी न्याय -७५

→ **द्वितीय पूर्वसेवा : सदाचार -७८**

→ **तृतीय पूर्वसेवा : तप -९४**

- तप का स्वरूप -९४
- तीन शल्य से रहित तप -९६

→ **चतुर्थ पूर्वसेवा : मुक्ति का अद्वेष-९७**

→ मुक्ति-अद्वेष गुण श्रेयश्रेणी -९९

→ मुक्ति-अद्वेष की प्रधानता -९९

→ **मुक्ति-अद्वेष के लाभ -१०१**

प्रकरण - ६ : अपुनर्बंधक आत्मा का योगदृष्टि में प्रवेश -१०८

→ ओघ दृष्टि-योग दृष्टि -११३

→ योग दृष्टियां कितनी हैं ? -११७

प्रकरण - ६/१ : प्रथम योग दृष्टिः मित्रा दृष्टि -१२०

- मित्रा दृष्टि का **बोध** -१२०
- योग का प्रथम अंग **यम-१२४**
- **खेद दोष** का नाश -१२५
- **तत्त्व-अद्वेष** गुण की प्राप्ति -१२७
- अदेवकार्यादि में **अद्वेष -१२८**

→ **पांच योगबीजों का स्वीकार -१३०**

- प्रथम योगबीज : **श्री जिनेश्वरों के विषय में विशुद्ध कुशल मन -१३१**
- द्वितीय योगबीज : **भावाचार्यादि की विशुद्ध वैयावच्च -१४०**
- तृतीय योगबीज : **सहज भव वैराग्य -१४१**
- चतुर्थ योगबीज : **द्रव्याभिग्रहों का पालन -१४२**
- पंचम योगबीज : **विधिपूर्वक शास्त्रों का लेखनादि -१४२**

→ प्रथमदृष्टि का उपसंहार -१४७

प्रकरण - ६/२: द्वितीय तारा दृष्टि

- तारा दृष्टि में बोध -१५२
- उद्वेग दोष का नाश -१५४
- तत्त्वजिज्ञासा गुण की प्राप्ति -१५५
- द्वितीय योगांग **नियम** की प्राप्ति-१५७
- पांच नियमों का स्वरूप -१५७

→ तारा दृष्टि में प्राप्त होनेवाले अन्य गुण -१६०

प्रकरण - ६/३: तीसरी बला दृष्टि

- बला दृष्टि का **बोध** -१६५
- योगांग **आसन** की प्राप्ति-१६७
- **तत्त्वशुश्रूषा** गुण की प्राप्ति-१६८
- **क्षेप** दोष का नाश -१७०

प्रकरण - ६/४: चौथी दीप्रा दृष्टि

- दीप्रा दृष्टि का बोध -१७३
- योगांग **'प्राणायाम'** की प्राप्ति-१७५
- **तत्त्वश्रवण** गुण की प्राप्ति-१७८
- **उत्थान** दोष का नाश -१७९
- सूक्ष्मबोध का अभाव क्यों ?-१८०
- बोध की सूक्ष्मता -१८१
- अवेद्यसंवेद्य पद -१८३
- वेद्य-संवेद्यपद -१८३
- अपाय दर्शन -१८५
- अवेद्य संवेद्य पद जीतना आवश्यक है -१८६
- कुतर्क की भयंकरता -१८९

प्रकरण - ७ : अपुनर्बंधक अवस्था में ३२ आदि कर्मों का सेवन -१९५

→ प्रथम गुणस्थानक का उपसंहार

प्रकरण - ८ : सम्यग्दर्शन प्राप्ति की प्रक्रिया -२०४

→ ग्रंथि किसे कहा जाता है ?-२०५

→ ग्रंथि देश किसे कहा जाता है?-२०८

→ जीवात्मा ग्रंथि देश में कैसे आता है ? -२०८

→ ग्रंथि की पहचान कब और कैसे होती है? -२११

→ ग्रंथि भेद कौन कर सकता है ?-२१७

→ अपूर्वकरण अर्थात् क्या ?-२१८

→ अनिवृत्तिकरण अर्थात् क्या ?-२२०

→ ग्रंथि भेद के बाद की विशेष प्रक्रिया -२२१

→ कार्मग्रंथिक अभिप्राय -२२१

→ सैद्धांतिक अभिप्राय -२२३

→ सम्यग्दर्शन प्राप्ति के पुरुषार्थ की कठिनाई -२२५

→ **सम्यक्त्व के विविध प्रकार-२२६**

→ पांचों सम्यक्त्व के काल -२३२

→ कौन-से गुणस्थानक में कौन-सा सम्यक्त्व -२३३

→ सम्यक्त्व के दस प्रकार -२३३

→ **विविध विषयों की प्रश्नोत्तरी-२३४**

→ सम्यक्त्व के लक्षण -२४१

→ मिथ्यात्व के विविध प्रकार-२४७

→ **सम्यक्त्व के सड़सठ आचार (बोल) -२५२**

प्रकरण - ९ : ज्ञान-क्रिया से मोक्ष -२६७

→ ज्ञान-क्रिया का स्वरूप -२६८

→ शुद्ध ज्ञान -२७०

→ शुद्ध क्रिया -२७२

→ द्रव्य क्रिया-भाव क्रिया -२७३

→ मोक्ष साधना का क्रम -२७३

→ निश्चय नयवादियों के मिथ्या दलीलें -२७९

→ मिथ्या दलीलों का प्रत्युत्तर -२८०

→ शुभ भावों का संरक्षण करने के सात उपाय -२८३

→ अनुष्ठान (क्रिया) शुद्धि -२८५

- विष अनुष्ठान -२८५
- गरल अनुष्ठान -२८६
- अननुष्ठान -२८६
- तद्हेतु अनुष्ठान -२८६
- अमृत अनुष्ठान -२८७

योग की आठ दृष्टि

योगदृष्टि	बोध का नाम	दोषनाश	गुणप्राप्ति	योगांग	गुणस्थानक
मित्रा	तिनके की चिनगारी समान	खेद	तत्त्व-अद्वेष	यम	प्रथम-मंद मिथ्यात्व अवस्था में
तारा	गोमय की अग्नि चिनगारी समान	उद्वेग	तत्त्व जिज्ञासा	नियम	,,
बला	काष्ठाग्नि के चिनगारी समान	क्षेप	तत्त्व-शुश्रूषा	आसन	,,
दीप्रा	दीपक की प्रभा समान	उत्थान	तत्त्वश्रवण	प्राणायाम	,,
स्थिरा	रत्न की प्रभा समान	भ्रान्ति	सूक्ष्मबोध	प्रत्याहार	४-५-६
कान्ता	तारा की प्रभा समान	अन्यमुद्	तत्त्वमीमांसा	धारणा	४-५-६
प्रभा	सूर्य की प्रभा समान	रुग्-रोग	तत्त्व-प्रतिपत्ति	ध्यान	६-७
परा	चन्द्र की	आसंग	तत्त्वप्रवृत्ति	समाधि	७-८ से १२

दृष्टि	पेज नं.	दृष्टि	पेज नं.
१) मित्रा	१२०-१५१	५) स्थिरा	३९५
२) तारा	१५२-१६४	६) कान्ता	४२१
३) बला	१६५-१७२	७) प्रभा	५३४
४) दीप्रा	१७३-१९४	८) परा	५५७
नोंध : पूर्वनिर्दिष्ट पृष्ठांक से मित्रादि दृष्टियां का वर्णन मिलेगा			

प्रकरण - १ : सच्चा सुख कहां है ?

जगत के सभी प्राणी सुख की प्राप्ति और दुःख से मुक्ति के लिये निरंतर प्रयत्नशील हैं। यद्यपि प्रत्येक प्राणी का ये मनोरथ पूर्ण नहीं होता है। क्योंकि उसे सुख प्राप्ति एवं दुःख मुक्ति के सच्चे मार्ग का बोध नहीं होता है।

जगत में अनादिकाल से दो धाराएं प्रवाहित हैं। एक धारा में जगत के प्राणी परपदार्थों और व्यक्तियों के संयोग में सुख की खोज कर रहे हैं। दूसरी धारा में प्राणी आत्मा से प्राप्त होनेवाले असांयोगिक सुख की खोज कर रहे हैं। प्राणी जिस प्रकार के स्थाई और दुःख रहित सुख की इच्छा करता है, वह सुख है कहां और कैसे प्राप्त हो सकता है? इसका संदेश परम तारक तीर्थंकरों ने जगत को दिया है। अनंतकाल से परम तारक तीर्थंकर उद्घोषणा कर रहे हैं कि सुख आत्मा में है, परायों के संयोग में नहीं।

आत्मा में व्याप्त सुख को प्रकट करने के लिये रत्नत्रयी की साधना परम आवश्यक है। जब तक आत्मा कर्मादि के बंधनों में जकड़ी है, तब तक आत्मा का अनंत सुख प्रकट नहीं हो सकता। इन बंधनों को भस्मीभूत करने के लिये रत्नत्रयी रूपी अग्नि की परम आवश्यकता है। जिन साधकों ने रत्नत्रयी की देदीप्यमान साधना करके कर्मादि बंधनों को भस्मीभूत कर दिया, वे आत्मा के अनंत सुख का आनंद प्राप्त कर रहे हैं। जबकि बंधनों में जकड़ी हुई आत्माएं जन्म-मृत्यु की परम्पराओं में पड़कर अनेक प्रकार की शारीरिक-मानसिक यातनाएं भोग रही हैं।

परम तारक तीर्थंकर परमात्मा की उद्घोषणा को जीवन में तब ही आत्मसात् किया जा सकता है, जबकि परमात्मा ने आत्मीय सुखों (असांयोगिक सुखों) की रमणीयता और पौद्गलिक सुखों (सांयोगिक सुखों) की भयंकरता जिस रूप में

समझाई है, उसी रूप में हम उसे समझें।

यदि सांयोगिक सुखों की भयंकरता ज्ञात हो जाए, तो उसका आकर्षण, उससे प्रीति और उसमें आसक्ति भंग हो जाए और असांयोगिक सुखों की रमणीयता की पहचान हो जाए तो उसका आकर्षण, प्रीति और आकांक्षा उत्पन्न हुए बिना नहीं रहेगी। असांयोगिक सुखों के परम सुखमयता का बोध हो जाए तो उसके प्रति लालसा जागेगी और उसे प्राप्त करने के लिये जीवन में यथार्थ पुरुषार्थ प्रारम्भ हो सकेगा।

ज्ञानीजन कहते हैं कि, प्राणीमात्र ने अनंतबार संसार का त्याग करके रत्नत्रयी की आराधना की है। इसके उपरांत भी उसका संसार से निस्तार नहीं हुआ। क्योंकि, जिससे मुक्त होना है, उन सांयोगिक सुखों के प्रति उसकी प्रीति और आसक्ति उसके हृदय में अखंड रूप से बरकरार रही। प्रवृत्ति से इन सुखों को दूर करने के उपरांत भी हृदय में उनके प्रति अखंड प्रेमधारा बहती रही, इसीलिये सांयोगिक सुखों में प्रवृत्ति करते-करते उत्पन्न हुए कर्मादि बंधन नष्ट नहीं हुए। बाह्य दृष्टि से संसार से संबंध विच्छेद करने के उपरांत भी उसके साथ आंतरिक संबंध दृढ़ रहने से बंधन बरकरार रहे।

जब तक परपदार्थों में सुख बुद्धि है, तब तक सांयोगिक सुखों की (आंतरिक) प्रीति-आसक्ति नष्ट नहीं होगी और ऐसा हुए बिना तप, ज्ञान, चारित्र आदि सफल नहीं हो सकते। **मिथ्या ज्ञान के प्रभाव से जहां सुख नहीं है, वहां सुख बुद्धि पैदा हुई है।** सांयोगिक सुखों की भयंकरता का ज्ञान प्राप्त किया जाए तो मिथ्याज्ञान नष्ट होगा और उसमें सुख का भ्रम भी नष्ट होगा। इसलिये अब क्रमशः सांयोगिक सुखों की बाह्य-आंतरिक भयंकरता को विस्तार से समझेंगे। बौद्धिक स्तर पर प्राप्त हुआ ज्ञान जब संवेदना के स्तर पर आता है, तब मिथ्याज्ञान नष्ट होता है। इसलिये यहां प्रस्तुत बातों पर चिंतन-मनन-निदिध्यासन किया जाएगा, तो ये बातें प्रतीति के स्तर पर आएंगी और उनकी सहायता से

मिथ्याज्ञान का अंधकार नष्ट होगा। **स्मरण रहे कि, यहां मात्र दिशा दिखाई जा रही है। प्रतीति तो स्वयं के पुरुषार्थ से ही करनी है।**

→ सांयोगिक सुखों की भयंकरता :-

'पर' के संयोग से उत्पन्न हुए सुख को **सांयोगिक सुख** कहा जाता है। वास्तव में वह सुख नहीं है, अपितु परम दुःख स्वरूप है। इसके बावजूद अज्ञानी प्राणी-मोहाधीन प्राणी उसे सुखरूप में ही देखता है, इसलिये उनकी अपेक्षा से इसे सुख कहा गया है।

जिसका कारण दुःख स्वरूप हो, जिसका स्वरूप दुःख स्वरूप हो और जिसका परिणाम भी दुःख स्वरूप हो, उसे किसी भी रूप में सुख स्वरूप नहीं कहा जा सकता। मोह के उदय से जनित भ्रांतियों के कारण उसका दुःख स्वरूप दिखाई नहीं देता है, दुःख स्वरूप की अनुभूति नहीं होती है, तब ही वह सुख स्वरूप लगता है। **भ्रांति के कारण उत्पन्न होनेवाला आभास तथा वास्तविकता के बीच बहुत अंतर होता है।**

सांयोगिक सुख पराधीन है। वह परपदार्थों तथा अन्य व्यक्तियों के अधीन है। और ये सब कर्माधीन हैं तथा कर्म अत्यंत रहस्यमय है। कर्म स्थिति गहन है। कर्म जनित परिवर्तन रहस्यमय हैं। कर्म जनित विषमताएं दुःखदायी हैं। कर्म कब इष्ट से वियोग और अनिष्ट से संयोग करवा दे, यह कहा नहीं जा सकता। इसलिये संबकुछ अनिश्चितताओं से व्याप्त है।

जहां-जहां पराधीनताएं हैं, वहां-वहां अनिश्चितताएं हैं। संप्राप्त सुख कब तक स्थिर रहेगा ? स्थिर रहेगा तो सुखदायी सिद्ध होगा अथवा नहीं ? सुख कभी भी छिन तो नहीं जाएगा न ! बीच में कोई अवरोध तो उत्पन्न नहीं करेगा न ? पराये मुझे धोखा तो नहीं देंगे न ? ऐसी और इनके जैसी कई अनिश्चितताएं पराधीनता के पीछे छिपी होती हैं। यद्यपि **जहां-जहां अनिश्चितताएं हैं, वहां-**

वहां आकुलताएं और व्याकुलताएं हैं। क्योंकि, पूर्वोक्त मनोःस्थिति प्राणी को आकुल-व्याकुल रखती है।

जहां आकुलता-व्याकुलता है, वहां मन की अस्थिरता है। मन की अस्थिरता से **योग** (मन-वचन-काया के व्यापार) की चंचलता बढ़ती है। योग की चंचलता से आत्म प्रदेश उबलते पानी की भांति चंचल हो जाते हैं। चंचलावस्थापन्न आत्म प्रदेशों में राग-द्वेष की चिकनाहट बढ़ती है। जिसके परिणामस्वरूप क्लिष्ट कर्म का बंध होता है और क्लिष्ट कर्मबन्ध से (कर्म शक्ति दृढ़ होने से) जन्म-मृत्यु की परम्परा दुःखदायी बनती है। संक्षेप में, सांयोगिक सुखों के बदले में आलोक-परलोक दोनों में आकुलता-व्याकुलता ही प्राप्त होती है।

जहां पराई अपेक्षाएं होती हैं, वहां विवशताएं, लाचारियां, परस्पर घर्षण, परस्पर विवाद, अपेक्षाएं भंग होने से आघात, अपेक्षाओं की पूर्ति के लिये संघर्ष, परिणाम में विलंब अथवा निराशा आदि अनेक प्रकार के मानसिक दुःख होते हैं।

जीवन पराधीन हो तो परायों से अनेक प्रकार की अपेक्षाएं उत्पन्न हो जाती हैं। अपेक्षाओं के जन्म से मन संतप्त हो जाता है। अपेक्षित वस्तु तत्काल प्राप्त हो जाए, ऐसा कोई नियम नहीं है। इसलिये उसकी खोज में मन और अधिक संतप्त हो जाता है। खोज में सफलता प्राप्त हो और अपेक्षा की पूर्ति हो जाए तो आत्मा अनेक प्रकार के रागादि बंधनों में जकड़ जाती है और अपेक्षा भंग हो जाए तो मन को संताप के सिवाय अन्य कुछ प्राप्त नहीं होता है।

यद्यपि जैसे-जैसे अपेक्षा पूर्ति होती जाती है, वैसे-वैसे नई-नई अपेक्षाओं का भी जन्म होता जाता है। जब कोई पदार्थ नये-रंग-रूप में सामने आता है तब अप्राप्तत्व का भ्रम उत्पन्न होता है। (अर्थात् इस प्रकार का भोग मैंने प्राप्त नहीं किया है, ऐसा **अप्राप्तत्व का भ्रम** उत्पन्न होता है।) इससे आत्मा में उस पदार्थ की तृष्णा पैदा होती है। तृष्णा सभी दोषों की जननी है और समस्त गुणों

का नाश करनेवाली होती है।[1]

अपेक्षा पूर्ति में सफलता प्राप्त होने पर जड़ की अधीनता बढ़ती है। रागादि दोषों की पुष्टि होती है, स्नेहराग-कामराग के बंधन दृढ़ होते हैं, हिंसादि पाप की बेल को सिंचन प्राप्त होता है, आत्मा में कुसंस्कार दृढ़ होते हैं, नई-नई अपेक्षाएं पुद्गलों के पीछे दौड़ाती रहती हैं, मन की अस्थिरता बढ़ती है, विभावों की रमणता बढ़ती है और स्वभाव से दूरी पैदा हो जाती है, काषायिक भावों में वृद्धि होती है और परपरिणति पुष्ट होती है। संक्षेप में, आत्मा को बाह्य-आंतरिक दोनों प्रकार से नुकसान पहुंचानेवाले का बल दृढ़ होता हैं अर्थात् मोहनीयादि कर्मों का औदयिक भाव प्रगाढ़ होता है और उसके संक्लेश प्राणी को बहुत हैरान करते हैं। प्राणी सुख के लिये प्रवृत्ति करता है और इसके बदले में उसे साक्षात् तथा परम्परा से मात्र दुःख ही प्राप्त होता है।

● सांयोगिक सुख अठारहों पाप स्थानकों की बेल को सींचते हैं। क्योंकि...

- कोई सांयोगिक सुख जीवहिंसा के बिना प्राप्त नहीं हो सकता।

- एक बार स्त्री के संग से प्राप्त होनेवाले सुख में अनगिनत (असंख्य) जीवात्माओं का नाश होता है और राग-रति आदि दोषों की भरपूर पुष्टि होती है। यह एक संग ही अनेक प्रकार के बंधन पैदा करता है। वास्तव में संसार की शुरुआत और वृद्धि स्त्री के संग से ही होती है और सभी पापों की कतार भी इसी कारण से उत्पन्न होती है। यदि स्त्री नहीं, तो परिग्रह भी नहीं और ये दोनों नहीं, तो शेष एक भी पाप नहीं होता है।

- सांयोगिक सुखों की लालसा के कारण जीवन में दो महापाप आते हैं। एक महामोह और दूसरा परिग्रह।

- उपमितिकार महर्षि ने चतुर्थ मैथुन नामक पाप को महामोह की उपमा

दी है। क्योंकि इस पाप के समय तथा उससे पूर्व और उसके बाद प्राणी होश गंवा देता है, पापों के प्रति निरपेक्ष हो जाता है, रागादि दोष खिल उठते हैं, जीवन कर्तव्य भुला देता है, जीवात्मा अत्यंत बहिर्मुखी बन जाती है, पर में रमण करने लगती है, उसमें अनेक प्रकार के विभाव पैदा हो जाते हैं, अनेक प्रकार की पराधीनताएं उत्पन्न हो जाती हैं, विषय की आतुरता असहनीय हो जाती है, परिणामस्वरूप जीवन में पुद्गल की कथा और अन्य प्रमाद प्रवेश कर जाते हैं, मन व आत्मा अत्यंत कमजोर हो जाते हैं, उसे विषयरस की कातिल आदत पड़ जाती है, संप्राप्त बोध फीका पड़ जाता है, संप्राप्त श्रद्धा मंद पड़ जाती है, संप्राप्त विवेक खंडित हो जाता है, वैराग्य भाव अस्थिर हो जाता है और स्त्री की पराधीनता त्याग की क्षमता को खत्म कर देती है, इंद्रियां बार-बार चंचल हो जाती हैं, जीवात्मा एक स्थान पर बंध जाती है और इस कारण अपना श्रेय मार्ग भूल जाती है और काम-राग व स्नेह-राग के बंधनों में बंधकर शाश्वत आत्म तत्त्व को भूल जाती है, स्त्री बंधन से जीवन में अनेक प्रकार की चिंताएं उत्पन्न हो जाती हैं। **दूसरा महापाप परिग्रह है। परिग्रह समस्त अनर्थों की खान है।** इसे प्राप्त करने और संभालने में अनेक प्रकार के आरम्भ-समारंभ होते हैं। मूर्च्छा का परिणाम प्रगाढ़ बनता है। जैसे-जैसे लाभ होता है, वैसे-वैसे लोभ बढ़ता है। परिग्रह वृत्तियां उत्तेजित होने के कारण मन निरंतर उनमें फंसा रहता है और इससे जीवन कर्तव्य विस्मृत हो जाता है। परिग्रह की मूर्च्छा जड़ की पराधीनता बढ़ाती है, परिग्रह पराधीन होने से अनिश्चितताओं की तलवार सदैव लटकती रहती है। इससे आर्त्तध्यान की धारा प्रवाहित रहती है। मूर्च्छा प्रगाढ़ होने से विषय संरक्षण नामक दुर्ध्यान प्रकट होता है। दोनों अशुभ ध्यान क्लिष्ट कर्मों का बंध करवाकर दुर्गति में ले जाते हैं।

सांयोगिक सुखों के साधन स्त्री तथा परिग्रह जीवन में अन्य कई प्रकार के पाप खींच लाते हैं। इन दोनों के कारण ही प्राणी घोर हिंसा करता है। चोरी और झूठ की प्रवृत्ति भी इन दोनों के कारण ही होती है। **क्रोधादि चारों कषायों**

का जन्म भी इन्हीं से होता है। इष्ट संयोगों की प्राप्ति न हो, प्राप्त इष्ट संयोग चले जाएं, संयोगों को प्राप्त करने में कोई अवरोध पैदा करे अथवा सांयोगिक सुख भोगने में कोई अवरोध पैदा करे, तो क्रोध का जन्म होता है। इसी प्रकार अच्छे संयोगों की प्राप्ति होने पर अभिमान पैदा होता है। अधिक सुख, सुख के साधन तथा संपत्ति प्राप्त होने पर अन्य लोगों के प्रति तिरस्कार की भावना पैदा होती है। स्वोत्कर्ष व परापकर्ष की प्रबल भावना भी सांयोगिक सफलता से ही उत्पन्न होती है और गर्व का परिणाम योग्यस्थान पर विनय नहीं करने देता है तथा हर जगह विनम्र नहीं बनने देता है। **सांयोगिक सुखों की भूख यदि ये सुख सीधी तरह से प्राप्त नहीं होंगे ऐसा लगने पर माया से प्राप्त करने की इच्छा रखती है।** इससे जीवन में माया का प्रवेश होता है। जैसे-जैसे सांयोगिक सुखों की भूख बढ़ती जाती है, वैसे-वैसे जीवन आडंबर बनता जाता है, कृत्रिम बनता जाता है, सहजता और निर्मलता दूर होती जाती है। कहने, सोचने और करने में अंतर बढ़ता जाता है। **सांयोगिक सुख लोभ व तृष्णा को बढ़ाते हैं।** जैसे-जैसे सुख बढ़ते जाते हैं, वैसे-वैसे उनकी तृष्णा बढ़ती जाती है। क्योंकि नये रंग-रूप आदि से सज-धजकर आनेवाले सांयोगिक सुखों में अप्राप्तत्व का भ्रम होता है अर्थात् ऐसे सुख कभी प्राप्त नहीं हुए हैं और कभी भोगे नहीं हैं - ऐसा भ्रम प्राणी की तृष्णा को बढ़ा देता है।

सांयोगिक सुख रति-अरति करवाते हैं। ये सुख अनुकूल मिलते हैं तो भी एक ओर रति होती है और उसके साथ में अरति भी होती ही है। क्योंकि प्राप्ति का आनंद रति कराता है और वह स्थिर रहेगा या नहीं ? कोई छीन तो नहीं लेगा न ? कोई इसे भोगने में अवरोध तो पैदा नहीं करेगा न ? इत्यादि अनिश्चितताएं अरति भी करवाती हैं। यद्यपि ये सुख अनुकूल नहीं मिलने पर अथवा मिलने के बाद हाथ से चले जाने पर तो अरति होती ही है।

रति-अरति का द्वंद्व मन को निरंतर व्याकुल रखता है। अध्यात्म सार ग्रंथ

में कहा गया है कि, भोगकाल में, भोग से पूर्व तथा भोग के पश्चात् मन में अरति का निरंतर स्पर्श रहता है। क्योंकि भोग से पूर्व कैसा सुख प्राप्त होगा और कैसा आनंद मिलेगा, ये अनिश्चितता अरति करवाती है। भोगकाल में आसक्ति के कारण अरति होती है और भोग के पश्चात् असंतोष के कारण अरति होती है। (अरति अर्थात् अरुचि)

सांयोगिक सुखों के आसपास राग-द्वेष नामक पाप भी अवश्य होते ही हैं। संप्राप्त सांयोगिक सुख भोगते समय उसमें राग होता है और उस समय प्रतिद्वंद्वी-विरोधी की उपस्थिति द्वेष पैदा करती है। संसार में बहिर्मुखी प्राणी को किसी का सुख पसंद नहीं होता है। इसी कारण वह अन्य के प्रतिद्वंद्वी-विरोधी बन जाते हैं और प्रतिद्वंद्वी-विरोधी की उपस्थिति में द्वेष उत्पन्न होता है।

संसार में सांयोगिक सुख के दुष्प्रभाव के रूप में ईर्ष्या नामक दोष खिलता है। ईर्ष्या भी द्वेष का ही पर्याय है। अन्य के उत्कर्ष की असहनशीलता को **ईर्ष्या** कहते हैं। ईर्ष्या नामक यह दुर्गुण किसी के सुख को मधुर दृष्टि से देखने ही नहीं देता है। इसी कारण प्राणी किसी न किसी प्रकार से अन्य के प्रतिद्वंद्वी, विरोधी अथवा शत्रु बन जाते हैं। इसलिये किसी भी भोगी में उनकी उपस्थिति द्वेष पैदा करती है।

राग-द्वेष का द्वंद्व भी मन को निरंतर व्याकुल रखता है। जैसे-जैसे सांयोगिक सुखों में प्राणी खेलता जाता है, वैसे-वैसे राग-द्वेष की जोड़ी को पोषण मिलता जाता है। राग-द्वेष बार-बार उसे उनमें डुबोते रहते हैं। इससे प्राणी को सुख कम और दुःख ज्यादा मिलता है। साथ ही अनेक प्रकार की पराधीनताएं भी उत्पन्न होती हैं। भोग के इंद्रियादि साधन क्षीण हो जाने के बावजूद मन में उनकी वासना पीछा नहीं छोड़ती है। इससे मन निरंतर संतप्त रहता है। भोगने की तीव्र इच्छा है, किन्तु साधन काम नहीं देता है, ये संताप प्राणी को निरंतर संतप्त रखता है। **सांयोगिक सुख अन्य के अधीन हैं।** इन सांयोगिक सुखों में

अन्य व्यक्ति की अपेक्षा लगातार बनी रहती है। इसी कारण परस्पर अपेक्षाएं टकराती हैं, **जो कलह (क्लेश) नामक पाप को जन्म देती हैं।** इसके अतिरिक्त सांयोगिक सुखों में खेलनेवाले अन्य व्यक्तियों पर अधिकार भाव पैदा होता है, वह भी कलह को खींच लाता है। सांयोगिक सुखों की प्राप्ति, भोग, संरक्षण आदि में भी अनेक प्रकार के कलह होते हैं। संपत्ति, स्त्री, जमीन, मान-सम्मान, सत्ता-पद आदि के लिये बड़े-बड़े युद्ध हो जाते हैं।

सांयोगिक सुखों में रमने से सांसारिक प्रेम(रस) को पोषण मिलता है। इससे बहिर्मुखता बढ़ती है, कषाय बढ़ते हैं और तुच्छताएं बढ़ती हैं। इससे तुच्छ कोटि के आनंद प्राप्त करने की वृत्ति उत्पन्न होती है। **अन्य को दुःखी करके अथवा दुःखी देखकर आनंद प्राप्त करने की तुच्छ वृत्ति से किसी न किसी रूप में पैशुन्य (चुगली करनी), अभ्याख्यान (झूठे आरोप लगाने) तथा परपरिवाद (निंदा करनी)** के पाप जीवन में प्रवेश कर जाते हैं। **ये तीनों पाप वैसे तो जीवन में अनावश्यक हैं।** इसके बावजूद सांसारिक प्रेम दृढ़ बनने पर प्राणी इन अनावश्यक पापों का आचरण करता है। सांसारिक प्रेम उसे अन्य में रुचि लेने के लिये विवश करता है।

पैशुन्य द्वारा किसी को निम्न दर्शाने से तुच्छ आनंद व कषाय की आतुरता को सहलाने के सिवाय कुछ नहीं मिलता है। इसके बावजूद प्राणी तुच्छता के अधीन यह कार्य करके क्लिष्ट पाप कर्म का बंध करता है। प्राणी अन्य पर झूठे आरोप लगाकर सामनेवाले व्यक्ति को निम्न दर्शाकर तुच्छ आनंद प्राप्त कर लेता है और काषायिक भावों को सहलाता है, परन्तु इससे ऐसा क्लिष्ट कर्मबंध होता है कि, उसका भविष्य अंधकारमय हो जाता है। **अन्य रसों (रुचि) की तुलना में निंदा का रस अधिक घातक है।** जैसे खाया हुआ न पचे तो उल्टी होती है, वैसे ही जो संप्राप्त सुख आदि को नहीं पचा पाता है, उसमें निंदा का रस खिल उठता है। अन्य दोषों का आचरण किये बिना मनोवृत्ति को

मलीन करनेवाले इस दोष से तुच्छ आनंद मिलता है, परन्तु इससे क्लिष्ट कर्मबंध होने के कारण प्राणी को बहुत नुकसान होता है।

सांयोगिक सुखों में रमने से सांसारिक रुचि, भोग रुचि और कषाय रुचि अत्यंत पुष्ट होती है। इससे प्राणी सुख, सुख के साधनों व धन के पीछे पागल होकर दौड़ता रहता है। इनकी आसक्तियां प्राणी से मायापूर्वक मृषावाद का आचरण कराती हैं।

सांयोगिक सुखों की आसक्तियां और रमणता उनके प्रति प्रगाढ़ सुखातुरता पैदा करती हैं, जो मिथ्यात्व को पोषण देती है। जो सुख वास्तव में दुःखरूप, दुःखदायी और दुःख परंपरक है, उसमें सुखानुभूति करानेवाला मिथ्यात्व है। प्राणी जैसे-जैसे सांयोगिक सुख भोगता जाता है, वैसे-वैसे राग-द्वेष की ग्रंथि दृढ़ होती जाती है। सांयोगिक सुखों की खातिर प्राणी कैसे भी पाप करने के लिये तैयार हो जाता है और पाप को पाप मानने के लिये भी तैयार नहीं होता है...**संक्षेप में, सांयोगिक सुखों के कारण अठारहों पापों की बेल सिंचित होती रहती है।** जो वर्तमान में संक्लेश-दुविधाएं उत्पन्न करती है और भविष्य में भी संक्लेश-दुविधाएं उत्पन्न करती है। **इसीलिये सांयोगिक सुख भयंकर हैं।**

● **सांयोगिक सुख असत् परिणतियों को पोषित करते हैं।** जिससे अनर्थ की परम्परा निरंतर चालू रहती है। **मुख्य असत् परिणतियां पांच हैं। (१) परपरिणति, (२) पाप परिणति, (३) दोष परिणति, (४) विषय परिणति व (५) कषाय परिणति।**

अब प्रत्येक असत् परिणति से परिचित होकर सांयोगिक सुख उन्हें कैसे पोषित करते हैं और इससे आत्मा को जो बाह्य-आंतरिक नुकसान होते हैं, उनके विषय में जानेंगे।

पर में (परपदार्थों में) ही सुख की कल्पना-भ्रांति होना, उनके बिना सुख का

अभाव मानना, परसंबंधी समृद्धि की समृद्धता में ही सुख की वृद्धि माननी और कमी होने पर सुख की हानि माननी, पर के प्रति तीव्र आकर्षण होना, हर जगह पर को ही प्राथमिकता देना, पररहित जीवन को कष्टदायी मानना, पर के बिना बेचैन रहना, पर के आवागमन से परेशान रहना, पर संबंधी चिंताओं में ही मन का रत रहना, पर संबंधी अनुकूलता में आसक्त रहना और प्रतिकूलता में दीन बन जाना, उन्हीं की रुचि-अरुचि में जीवन व्यतीत होना, पर संबंधी संकल्प-विकल्प निरंतर चलते रहना, पर प्रवृत्ति के अभाव में भी पर की ओर झुकाव रहना और परभावो में कर्तृत्व-भोक्तृत्व और मालिकीभाव होना, ऐसी जितनी भी पर संबंधी भ्रांतियां-मान्यताएं-परिणति-विक्रियाएं-दुष्प्रभाव हैं, **वे सभी पर-परिणतियां हैं।** यद्यपि जो पर-परिणतियों को अपनी समझता है, वह प्राणी निरंतर आर्त्तध्यान में रहता है।

सांयोगिक सुखों का आकर्षण, उन सुखों की अधीनता, उनकी आसक्तियां, इन सुखों के भोग में प्रमत्तता, इन सुखों की अनुभूतियों का स्मरण, इन सुखों के विविध मनोरथ आदि पूर्वोक्त पर-परिणतियों को पोषण देते हैं। पुष्ट होकर पर-परिणतियां बहिर्मुखता का पोषण करती हैं, रागादि दोषों को बढ़ाती हैं, ज्ञानादि गुणों का घात करती हैं, मन को राग-द्वेषादि द्वंद्वों से आक्रांत बनाकर संक्लेश देती हैं, आत्मा राग-द्वेष से चिकनी हो जाने के कारण क्लिष्ट कर्मबंध होता है, पर में रमने के संस्कार सिंचित होते हैं, पापादि परिणतियां खिल उठती हैं, आत्मा का विभाव प्रगाढ़ हो जाता है, आत्मा स्वभाव से दूर हो जाती है, स्नेह-राग व काम-राग के बंधन प्रगाढ़ हो जाते हैं, पर को पोषण देने में जीवन कर्तव्य विस्मृत हो जाता है, ममत्वभाव पुष्ट होने के कारण जन्म-मृत्यु की परम्परा गहन बन जाती है, अध्यवसाय तथा लेश्या के परिणाम मलीन हो जाते हैं, कर्मबंध के मिथ्यात्वादि कारण पुष्ट हो जाते हैं और विषयादि पांच तथा अज्ञानादि आठ प्रमाद जीवन में प्रवेश कर जाते हैं।

परिणामतः पौद्गलिक सुखों के लिये तथा भौतिक दुःखों को दूर करने के लिये कितने ही हिंसादि पाप करने का परिणाम रखना, पाप को पाप नहीं मानना, पाप मानने के बावजूद समय आने पर निर्ध्वंस भाव से पाप करना, पापवाली प्रवृत्तियों के अभाव में भी पाप की रुचि जीवित रहना, पाप से प्राप्त सुखों के प्रति सन्मान-प्रशंसा भाव होना, निष्प्रयोजन पाप सेवन करना तथा पाप के विचार करना, जिम्मेदारी के बिना भी पाप के उपदेश देना, पाप करके सफलता मिलने पर आनंद आना और विफलता मिलने पर खेद होना, **इत्यादि पाप की परिणतियां हैं।**

सांयोगिक सुखों के कारण ही पाप की परिणतियां पुष्ट होती हैं और तेजी से खिलती हैं। पूर्व में दर्शाए अनुसार कोई भी सांयोगिक सुख बिना पाप के नहीं मिलता है अथवा भोगने को नहीं मिलता है। इसलिये जो रच-पचकर सांयोगिक सुख भोगता है, उसकी पाप की परिणतियों को पोषण मिलता ही है।

पाप की परिणतियों के कारण ही धार्मिक परिणतियां नहीं आती हैं, पाप की रुचि जीवित रहने से निरंतर पापों का कर्मबंध चालू रहता है और अशुभ अनुबंधों का सिंचन होता है। मन निरंतर संतप्त रहता है, आंतरिक जगत निरंतर आकुल-व्याकुल रहता है, पुद्गल की ओर दौड़ और वेगवान हो जाती है, परिणाम निर्ध्वंस होने से दया की परिणति प्राप्त नहीं होती है और दया की परिणति के बिना धर्म आ नहीं सकता, पाप की रुचि जीवित रहने से पाप निवृत्ति व धार्मिक प्रवृत्ति दोनों ही विफल हो जाती हैं, वृत्तियां तुच्छ-तुच्छतर हो जाती हैं, अध्यवसाय-लेश्याएं अशुभ-अशुभतर बन जाती हैं, **संक्षेप में, पाप की परिणतियों से आत्मा को बाह्य-आंतरिक दोनों प्रकार के नुकसान होते हैं। जिन सुखों के लिये पाप होते हैं, वे सुख तो अल्पकालीन होते हैं और पाप दीर्घकालीन दुर्गति देते हैं। इसलिये बाह्यदृष्टि से भी दुःख ही मिलता है।** आत्मा विभाव में अधिक से अधिक फंसने के कारण स्वभाव से दूर-सुदूर हो जाती है और इस कारण उतना ही आंतरिक नुकसान भी होता है। **(आत्मा के भावप्राणों का**

नाश आंतरिक नुकसान है। दुर्गतियों में भ्रमण बाह्य नुकसान है।)

रागादि दोषों का आनंदपूर्वक आचरण, इन दोषों का पक्षपात होना, ज्ञानादि गुणों के प्रति घृणा होना, गुण प्राप्ति के अनुष्ठानों के प्रति अरुचि होना, दोषवान् व्यक्तियों में रुचि और गुणवान् व्यक्तियों के प्रति द्वेष होना, **इत्यादि दोष की परिणतियां हैं।**

सांयोगिक सुख दोषों की परिणतियों का पोषण करते हैं। क्योंकि रागादि दोषों के बिना सांयोगिक सुखों को नहीं भोगा जा सकता और रागादि के वशीभूत होकर सांयोगिक सुख भोगने से रागादि दोषों को पोषण मिलता है। **इसीलिये आदिनाथ प्रभु के स्तवन में कहा गया है कि, "दोष रहितने लीला नवि घटे, लीला दोष विलास।"**

दोष की परिणतियों के कारण गुणों की परिणति प्राप्त नहीं होती है, गुणों के प्रति पक्षपात पैदा नहीं होता है, गुणाचरण का उल्लास प्राप्त नहीं होता है, त्याग-वैराग्य रुचिकर नहीं लगते हैं, ज्ञान-श्रद्धा-विवेक प्राप्त नहीं होते हैं, दोषों की परिणति की नींव पर पाप जमकर खिलते हैं, इससे विभावदशा भी खिल उठती है और उसके संक्लेश प्राणी को संतप्त करते हैं, पूर्व में पर-परिणति व पाप परिणति के कारण होनेवाले नुकसान बताए हैं, वे नुकसान इस दोष-परिणति से भी होते हैं।

क्रोध, मान, माया और लोभ ये चार कषाय हैं। इनसे अध्यवसाय-लेश्या मलीन होते हैं और इससे संसार की वृद्धि होती है। इन चारों कषायों को जीवन की सफलता का आधार मानना, निमित्तों के प्राप्त होने पर आनंदपूर्वक चारों कषायों का आचरण करना, कषायों में सफलता मिलने पर गर्व का अनुभव करना; और विफलता मिलने पर दीनता का अनुभव करना; दिन-प्रतिदिन बढ़ते कषायों के प्रति निश्चिंत होना, कषायों को मारनेवाले कारण क्षमादि गुण निरर्थक-अनावश्यक लगना, क्षमादि गुणों के प्रति तथा इन गुणों के धारकों के

प्रति द्वेष होना, कषायों का पोषण नहीं होने पर बेचैन हो जाना : **इत्यादि कषाय की परिणति है।**

कषाय की परिणतियों के कारण मन सदा संतप्त रहता है, आत्मा के ज्ञानादि भाव प्राणों का घात होता है, लेश्याएं बिगड़ने से क्लिष्ट कर्मबंध होता है, वैर की परम्परा सर्जित होती है, स्वोत्कर्ष की प्रबल भावना और परापकर्ष की प्रबल भावना के कारण दौर्भाग्य नामकर्म तथा नीच गोत्रकर्म का बंध होता है, हृदय की क्षमा-विनम्रता-सरलता का नाश होता है, सरलता के अभाव में मन का अवक्रगमन (मोक्ष मार्ग में प्रस्थान) नहीं हो पाता है, लाभ से लोभ बढ़ता है, तृष्णाएं बढ़ती हैं, तृष्णाओं की वृद्धि के कारण बहिर्मुखता बढ़ती है - पुद्गल के पीछे दौड़ बढ़ती है, परिग्रह वृत्ति प्रगाढ़ होती है, हृदय में बदले की भावनाएं पैदा होती हैं, जीवन में माया-प्रपंच बढ़ते हैं, मद-काम-क्रोध-लोभ आदि निरंतर बढ़ते हैं, संक्षेप में, चारों कषायों के कारण बाह्य व आंतरिक व्यक्तित्व संतप्त और मलीन हो जाता है।

सांयोगिक सुखों में रच-बसकर प्रवृत्तियां की जाती हैं, तब कषाय-परिणतियां भड़कती हैं। तीव्र कषाय-परिणतियों के कारण आत्मा में हुआ क्लिष्ट कर्मबंध तथा अकुशल अनुबंधों का सिंचन आत्मा की भावी यात्रा को अंधकारमय बना देते हैं।

पांचों इन्द्रियों के विषयों में सुखबुद्धि-उपादेयबुद्धि होना, इन्द्रियों के विषयों में सर्वस्व के दर्शन होना, इनके अभाववाली अवस्था कष्टदायी लगनी, विषयों का तीव्र आकर्षण होना, भूमिका से बाहरी विषयों की आसक्ति होना, वैषयिक संकल्प-विकल्पों में मधुर अनुभूति होना, विषयप्रवृत्ति से पूर्व संकल्प-विकल्पों का तूफान उमड़ना और इसके बाद मधुरता का स्मरण होते रहना, विषय प्रवृत्ति के अभावकाल में भी हृदय का झुकाव विषयों की ओर होना अथवा विषयों का स्मरण या उससे संबंधित वार्तालापों में रत रहना, क्षणिक आवेगों की पुष्टि के

लिये अमर्यादित आयोजन करना, विषय के भोगकाल में तीव्र आसक्ति होना और उत्तरकाल में उसकी मधुरता का स्मरण करते रहना, पौद्गलिक सुख व उनके भोक्ताओं की कथाओं में रुचि लेना और निरंतर उन्हीं की कथाएं कहना अथवा उन्हीं के चरित्र पढ़ना, **इत्यादि विषय की परिणतियां हैं।**

विषय-परिणति से बहिर्मुखता बढ़ती है, विषयों की ओर आकर्षण तीव्र होने के कारण मन निरंतर चंचल और संतप्त रहता है। इसके अलावा पूर्व में असत् परिणतियों के जो बाह्य-आंतरिक नुकसान बताए हैं, वे सभी नुकसान विषय-परिणतियों से भी होते हैं।

सांयोगिक सुख विषय-परिणतियों को खूब पोषित करते हैं। क्योंकि सांयोगिक सुख भोगते समय प्राणी पांचों इन्द्रियों के स्पर्शादि विषयों में रममाण बन जाता है। **इन्द्रियां विषयों के संग से जो सुख प्राप्त करती हैं, उन्हें ही सांयोगिक सुख कहते हैं।** साक्षात् विषयों से संपर्क उसके हृदय में विषय-परिणतियों को पैदा करता है और उनकी पुष्टि करता है।

● सांयोगिक सुखों से दुर्प्रवृत्तियां पुष्ट होती हैं ।

सांयोगिक सुख में राचते प्राणी का जीवन स्वार्थी हो जाता है। इससे मन में स्वार्थ वृत्तियां पुष्ट होती हैं। स्वार्थी प्राणी अपनी इन्द्रियों की तृप्ति व मन की तृप्ति के लिये निरंतर प्रयत्नशील रहता है। इसलिये उसे दूसरों का विचार ही नहीं आता है। स्वार्थी प्राणी को स्वयं तथा स्वयं के कुछ माने हुए व्यक्तियों के अतिरिक्त किसी के सुख-दुःख में रुचि नहीं होती है। स्वार्थ वृत्ति के कारण परोपकार वृत्ति प्रकट ही नहीं होती है और परोपकार वृत्ति के बिना धर्म में वास्तविक प्रवेश नहीं होता है।

सांयोगिक सुखों की रमणता ईर्ष्या वृत्ति तथा असूया वृत्ति पैदा करती है। दूसरों के भौतिक उत्कर्ष की असहनशीलता को ईर्ष्या कहते हैं। दूसरों के

सद्‌गुणों में दोषारोपण करने को असूया कहते हैं। भोग-रमणता के प्रभाव से एक मनोवृत्ति पैदा होती है कि, सभी सुख मुझे और मेरे माने हुए कुछ लोगों को ही मिलने चाहिये और मुझे तथा मेरे माने हुए लोगों को न मिलें तो किसी अन्य को भी नहीं मिलने चाहिये। ऐसी तुच्छ मनोवृत्ति से अन्य के उत्कर्ष-सुखों के प्रति असहनशीलता पैदा होती है और अन्य का अच्छा दिखाई दे तो वह पसंद नहीं आता है। इससे ईर्ष्यावृत्ति और असूयाभाव पैदा होते हैं। **ये दोनों दुर्प्रवृत्तियां प्रमोद भावना तथा गुणानुराग को नहीं आने देती हैं।**

सांयोगिक सुखों की रमणता के कारण प्राणी में पुद्‌गल के प्रति अभेद भाव तथा प्राणियों के प्रति भेदभाव पैदा होता है। पुद्‌गल के प्रति अभेद भाव के कारण भोगवृत्ति और परिग्रहवृत्ति तथा इन दोनों के कारण हिंसक वृत्ति, चौर्य वृत्ति, असत्य बोलने की दुर्प्रवृत्ति आदि अनेक पाप वृत्तियां पैदा होती हैं।

प्राणियों के प्रति भेदभाव के कारण प्राणियों के प्रति द्वेष वृत्ति, प्रद्वेष भाव, वैर वृत्ति आदि कुवृत्तियां उत्पन्न होती हैं। प्राणी को अन्य प्राणियों के प्रति भेद भाव होने के कारण प्राणियों का लगभग उपयोग करता है। उनके प्रति जो स्नेह आदि होता है - दर्शाता है। वह मात्र स्वार्थ ही होता है। अधिकांशतः तो प्राणियों का उपयोग करके उनका कस निकालने का ही इरादा होता है और यही भेद भाव है।

सांयोगिक सुखों में राचते प्राणी की कुतूहल वृत्तियां बहुत बढ़ जाती हैं। वे उसे नये-नये भोग सुखों के प्रति उत्सुक बनाती हैं। उत्सुकता के कारण मन निरंतर संतप्त रहता है। वस्तु को प्राप्त करने की आतुरता उसे शांति से जीने भी नहीं देती है और प्राणी जो शांति-स्थिरता-विश्रांति चाहता है, वह उसे कभी नहीं मिलते हैं।

सांयोगिक सुखों की रमणता प्राणी को अनेक प्रकार के प्रमादों में फंसा देती है। विषय वृत्ति बढ़ने के कारण विषय प्रमाद, काषायिक वृत्तियों के कारण

कषाय नामक प्रमाद, विषयादि की प्रवृत्तियों के कारण (द्रव्य) निद्रा एवं आत्मा को भुलाने से भाव निद्रा प्रमाद, अनेक वस्तुओं की अधीनता स्वरूप मद्य प्रमाद और पर में तथा पर की कथा में रुचि पैदा होने के कारण विकथा नामक प्रमाद पैदा होता है।

सांयोगिक सुखों की रमणता हिंसक भाव खींच लाती है। जिससे कृष्ण लेश्या के परिणाम पैदा होते हैं। भोगरमणता नील लेश्या के परिणाम पैदा करती है और वक्रता कापोत लेश्या के परिणाम पैदा करती है। ये तीनों अशुभ लेश्याएं क्लिष्ट कर्मबंध कराती हैं। **(चार प्रकार के कर्मबंध में रसबंध लेश्या से होता है।)**

● सांयोगिक सुख देहाध्यास को पोषित करते हैं :-

शरीर में आत्मबुद्धि के अध्यास (भ्रम) को **देहाध्यास** कहा जाता है। भौतिक सुख जैसे-जैसे शरीर को अनुकूलता प्रदान करते हैं, वैसे-वैसे देहाध्यास बढ़ता है। प्राणी देह के आह्लाद-आनंद को परमसुख मानकर यह भूल जाता है कि शरीर आत्मा से अलग है। इस कारण शरीर को ही आत्मा मानकर उसकी सेवा में लग जाता है।

देहाध्यास के कारण ही प्राणी निरंतर रागादि द्वंद्वों में फंसता है और देह के सुख में सुखी और देह के दुःख में दुःखी होता है। सभी पाप भी देहाध्यास के कारण ही होते हैं और आर्त्तध्यान-रौद्रध्यान की परम्परा भी देहाध्यास के कारण ही अविरत रहती है। यूं देखें तो संपूर्ण भव परम्परा देहाध्यास की नींव पर ही चलती है। क्योंकि, देह के प्रेम से ही प्राणी का पर, विषय तथा पाप से पाला पड़ता है और कषाय-दोष उसके जीवन में आ जाते हैं।

संक्षेप में, सांयोगिक सुख...

● पराधीन हैं और इसलिये अनिश्चितताओं से परिपूर्ण हैं। अनिश्चितताओं से भरे होने के कारण आकुलता-व्याकुलता से मन को संतप्त रखते हैं।

● स्नेहराग-कामराग के बंधन में बांधते हैं।

● अठारहों पाप स्थानकों की बेल को सींचते हैं।

● महामोह तथा परिग्रह नामक दो महापापों को जीवन में लाते हैं और उसके आसपास अनेक प्रकार के पाप सज जाते हैं।

● जीवन कर्तव्य तथा प्राप्तव्य को भुला देते हैं। शाश्वत तत्त्वों के स्थान पर नाशवंत वस्तुओं को ही जीवन के लिये प्राप्तव्य बनाते हैं।

● वैषयिक वृत्तियों को भड़काते हैं और काषायिक भावों को तीव्र-तीव्रतर-तीव्रतम बनाते हैं।

● संसार प्रेम, भोग प्रेम, विषय-कषाय की रुचि को पुष्ट करते हैं।

● पर-परिणति आदि असद् परिणतियों का बल बढ़ाते हैं।

● स्वार्थ वृत्ति आदि दुर्प्रवृत्तियों का पोषण करते हैं।

● जीवन को प्रमाद बहुल बनाते हैं।

● देहाध्यास का पोषण करके निरंतर बहिर्मुख रखते हैं।

● मुक्ति के राग को प्रकट नहीं होने देते हैं।

● मुक्ति का राग प्रकट हुआ हो तो उसे निरंतर प्रवाहित नहीं रहने देते हैं।

● कुतूहलता-उत्सुकता आदि को बढ़ाते हैं।

● क्लिष्ट कर्मबंध कराते हैं और क्लिष्ट अनुबंधों का सिंचन करते हैं तथा दुर्गतियों की परम्परा सर्जित करते हैं।

● अत्यंत सीमित होते हैं और भोग काल में ही आनंद देते हैं। इसके बाद मनमें रिक्तता आदि ही देते हैं।

● संसार के प्रति ममत्व भाव का पोषण करते हैं और इससे कर्म शक्ति दृढ़ होती है। ये दोनों जीवन के अंतिम क्षणों को बिगाड़कर असमाधि में रखते हैं।

● कभी स्थाई तृप्ति नहीं दे सकते हैं। इसलिये अतृप्ति की आग (अशांति) निरंतर सुलगती रहती है।

● प्राणी निरंतर बहिर्भावों में ही रमता रहता है।

● अनुकूलता के अर्थीपणा का और प्रतिकूलता के अनर्थीपणा का पोषण करते हैं।

● औपाधिक हैं। इसलिये पुद्गल नामक उपाधि से अनेक प्रकार की विडम्बनाओं से घिरे होते हैं।

● **अनादि काल से आत्मा में प्रवृत्त** (सांयोगिक सुखों की इच्छा, उनकी खोज, आसक्तिपूर्वक प्रवृत्ति, उससे वैषयिक संस्कारों का सिंचन और अविरति आदि कर्मों की दृढ़ता व उससे पुनः सांयोगिक सुखों की इच्छा आदि) **विषचक्र को वेग देकर प्राणी को संसार में भ्रमण कराते हैं।**

● पुद्गल के प्रति प्रीति-आसक्ति का पोषण करते हैं। इससे पुद्गल सन्मुखता व आत्म विमुखता बढ़ती है।

● अल्पकालीन हैं। अल्प समय में संयोग वियोग में परिवर्तित हो जाते हैं।

➡ असांयोगिक सुखों की रमणीयता :-

असांयोगिक सुख, सांयोगिक सुख से सर्वथा भिन्न प्रकार का सुख है। इसलिये असांयोगिक सुख -

● स्वाधीन है। इसमें किसी की पराधीनता नहीं है। पराधीन न होने के कारण

इसमें अनिश्चितताओं की तलवार भी लटकती नहीं रहती है। इससे आकुलता-व्याकुलता का भी नामो-निशान नहीं होता है।

● इस सुख में पर का संयोग ही नहीं है। इसलिये स्नेहराग या कामराग के बंधनों में नहीं बंधना पड़ता है।

● किसी भी प्रकार का पाप नहीं करना पड़ता है। इसलिये आत्मा पाप कर्म से नहीं बंधती है और पाप के अनुबंधों का सिंचन भी नहीं होता है।

● कर्म कलंक से रहित है। इसलिये कर्म जनित किसी भी प्रकार की विषमताएं नहीं होती हैं।

● स्वाभाविक है। इसलिये पुद्गल की उपाधि नहीं है। इससे उपाधि से जनित किसी भी प्रकार की विडम्बना नहीं है।

● असीमित है - निरवधि है। इसलिये चिरकाल पर्यंत आनंद देता है।

● सदा तृप्त रखता है। अतृप्ति का अंश भी नहीं रहता है। इसलिये अशांति भी नहीं रहती है।

● चिरकालीन है। इसलिये भविष्य की कोई चिंता नहीं रहती है।

संक्षेप में, असांयोगिक सुख (मोक्ष का सुख व अध्यात्म का सुख) स्वाधीन, स्वाभाविक, निरूपाधिक, अक्षय, निष्कलंक, चिरकालीन, दुःख के अंश से भी रहित, अनुपमेय, अनंत, व्याबाधा से रहित, उतार-चढ़ाव से रहित, सातत्यपूर्ण व शाता-आशातना के द्वंद्व से अतीत होता है।

मोक्ष ही प्राणी का सच्चा और सुनिश्चित स्थान है। कर्मवश इस स्थान से दूर रहकर प्राणी संसार में भ्रमण कर रहा है। कर्मों का नाश हो तो संसार का नाश हो और संसार का नाश हो तो नियत स्थान की प्राप्ति हो। कर्मों का नाश करने के लिये शुद्ध धर्म की आवश्यकता है। आज पर्यंत प्राणी ने धर्म किया ही

नहीं, ऐसा नहीं है, धर्म तो अनंत बार किया है। ये धर्म शुद्ध नहीं हुआ इसीलिये संसार नाशक और मोक्ष प्रापक नहीं बन सका। पूर्व में अनंत बार किया गया धर्म या तो कहीं अधर्म के आभास में हुआ है, या तो मोह के बल से हुआ है अथवा गतानुगतिक हुआ है, या संसार सुख की कामना के पोषण के लिये हुआ है अथवा रिद्धि-सिद्धि के लालच से हुआ है अथवा दुःखों से डरकर हुआ है, या विघ्नों का नाश करने के लिये हुआ है अथवा मात्र कुलाचार से हुआ है। मोक्ष के शुद्ध आशय से शुद्ध धर्म नहीं हुआ है। इसीलिये संसार दृढ़ता से खड़ा है।

प्रश्न :

आज पर्यंत शुद्ध धर्म प्राप्त नहीं कर सके तो अब शुद्ध धर्म को प्राप्त करके मोक्ष तक पहुंचने का साधनाक्रम क्या है, यह हमें बताएंगे ?

उत्तर :

आपके प्रश्न का उत्तर विस्तार से सोचना पड़ेगा। **इसके लिये शुद्धधर्म किसे कहा जाता है ? शुद्ध धर्म की प्राप्ति कब होती है ? शुद्ध धर्म की प्राप्ति के उपाय क्या हैं ? शुद्ध धर्म प्राप्त किया है अथवा नहीं इसका अनुमान कैसे लगाया जाए ? शुद्ध धर्म प्राप्त करनेवाले साधक का मोक्ष मार्ग पर कैसे क्रमिक विकास हो ? शुद्ध धर्म को प्राप्त करने के लिये परिणति-वृत्ति और प्रवृत्ति कैसी होनी चाहिये ?** ऐसे अनेक मुद्दों पर सोचना पड़ेगा। इस पुस्तक में पूर्वोक्त सभी मुद्दों को ध्यान में रखकर **"आत्मा का विकासक्रम"** जैसा ग्रंथकार महर्षियों ने अपने ग्रंथों में दर्शाया है, वैसे ही हम देखने, सोचने और समझने का प्रयास करेंगे। **योगग्रंथों व गुणस्थानकक्रमारोह आदि ग्रंथों में साधक की मोक्ष यात्रा को जिस तरह से दर्शाया गया है, उसके माध्यम से साधक की मोक्ष यात्रा कहां से प्रारम्भ होती है ? किस चरण में क्रमिक विकास होता है और अंत में कैसे समापन होता है, इस बारे में विचार करेंगे।**

पू. महोपाध्याय श्री यशोविजयजी महाराजा ने **सवासौ गाथा के स्तवन** में मोक्ष मार्ग की सामान्य रूपरेखा दर्शाते हुए कहा है कि,

निश्चयदृष्टि हृदये धरीजी, पाले जे व्यवहार;
पुण्यवंत ते पामशेजी, भव समुद्रनो पार ।

अर्थात् जिसके हृदय में निश्चय दृष्टि प्रकट होती है और निश्चय दृष्टिपूर्वक धार्मिक व्यवहारों का परिपालन करती है, उसके कर्म बंधन नष्ट हो जाते हैं और वह पुण्यशाली आत्मा भवसागर से पार उतर जाती है।

मोक्ष में जाने का शुद्ध परिणाम हो, मोक्ष प्राप्ति के लिये निसंग दशा को प्राप्त करने की उम्मीद हो, निसंग दशा को प्राप्त करने के लिये सर्वसंग का त्याग करने की भावना हो, सर्वसंग का त्याग करने के उद्देश्य से क्रमशः पर-पदार्थों और व्यक्तियों के संयोगों को तोड़ने का मनोरथ हो, संग से ऊपर उठकर निजगुणस्थिरता रूपी निश्चय धर्म प्राप्त करने की जिज्ञासा हो, उसके हृदय में निश्चय दृष्टि प्रकट हुई, कहा जाता है। ऐसी निश्चय दृष्टि को हृदय में धारण करके निश्चय के धर्म तक पहुंचने के लिये जो साधक प्रभु की आज्ञानुसार धार्मिक व्यवहारों का पालन करता है, वह साधक सकाम कर्म निर्जरा करता है और अपनी आत्मा में सभी प्रकार के तारक धर्म योगों को सानुबंध बनाता है। इससे साधक क्रमशः मोक्ष मार्ग की आगे की भूमिकाओं को प्राप्त करता जाता है। क्रमशः आत्मशुद्धि बढ़ती जाती है। निरुपाधिकता भी बढ़ती जाती है।

अब आगे के चेप्टरों में आत्मा की निगोद से लेकर मोक्ष तक की यात्रा जिस क्रम से आगे बढ़ती है, उसे क्रमशः देखेंगे। इसमें...

(१) प्रत्येक भूमिका का स्पष्टीकरण किया जाएगा।

(२) विविध भूमिकाएं किस क्रम से तथा किस प्रकार के पुरुषार्थ से प्राप्त

होती हैं, इसका विवरण दिया जाएगा।

(३) विविध भूमिकाओं में साधक की मनोःस्थिति, उसका आंतरिक जगत और बाह्य आचरण तीनों के संदर्भ में स्पष्टता करेंगे।

(४) विविध भूमिकाओं के कर्तव्य कौन-कौन-से हैं, उसका आलेखन किया जाएगा।

(५) आगे की भूमिकाएं प्राप्त करने के लिये आवश्यक पुरुषार्थों की दिशा दर्शाई जाएगी।

(६) विविध भूमिकाओं में साधक को जो आंतरिक आनंद प्राप्त होता है, उसके विषय में बताएंगे।

(७) साधना की पूर्णता कब और कैसे होती है, यह समझाएंगे।

प्रत्येक साधक को मैं वर्तमान में किस भूमिका में हूं और मुझे किन भूमिकाओं को प्राप्त करना है, इसका अनुमान अवश्य लगाना चाहिये।

➞ **टिप्पणकम् :-** 1. सफलदोषजननी, अशेषगुणघातिनी। आत्मीयग्रहमोक्षण, तृष्णाऽपि विनिवर्तते।। **(शास्त्रवार्तासमुच्चय)**

✣✣✣

प्रकरण - २ : निगोद से निष्क्रमण

आत्मा अनादि है। आत्मा का संसार अनादि है। जिस कर्म संयोग से आत्मा का संसार चलता है, वह कर्म संयोग भी अनादि है।[1] अनादिकाल से आत्मा जन्म-मृत्यु की दुःखद परम्परा में फंसी है और जन्म-मृत्यु के बीच अनेक प्रकार की यातनाएं भोग रही है।

आत्मा का अनंतकाल (अनंत पुद्गल परावर्तकाल) निगोद में व्यतीत हुआ है। प्रत्येक आत्मा अनादिकाल से निगोद में ही जन्म-मृत्यु की परम्परा को निभा रही है। एक श्वासोश्वास प्रमाण काल में आत्मा साढ़े सत्तरह भव (सत्तरह बार जन्म-मृत्यु और अठारहवीं बार जन्म) प्राप्त करती है और निरंतर दुःख में ही काल व्यतीत करती है। **निगोद की आत्माओं के दुःखों का वर्णन करनेवाले शास्त्रों में कहा गया है कि,** किसी ३२ वर्ष के युवक के शरीर पर जो साढ़े तीन करोड़ रोंगटे होते हैं, उतनी ही अग्नि से गर्म की गई सुइयां एक साथ उसके शरीर में भौंक देने से उसे जो वेदना होगी, उससे भी अनंत गुनी अधिक वेदना आत्मा को निगोद में होती है। **ऐसी वेदना में ही आत्मा ने अनंतकाल व्यतीत किया है।**

निगोद ८४ लाख योनियों में से एक योनि ही है। यह सूक्ष्म साधारण वनस्पतिकाय की योनि है। इस चौदह राजलोक में अनगिनत (असंख्य) गोले हैं। इन अनगिनत गोलों में से एक गोले में अनगिनत(असंख्य) निगोद हैं और इन अनगिनत निगोदों में से एक निगोद में अनंत जीवात्मा होते हैं।[2] (अनगिनत गोलों में से प्रत्येक गोले में अनगिनत निगोद हैं और प्रत्येक निगोद में अनंत जीवात्मा हैं।)

निगोद में आत्मा का आत्म स्वरूप बिल्कुल ढंका होता है। शास्त्रों में कहा गया है कि, निगोद में आत्मा का ज्ञान का अनंतवां भाग ही खुला होता है। निगोद में चेतना बिल्कुल ढंकी होने के बावजूद संपूर्ण नष्ट नहीं होती है। चेतना बिल्कुल ढंकी होने से आत्मा की मूर्च्छित जैसी अवस्था होती है। इसी कारण

पूर्वनिर्दिष्ट अनंत दुःख आत्मा को अव्यक्त रूप से झेलने पड़ते हैं। यद्यपि ये दुःख व्यक्त नहीं होते हैं।

निगोद में तो आत्मा के विकास का कोई अवसर ही नहीं होता है। **निगोद में तीन प्रकार की आत्माएं होती हैं। (१) भव्यात्मा, (२) अभव्यात्मा तथा (३) जाति भव्यात्मा।**

जिस आत्मा में मोक्ष गमन की योग्यता होती है उसे भव्यात्मा कहते हैं। ऐसी आत्माएं जिनमें मोक्ष गमन की योग्यता होने के बावजूद वे कभी निगोद से बाहर ही नहीं निकलेंगी, उन्हें जाति भव्यात्मा कहते हैं और जिनमें मोक्ष गमन की योग्यता ही नहीं, उन्हें अभव्यात्मा कहते हैं। जाति भव्यात्मा में मोक्षगमन की योग्यता होती है, परन्तु वे निगोद से बाहर निकलकर मोक्ष मार्ग की साधना कभी नहीं कर पाती हैं और प्रत्येक भव्यात्मा भी मोक्ष गमन की योग्यता होने के बावजूद मोक्ष में जाएंगी ही, ऐसा कोई नियम नहीं है।[3]

प्रश्न :

प्रत्येक भव्यात्मा में समान रूप से मोक्ष गमन की योग्यता होती है, तो फिर सभी भव्यात्माएं मोक्ष में क्यों नहीं जाती हैं ?

उत्तर :

आपके प्रश्न का उत्तर देते हुए शास्त्र में एक उदाहरण दिया गया है कि, प्रत्येक दूध में घी बनने की योग्यता होती है, इसके बावजूद प्रत्येक दूध से घी ही नहीं बनता है। क्योंकि कुछ दूध पी लिया जाता है, कुछ दूध फैल जाता है, कुछ दूध का दही बनाकर अन्यत्र उपयोग कर लिया जाता है, कुछ दूध मिठाइयां बनाने में उपयोग हो जाता है और कुछ दूध से ही घी बनता है। इसी प्रकार प्रत्येक भव्यात्मा में योग्यता होने के बावजूद सभी मोक्ष में नहीं जाएंगी। (स्मरण रहे कि, यहां जाति भव्यात्माओं को ग्रहण नहीं करना है। परन्तु भव्यात्माओं को ही ग्रहण करना है।)

अनादिकाल से निगोद में रहनेवाली आत्माएं अव्यवहार राशि की आत्माएं कहलाती हैं। भवितव्यता के परिणामस्वरूप निगोद से बाहर आनेवाली आत्माएं व्यवहार राशि की आत्माएं कहलाती हैं। और एक बार निगोद से बाहर आनेवाली आत्माएं पुनः निगोद में जाएं तो भी वे आत्माएं व्यवहार राशि की ही कहलाती हैं।[4] भव्यात्माएं और अभव्यात्माएं निगोद से बाहर आ सकती हैं। एक आत्मा मोक्ष में जाती है तब ही जिस आत्मा की भवितव्यता परिपक्व हुई हो, वही आत्मा निगोद से बाहर आती है। निगोद से बाहर आनेवाली आत्मा पृथ्वीकाय आदि योनियों में परिभ्रमण करते हुए (अर्थात् एकेन्द्रिय, द्विइंद्रिय, त्रिइंद्रिय, चतुरिन्द्रिय योनियों में परिभ्रमण करते हुए) क्रमशः पंचेन्द्रियता प्राप्त करती है। पंचेन्द्रियता में मनुष्य जन्म प्राप्त करती है।

चार गति रूपी इस संसार में मनुष्य जन्म प्राप्त करना अत्यंत दुर्लभ है। इसमें भी पंचेन्द्रिय से परिपूर्ण शरीर, उत्तम कुल-जाति, श्री जिनेश्वर परमात्मा के शासन से संपन्न कुलयोगी के कुल में जन्म मिलना तो अत्यंत दुर्लभ है। अनंत पुण्य राशि एकत्र होती है, तब धर्मादि सामग्री से संपन्न मनुष्य जन्म की प्राप्ति होती है।

→ टिप्पनकम्:- 1 जे एवमाइक्खंति-इह खलु अणाइजीवे, अणाइजीवस्स भवे, अणाइ-कम्मसंजोगनिव्वत्तिए, दुक्खरुवे, दुक्खफले, दुक्खानुबंधे **(पंचसूत्र)** 2. गोला य असंखिज्जा, हुंति निगोया असंख गोले। इक्किको य निगोओ, अणंतजीवो मुणेयव्वो ।।१२।। **(निगोद-षट्त्रिंशिका)** 3. नैतद्वयं वदामो यद्भव्यः सर्वोपि सिद्ध्यति सोऽवश्यं भव्य एवेति नो मतम्। **(अध्यात्मसार-१३/७२)** 4. द्विविधा जीवाः सांव्यवहारिका असांव्यवहारिकाश्चेति। तत्र ये निगोदावस्थातः उद्धृत्य पृथ्वीकायिकादिभेदेषु वर्तन्ते ते लोकेषु दृष्टिपथमागताः सन्तः पृथिवीकायिकादिव्यवहारमनुपतन्तीति व्यवहारिका उच्यन्ते। ते च यद्यपि भूयोऽपि निगोदावस्थामुपयान्ति तथापि ते सांव्यवहारिका एव, संव्यवहारे पतिततत्वात्। ये पुनरनादिकालादारभ्य निगोदावस्थामुपगता एवावतिष्ठन्ते ते व्यवहारपथातीतत्वादसांव्यवहारिकाः। **(प्रज्ञापनाटीकायां सू. २३४)**

संसर्गजा दोषगुणा भवन्ति । - संसर्ग के अनुसार गुण-दोष उत्पन्न होते हैं। सद्पुरुषों के संग से गुण और बुरे लोगों के संग से दोष उत्पन्न होते हैं।

✦✦✦

प्रकरण - ३ :
आत्मा के विकास में पांच कारणो की भूमिका

कार्य के प्रति पांच कारण भूमिका निभाते हैं। आत्मा के विकास में भी निम्नलिखित पांच कारणों की भूमिका होती है। (१) स्वभाव, (२) भवितव्यता (नियति), (३) काल, (४) कर्म तथा (५) पुरुषार्थ।

किसी भी कार्य की उत्पत्ति में पांच कारणों की गौण अथवा प्रमुख रूप से भूमिका होती है। एक कारण मुख्य होता है और शेष कारण गौण रूप से उसके साथ जुड़े होते हैं।

किसी एक कारण से ही कार्य की उत्पत्ति मानना मिथ्यात्व है अर्थात् काल आदि को एकान्त से कारण मानना मिथ्यात्व है। स्वभावादि पांचों कारणों को गौण अथवा मुख्य रूप से संकलित करके सामूहिक कारण मानना सम्यक्त्व है। इसी बात को **विंशति-विंशिका ग्रंथ में** कहा गया है कि,

कालो सहावो नियई पुव्वकयं पुरिसकारणेगंता ।
मिच्छत्तं, ते चेव उ समासओ हुंति सम्मत्तं ।।४-१४।।

भावार्थ : काल, स्वभाव, नियति, कर्म तथा पुरुषार्थ में से किसी एक को कारण मानना मिथ्यात्व है तथा इन्हीं पांचों कारणों को सामूहिक रूप से (एक-दूसरे का परिहार किये बिना गौण और मुख्य रूप से स्वीकार करके पांचों को सामूहिक रूप से) कारण मानना सम्यक्त्व है अर्थात् ऐसा मानना यथार्थ है।[1] कहने का सार यह है कि, किसी भी कार्य को एक कारण से यानी कि कालकृत (काल से उत्पन्न), नियतिकृत अथवा स्वभावकृत मानना मिथ्यात्व है।

उदाहरण : तंतु स्वभाव से पट अर्थात् कपड़े को उत्पन्न करता है अर्थात् तंतु में पट उत्पन्न करने का स्वभाव है, इसलिये तंतु से कपड़ा तैयार होता है। (तंतु तो

मौजूद ही होता है परन्तु) वह कालक्रम में बुना जाता है। बुनाई का काम शुरू होने के बाद (पट उत्पन्न होने की) भवितव्यता हो तो उत्पन्न होगा और यदि ऐसी भवितव्यता न हो तो अर्थात् भवितव्यता फलित न हुई हो तो अनेक विघ्न आ जाते हैं। कपड़े की उत्पत्ति में तंतुवाय का पुरुषार्थ और पट के भोक्ता का कर्म (भाग्य) भी सहकारण है। इस प्रकार स्वभाव, काल का परिपाक, भवितव्यता का परिपाक, कर्म और पुरुषार्थ - ये पांचो एकत्र होते हैं तो कार्य की उत्पत्ति होती है।

इसी प्रकार आत्मा के मोक्ष की ओर प्रयाण में तथा मोक्ष की प्राप्ति में भी काल आदि किसी एक को ही कारण मानना मिथ्यात्व है और मोक्षमार्ग की प्राप्ति-प्रगति व पूर्णाहुति में पांचों कारणों की भूमिका को मुख्य तथा गौण रूप में स्वीकार करना ही सम्यक्त्व है।[2] **पूर्वोक्त बात को अन्य उदाहरण सहित स्पष्ट करते हुए विंशति विंशिका ग्रंथ में कहा गया है कि,**

नायमिह मुग्गपत्ती समयपसिद्धा वि भावियव्वं त्ति ।
सव्वेसु विसिट्ठत्तं इयरेयरभावसाविक्खं ।।४-१५।।

भावार्थ : (पांच कारणों का समुदाय कार्योत्पत्ति में कारण मानना चाहिये, यह बात पूर्व में की थी, इसमें) शास्त्र प्रसिद्ध मुद्गपक्ति (अर्थात् मूंग का पाचन) उदाहरण देखें। सभी कारणों में इतरेतर भाव सापेक्ष विशिष्टता है। अर्थात् प्रत्येक कारण अन्य कारणों के सद्भाव से ही (अर्थात् अन्य कारणों के सहयोग की अपेक्षा से ही) कार्य करता है, यही विशिष्टता सभी कारणों में है। अब 'मूंग के पाचन' रूपी कार्य के उदाहरण को लेकर पांचों कारणों की भूमिका के विषय में बात करते हैं-

(१) स्वभाव : अलग-अलग वस्तु में अलग-अलग कार्य करने की योग्यता है या नहीं ? इसका निर्णय **'स्वभाव'** नामक कारण से होता है।

मिट्टी में घड़ा उत्पन्न करने की योग्यता है, इसलिये मिट्टी में घटोत्पत्ति का स्वभाव है, ये कहा जाएगा। तंतु में घट उत्पन्न करने की योग्यता नहीं होने के कारण तंतुओं

में घटोत्पत्ति का स्वभाव नहीं है। संक्षेप में, जिसमें कार्योत्पत्ति की योग्यता हो, उसमें यह प्रथम 'स्वभाव' नामक कारण विद्यमान कहलाता है। अकेले मूंग में पकने का स्वभाव नहीं है। इसलिये अकेला (कोरे) मूंग से 'पके हुए मूंग' स्वरूप कार्य उत्पन्न नहीं होता है। अकेला (कोरे) मूंग पकाने का चाहे जितना पुरुषार्थ किया जाए तो भी वह नहीं पकता है, क्योंकि उसमें इस प्रकार का स्वभाव नहीं है।

यद्यपि यह 'स्वभाव' नामक कारण हो तो ही अन्य कारण सामग्री सफल होती है। कोरे मूंग में पकने का स्वभाव न होने से कितना भी पुरुषार्थ किया जाए, तो भी यह कार्य नहीं होता है। आत्मा की दृष्टि से विचार करें तो अभव्यात्मा में मोक्षगमन की योग्यता (स्वभाव) न होने से वह कितना भी पुरुषार्थ करे, तो भी मोक्ष रूपी कार्य नहीं हो सकता।

(२) भवितव्यता : वस्तु में कार्योत्पत्ति की योग्यता होने के साथ ही कार्योत्पत्ति (के लिये उस वस्तु का चयन) कब होगी, यह भी सुनिश्चित होता है अर्थात् वस्तु की उस प्रकार की सुनिश्चित अवस्थिति को **भवितव्यता** (नियति) कहा जाता है। जैसी नियति होती है उसी प्रकार कार्य होता है। पकानेवाले व्यक्ति ने कुछ प्रकार के मूंग ग्रहण किये और कुछ प्रकार के मूंग ग्रहण नहीं किये, इसमें ग्रहण किये हुए तथा ग्रहण नहीं किये हुए मूंग की उस प्रकार की भवितव्यता कारण है। ग्रहण किये गये मूंग भी गल नहीं पाये, तो इसमें भी उनकी उस प्रकार की भवितव्यता कारण है। संक्षेप में, पकानेवाला व्यक्ति पकाने के लिये निश्चित प्रकार के मूंग ग्रहण करता है और उन मूंग पर ही पकाने की क्रिया सफल होती है तथा इसमें कोई विघ्न नहीं आता है, इसमें कारण उसकी भवितव्यता का परिणाम ही है।

(३) काल : वस्तु में कार्योत्पत्ति की जैसे योग्यता होती है, वैसे ही कार्य की उत्पत्ति की प्रक्रिया किस समय होगी और कार्य किस समय पूर्ण होगा, यह निश्चित समय रूपी **'काल'** भी कार्योत्पत्ति का कारण है। जैसे कि कोई निश्चित मूंग पहले पकाने के लिये ग्रहण क्यों नहीं हुए और इसी समय क्यों

पसंद हुए ? और वे निश्चित समय पर ही क्यों पके ? यहां भी मूंग के चयन का समय तथा पक्रने का निश्चित समय उसके काल के परिपाक को आभारी है। इसलिये कार्योत्पत्ति के प्रति **'काल'** भी कारण है।

(४) कर्म :- कार्योत्पत्ति में सहायक के तौर पर सहयोग देनेवाला और विघ्न नहीं आने देनेवाला **'कर्म'** नामक चौथा कारण है। जैसे कि, पके हुए मूंग का जो भोक्ता है, उसका पुण्य (कर्म) पकाने की क्रिया में सहायक के रूप में उपस्थित रहता है और विघ्न नहीं आने देता है अर्थात् मूंग गलने की क्रिया में विघ्न नहीं आया और मूंग पक गया, इसमें भोक्ता का कर्म काम करता है। इसलिये कर्म भी कार्योत्पत्ति में कारण है।

(५) पुरुषार्थ :- कार्योत्पत्ति के प्रयत्न विशेष को **पुरुषार्थ** कहा जाता है। जैसे कि, मूंग के गलने की क्रिया में, पकानेवाले व्यक्ति का प्रयत्न विशेष पुरुषार्थ है।

संक्षेप में, मूंग के गलने की योग्यता, भवितव्यता, गलने का काल, (पके हुए मूंग के भोक्ता का) कर्म तथा पकानेवाले व्यक्ति का पुरुषार्थ, इन पांच कारणों के समुदाय से **'गलने'** के रूप में कार्य की उत्पत्ति होती है। यहां प्रत्येक कारण में अन्य कारणों की सापेक्षता है।

→ आत्मा की दृष्टि से विचार करें तो -

→ **भवितव्यता के परिपाक से आत्मा निगोद से बाहर आती है।** जब एक आत्मा मोक्ष में जाती है तब एक आत्मा निगोद से बाहर निकलती है। इनमें कोई अन्य आत्मा नहीं, परन्तु कोई निश्चित आत्मा ही बाहर निकलती है और इसमें मुख्य कारण उस बाहर निकलनेवाली आत्मा की **भवितव्यता** होती है।

→ **काल के परिपाक से आत्मा चरमावर्त काल में आती है।** (जिस काल में आत्मा मोक्ष की साधना करके मोक्ष प्राप्त करनेवाली है, ऐसे मोक्ष में जाने

से पूर्व में जो) एक पुद्गल परावर्तन प्रमाण काल है, उसको **चरमावर्त** काल कहा जाता है।

➞ **कर्म के परिपाक से आत्मा अपुनर्बंधक अवस्था प्राप्त करती है।**

➞ **पुरुषार्थ से आत्मा ग्रंथि की पहचान, ग्रंथि का भेदन और सम्यग्दर्शन, देशविरति, सर्वविरति, क्षपक-श्रेणी आदि तथा मोक्ष प्राप्त करती है।**

➞ भव्यात्मा मोक्षगमन के स्वभाव के कारण पूर्वोक्त चारों अवस्थाओं को प्राप्त करती है। अभव्य आत्मा निगोद से बाहर आ सकती है, परन्तु चरमावर्त काल आदि को प्राप्त नहीं कर सकती। क्योंकि उसमें मोक्षगमन की योग्यता नहीं होने के कारण मोक्षगमन में सहायक बननेवाली अवस्थाएं उसे प्राप्त ही नहीं होती हैं।

आत्मा ने निगोद में अनंत पुद्गल परावर्तन काल[3] व्यतीत किया है। भव्यात्मा निगोद से बाहर निकलकर एकेन्द्रियादि गतियों में परिभ्रमण करती हुई नदी घोल पाषाण[4] न्याय से अकाम निर्जरा करके (सात कर्मों की स्थिति अंतःकोडाकोडी सागरोपम प्रमाण करके) ग्रंथि देश में आती है। तब आत्मा नवकार महामंत्र की प्राप्ति करती है और यावंत् परमात्मा के शासन की धर्मक्रियाओं तक आती है। **नदीघोलपाषाण न्याय से ग्रंथि देश में आने की क्रिया को यथाप्रवृत्तिकरण कहा जाता है।** आत्मा ने ऐसे अनंत यथाप्रवृत्तिकरण किये हैं और इनके योग से ग्रंथिदेश में अनेक बार आ चुकी है और द्रव्य से परमात्मा के शासन की धर्म क्रियाएं भी प्रायः अनंत बार की हैं। इसके बावजूद काल फलीभूत न हो, तब तक वह आत्मा चरमावर्त काल में नहीं आ सकती और अपने धर्म को शुद्ध नहीं बना सकती है। शुद्ध धर्म के बिना मुक्ति भी संभव नहीं हो सकती है। काल फलीभूत न हो तब तक आत्मा अचरमावर्त काल में ही होती है। (इसमें भव्य तथा अभव्य दोनों प्रकार की आत्माएं आती हैं।) अचरमावर्ती भव्यात्मा **दुर्भव्य** कहलाती है। अभव्य आत्मा कभी चरमावर्त काल में नहीं आती है।

जिस काल में आत्मा की मोक्षगमन की योग्यता फलीभूत होनेवाली है और आत्मा मोक्ष प्राप्त करनेवाली है अर्थात् जिस काल में आत्मा को मोक्ष प्राप्ति के लिये बाह्य-आंतरिक दोनों प्रकार का पुरुषार्थ करना है और इसमें सफलता प्राप्त करनी है, ऐसे 'एक पुद्गल परावर्तन' प्रमाण काल को चरमावर्त काल कहा जाता है। चरमावर्त काल की प्राप्ति में मुख्य कारण 'काल का परिपाक' है। शेष कारण गौण हैं। **स चरमपुद्गलपरावर्तः कालादेव प्राधान्येन इतरहेत्वपेक्षाविलम्बाऽभावरूपेण भवति। [षोडशक-५/३ टीका]**

चरमावर्त काल में आनेवाली आत्मा भी जब तक कर्म फलीभूत न हो, तब तक अपुनर्बंधक अवस्था को प्राप्त नहीं कर पाती है। अपुनर्बंधक अवस्था से ही सच्चा मोक्ष मार्ग (योग मार्ग) प्रारम्भ होता है। मोहनीय आदि कर्मों की उत्कृष्ट स्थिति और (अन्य अपेक्षा से) उत्कृष्ट रस जो आत्मा अब बांधनेवाला नहीं है, उसे अपुनर्बंधक कहा जाता है। अपुनर्बंधक अवस्था में आनेवाली आत्मा की परिणति अब इस प्रकार से अतिसंक्लिष्ट नहीं होनेवाली है, कि जिससे कर्मों की उत्कृष्ट स्थिति और रस प्राप्त हो। संक्षेप में, अति संक्लिष्ट परिणाम आने की जो मलीन योग्यता आत्मा में प्रवृत्त थी, वह अब नष्ट हो गई है। **अपुनर्बंधक अवस्था को प्राप्त करने में मुख्य कारण कर्म का परिपाक है** और गौण कारण के तौर पर पुरुषार्थ है। भवितव्यता आदि कारणों की भूमिका भी गौण रूप में है ही।

अपुनर्बंधक अवस्था से पुरुषार्थ की मुख्य भूमिका प्रारम्भ होती है। अब आत्मा को प्रत्येक कार्य, गुण तथा सिद्धियां पुरुषार्थ से ही सिद्ध करना हैं। काल, भवितव्यता और कर्म जो देनेवाला था, वह दे चुका है। अब आगे की प्रगति पुरुषार्थ से करनी है। ग्रंथि भेदन करके सम्यग्दर्शन प्राप्त करने से लेकर मोक्ष प्राप्त करने तक के सभी कार्यों में पुरुषार्थ की मुख्य भूमिका रहती है और शेष कारण गौण रूप से साथ रहते हैं।

प्रश्न : *भवितव्यतादि का परिपाक का मतलब क्या ?*

उत्तर : परिपाक[5] का मतलब फल प्रदान की अभिमुखता। जिस काल में फल की प्राप्ति होनेवाली हो, वह काल को अभिमुख बनाये, उसे **काल का परिपाक** कहा जाता है। (चरमावर्त काल में मोक्ष रूपी फल की प्राप्ति होनेवाली है, यह काल के अभिमुख ले जानेवाला काल का परिपाक है।) जिस काल में फल की प्राप्ति होनेवाली हो, उस काल में भी निश्चित अवस्था में फल की प्राप्ति होनेवाली होती है। ऐसी निश्चित अवस्था के अभिमुख ले जानेवाला **भवितव्यता का परिपाक है।** (अन्य अपेक्षा से) जिस काल में फल की प्राप्ति होनेवाली हो, उस काल में भी कर्म का अनुकूल भाव आवश्यक होता है। ऐसे कर्म के अनुकूल भाव के अभिमुख ले जानेवाला **कर्म का परिपाक है।**

काल, भवितव्यता तथा कर्म का परिपाक होता है, तब ही आंतरिक पुरुषार्थ के लिये भावोल्लास उत्पन्न होता है। इसीलिये कहा गया है कि, काल अनुकूल हो, भवितव्यता अनुकूल हो और कर्मविवर स्थान दे तो धर्मराज की नगरी में प्रवेश प्राप्त किया जा सकता है।

प्रश्न : *शास्त्रों में कहा गया है कि, आत्मा ने अनंत बार धर्म किया है। तो फिर अनंत बार के धर्म ने मोक्ष क्यों नहीं दिया ?*

उत्तर : आत्मा ने अनंत बार धर्म किया है अर्थात् अनंत बार संसार का त्याग करके प्रव्रज्या अंगीकार की है। इसके बावजूद काल, भवितव्यता या कर्म फलीभूत न होने से धर्म के लिये आंतरिक पुरुषार्थ नहीं हो पाया। बाह्य पुरुषार्थ बहुत किया, किन्तु आंतरिक पुरुषार्थ न होने से आंतरिक बंधन नहीं टूटे, इस कारण से आत्मा की संसार से मुक्ति नहीं हो पाई। **आत्मा को आंतरिक पुरुषार्थ की प्राप्ति चरमावर्त काल में ही प्राप्त होती है।** आगे के प्रकरणों में इस विषय में विस्तार से चर्चा की गई है।

प्रश्न : *आत्मा के भवितव्यता, कर्म, काल आदि कौन सुनिश्चित करता*

है और उनका परिपाक कब होंगा और कौन परिपाक करेगा, यह कौन सुनिश्चित करेगा ?

उत्तर : आत्मा के भवितव्यतादि तथा उनके परिपाक होने का काल ईश्वरादि कोई सुनिश्चित नहीं करता है। आत्मा का अपना स्वभाव ही यह सब सुनिश्चित करता है। इसमें आत्मा स्वयं कारण है। उसके अतिरिक्त कोई अन्य कारण नहीं है। एक आत्मा अनंत काल पहले निगोद से बाहर निकलकर क्रमशः चरमावर्त काल में आकर मोक्ष में पहुंच गई और दूसरी आत्मा अनंत काल के बाद निगोद से बाहर निकलेगी और क्रमशः प्रगति करके मोक्ष प्राप्त करेगी, इसमें विविध आत्माओं का तथाभव्यत्व ही नियामक (संयोजक) है। अन्य कोई व्यक्ति नियामक नहीं।

यदि नियामक के तौर पर किसी अन्य व्यक्ति को बीच में लाएंगे, तो तुरंत प्रश्न उठेगा कि वह एक आत्मा को अनंत काल पहले ही निगोद से बाहर ले आया और एक आत्मा को अनंत काल के बाद निगोद से बाहर लाया,ऐसा भेद-भाव क्यों ! इसीलिये कोई व्यक्ति अथवा अन्य तत्त्व इसमें नियामक नहीं है।

आत्मा की अपनी भवितव्यता ही ऐसी है कि अलग-अलग समय पर ही फलित होती है और आत्मा निगोद से बाहर आती है, आत्मा का काल तथा कर्म भी ऐसे ही हैं, कि जो अलग-अलग समय पर फलित होते हैं और फल देते हैं।

प्रश्न : ***तो फिर पुरुषार्थ का महत्त्व क्या रहेगा ?***

उत्तर : पुरुषार्थ का महत्त्व चरमावर्त काल में ही है। इसीलिये ज्ञानी चरमावर्ती आत्मा को ही धर्म प्रदान करते हैं और धर्म पुरुषार्थ की ओर मोड़ने का प्रयत्न करते हैं। अब आगे के प्रकरण में चरमावर्त काल तथा अचरमावर्त काल के विषय में चर्चा करेंगे।

➞ **टिप्पणकम् :-** 1. तंतु स्वभावे पट उपजावे, काल क्रमे रे वणाए,
भवितव्यता होय तो निपजे, नहीं तो विघन घणाए रे, प्राणी स. ४

तंतुवाय उद्यम भोक्तादिक, भाग्य सकल सहकारी,
इम पांचे मली सकल पदारथ, उत्पत्ति जुओ विचारी रे, पाणी स. ५
(समवाय कारणनुं स्तवन)

2. नियतिवशे हलु करमो थइने, निगोद थकी निकलीयो,
पुण्य मनुज भवादिक पामी, सद्गुरुने जइ मलियो रे, प्राणी स. ६
भवस्थितिनो परिपाक थयो तव, पंडित वीर्य उल्लसियो,
भव्यस्वभावे शिवगति पामी, शिवपुर जइ वसीओ रे, प्राणी स. ७

3. चौदह राजलोक में स्थित सभी पुद्गलों को ग्रहण कर उपभोग करके छोड़ दिया जाए, इसमें जितना समय लगता है, उसे एक **पुद्गलपरावर्तनकाल** कहा जाता है। एक पुद्गल परावर्तनकाल में अनंत चौबीसी (अनंत कालचक्र) पूर्ण हो जाते हैं। **एक कालचक्र** = २० कोड़ाकोड़ी सागरोपम प्रमाण काल।

4. नदी में बहता टकराता पत्थर (जैसे शिल्पकार के प्रयत्न के बिना) गोल-मटोल (चिकना) हो जाता है, वैसे ही जीवात्मा चार गतिरूपी संसार में भ्रमण करते हुए छेदन-भेदन-ताड़न-तर्जना आदि के दुःख (ज्ञान-इच्छा के बिना) भोगते हुए कर्मों में जो कटौती करता है, उसे **नदीघोलपाषाण न्याय** कहा जाता है।

5. पाकः फलादानाभिमुख्यम् **(षड् समु. श्लोक - ५३/टीका)**

✚✚✚

योगधर्म का अधिकारी कौन ?

औचित्यारम्भिणोऽक्षुद्राः, प्रेक्षावन्तः शुभाशयाः ।
अवन्ध्यचेष्टाः कालज्ञाः योगधर्माधिकारिणः ।।२४४।।

- निम्नलिखित गुणोंवाली आत्मा योग धर्म की अधिकारी है - (१) औचित्यपूर्वक प्रवृत्ति करनेवाली, (२) अक्षुद्र (गंभीर-उदात्त आशयवाली), (३) प्रेक्षावन्त (अति निपुण बुद्धिवाली), (४) शुभाशय = शुभ परिणामवाली, (५) सफल प्रवृत्ति करनेवाली और (६) काल को जाननेवाली (योग्य समय की ज्ञाता) **(योगबिन्दु)**

प्रकरण - ४ : अचरमावर्त काल-चरमावर्त काल

अचरमावर्त काल आत्मा का भवबाल्यकाल है तथा चरमावर्त काल आत्मा का धर्म यौवनकाल है।[1] व्यक्ति बाल्यावस्था में जैसे परमार्थ को नहीं समझ सकता है। वैसे ही अचरमावर्त काल में भी आत्मा परमार्थ को नहीं समझ पाती है। बाल्यावस्था में भोग सामग्री सामने हो तो भी बालक उसके लिये उत्साहित नहीं होता है, वैसे ही अचरमावर्त काल में भी आत्मा को धर्म सामग्री प्राप्त हो तो भी उसमें उसे सिद्ध करने का उल्लास पैदा नहीं होता है।

युवावस्था में व्यक्ति वस्तु के परमार्थ को (उपयोगिता-अनुपयोगिता के परमार्थ को) समझ सकता है, वैसे ही चरमावर्त में आत्मा वस्तु की सारता-असारता को समझ सकती है। युवावस्था में भोग-सामग्री की उपस्थिति में उसका भोग करने के लिये आत्मा उत्सुक होती है, वैसे ही चरमावर्त काल में आत्मा परमार्थ को समझने के कारण धर्म-सामग्री का सदुपयोग करके आत्म कल्याण करने के लिये उत्सुक होती है। यद्यपि, जैसे बाल्यावस्था में आत्मा कोई विचार किये बिना मात्र खेलकूद में समय व्यतीत करती है, वैसे ही अचरमावर्त में आत्मा तत्त्व-अतत्त्व का विचार किये बिना वर्तमान में उपस्थित हुए संयोगों के अनुसार ज़ीवन व्यतीत कर लेती है। इन्द्रियां जिस तरफ ले जाती हैं, उसी तरफ जाकर जीवन व्यतीत कर लेती हैं। अचरमावर्त काल में प्रगाढ़ मिथ्यात्व का उदय प्रवर्तमान होता है। इसलिये आत्माओं की मति में अत्यंत विपर्यास भरा होता है। इससे वे सार-असार तत्त्वों का विचार ही नहीं कर पाती हैं। **अचरमावर्ती आत्मा की अवस्था का वर्णन करते हुए योगलक्षण बत्तीसी में कहा गया है कि,**

न सन्मार्गाभिमुख्यं स्यादावर्तेषु परेषु तु।
मिथ्यात्वच्छन्नबुद्धीनां दिङ्मूढानामिवांगिनाम् ।।१०-३।।

भावार्थ : अचरमावर्त काल में आत्माओं की बुद्धि प्रगाढ़ मिथ्यात्व से

आवरित होती है। इससे दिशामोह प्राप्त आत्माओं की भांति ये आत्माएं सन्मार्ग की अभिमुख नहीं बनती हैं। जिससे उनका शुद्ध धर्म अर्थात् उनमें योग प्रकट नहीं होता है।

उन्मार्ग (संसार मार्ग) से विमुख हुए बिना सन्मार्ग (मोक्ष मार्ग) के अभिमुख नहीं हुआ जा सकता। अचरमावर्ती आत्माओं की बुद्धि में मिथ्यात्व ही छाया होने के कारण उन्हें सच्चे सुख का मार्ग पता नहीं होता है। जो वर्तमान में प्राप्त हुआ है, वही सच्चा और अच्छा है, यह मानकर परमार्थ को समझने की उनकी तैयारी ही नहीं होती है। इसी कारण वे संसार की असारता और मोक्ष की सारता नहीं समझ पाती हैं।

अचरमावर्ती आत्माएं अति प्रगाढ़ भवाभिनंदी होती हैं। भवाभिनंदी आत्माओं के लक्षण योगदृष्टिसमुच्चय, बत्तीसी और योगबिंदु ग्रंथ में दर्शाए गये हैं। इन लक्षणों पर विचार करने से अचरमावर्ती आत्माएं कैसी होती हैं, यह पता किया जा संकता है।

➠ **भवाभिनंदी :-**

भवाभिनंदी आत्मा असार संसार को भी स्त्री, स्वादिष्ट भोजन, बाग-बगीचा आदि विविध भोग सामग्रियों के कारण साररूप मानती है।[2] स्त्री आदि के क्षणिक सुखों के कारण ही भवाभिनंदी आत्मा असार संसार को साररूप मानने का कार्य करती है। संसार की कोई भी वस्तु इच्छित फल (आत्मा, जो जन्म-जन्म से दुःख रहित, स्थाई और विश्रांतियुक्त सुख की इच्छा रखती है, वह इच्छित फल) देने में समर्थ न होने के बावजूद तीव्र मिथ्याज्ञान के प्रभाव से भवाभिनंदी आत्मा को वह साररूप लगती हैं और **उसका इन दुःखरूप, दुःखदायी और दुःखानुबंधी सुखों में भी आनंद प्राप्त करने का स्वभाव होता है।**

भवाभिनंदी आत्मा जन्म-मृत्यु-वृद्धावस्था, रोग, शोक आदि से भरे संसार को

देखने के बावजूद अतिशय मोह के कारण संसार के प्रति उद्वेग प्राप्त नहीं करती है।[3] भवाभिनंदी आत्मा संसार को देखती है और जानती है। इसके बावजूद अतिशय मोह के कारण संसार के वास्तविक स्वरूप को नहीं देख पाती है। जो संसार दुःखरूप, दुःखदायी और दुःख परंपरक है, उसी संसार को (भौतिक सुखों के कारण) सुखरूप मानती है। इस कारण संसार की ओर उसका तीव्र आकर्षण होता है और इससे उसका संसार के प्रति उद्वेग भाव नहीं होता है। संसार के प्रति उद्वेग भाव के बिना संसार से विमुख नहीं हुआ जा सकता और संसार के प्रति विमुख हुए बिना मोक्ष मार्ग (सन्मार्ग) के अभिमुख नहीं हुआ जा सकता। इसीलिये **योगबिंदु** ग्रंथ में कहा गया है कि,

तीव्रपापाभिभूतत्वाज्ज्ञानलोचनवर्जिताः।
सद्वर्त्मावतरन्त्येषु, न सत्त्वा गहनान्धवत् ।।८५।।

- जैसे जंगल में फंसा हुआ जाति से अंध व्यक्ति राजमार्ग को प्राप्त नहीं कर पाता है। वैसे ही तीव्र पाप से अभिभूत होने के कारण सम्यग्ज्ञान रूपी लोचन से रहित, अचरमावर्ती भवाभिनंदी आत्मा को सन्मार्ग की प्राप्ति नहीं होती है।

भवाभिनंदी आत्मा की मति तीव्र पाप से अभिभूत होने के कारण वह कुकृत्य (बुरे कार्य) को भी अच्छा मानती है और सुकृत्य (अच्छे कार्य) को भी खराब मानती है तथा दुःख में सुख खोजती है।[4] **भवाभिनंदी की मनोःस्थिति को दर्शाने के लिये योगदृष्टि ग्रंथ में खुजली के रोगी का उदाहरण दिया गया है।**[5] एक खुजली का रोगी है। रेत के मैदान में पड़ा-पड़ा अपने नाखूनों से खुजलाने का काम करता है। खुजलाने से शुरू में तो आनंद प्राप्त होता है, परन्तु बाद में ज्यादा खुजलाने से रक्तस्राव शुरू हो जाता है और बहुत जलन होने लगती है। इसके बावजूद खुजलाने का काम तो चालू ही रहता है। खुजलाते-खुजलाते नाखून घिस चुके हैं। इससे खुजलाने में विक्षेप पड़ रहा है। इसी समय एक वैद्य घास का पूड़ा लेकर वहां से गुजरा। रोगी खुजलाने के लिये

उससे घास का एक तिनका मांगता है। वैद्य उसे दे देता है। इसके बाद रोगी उससे खुजलानेवाले ऐसे तिनके कहां मिलते हैं, इसके बारे में पूछता है। तो वैद्य उससे उल्टा प्रश्न पूछता है कि तुझे इससे क्या है ? रोगी से कारण जानने के बाद वैद्य उसे बताता है कि, यह खुजलाने का झंझट ही न रहे, इसलिये एक औषधि बताता हूं। यह उपचार करने से तेरा रोग नष्ट हो जाएगा। इसके बाद तुझे खुजलाने के साधन की जरूरत ही नहीं पड़ेगी। रोग भी जाएगा, रोग की पीड़ा भी चली जाएगी और साधन की पराधीनता भी चली जाएगी। तब रोगी कहता है कि, यदि खुजली ही मिट जाएगी तो खुजलाने से जो आनंद प्राप्त होता है, वह कैसे मिलेगा ? इसलिये मुझे आपकी औषधि की कोई आवश्यकता नहीं है। मुझे तो बस खुजलाने का साधन ही चाहिये।

भवाभिनंदी आत्मा भी प्रारंभ में जो रमणीय और विपाक में दारुण है, ऐसे सुखों में प्रगाढ़ सुख बुद्धि रखती है। दुःख रूप पौद्गलिक पदार्थों में अतिशय मोह के कारण प्रगाढ़ सुख बुद्धि होने के कारण परिणामतः भयंकर दुःखदायी सुखों में भी उसे दुःख के दर्शन नहीं होते हैं। कदाचित दुःख दिख भी जाए तो भी अतिशय मोह के कारण वह दुःखों के साथ समाधान कर लेती है और भविष्य के दुःखों को आमंत्रित करके भी वह वर्तमान सुखों के लालच को नहीं छोड़ती है।

यद्यपि, पाप कार्यों से भविष्य में दुर्गति होगी और वहां अपार दुःख सहन करने पड़ेंगे, यह बात उसकी समझ में ही नहीं आती है। इसलिये कुकृत्यों को भी वह परम कृत्य मानकर करती है। **इसके अलावा धार्मिक कार्यों से आत्म कल्याण होता है और उनसे आत्मा की दुःखद परम्पराओं का अंत होता है, यह बात अतिशय मोह के कारण उसकी समझ में आती ही नहीं है।** इसलिये भवाभिनंदी आत्मा निरंतर पाप कार्यों में रत् रहकर स्वयं को पाप से मलीन करने का ही कार्य करती है।[6] वह पाप से अभिभूत होने के कारण किसी भी कार्य को उसके परमार्थ का विचार किये बिना ही करती है।

इसलिये भवाभिनंदी आत्मा को **कर्म भूमि** में (धर्म के लिये योग्य भारत क्षेत्र आदि कर्मभूमि में) मनुष्य जन्म प्राप्त होने के बावजूद वह कभी स्वयं के अंदर धर्म का बीजारोपण करती ही नहीं है[7] और मछली पकड़नेवाले कांटे पर लगे मांस जैसे विपाक से दारुण और तुच्छ सुखों में हंमेशां आसक्त रहकर सत्कार्यों का त्याग करती रहती है।[8] **संसार के सुख मछली पकड़नेवाले कांटे पर लगे हुए मांस जैसे हैं।** मछली को मांस का टुकड़ा दिखाई देता है, परन्तु प्राणघातक कांटा दिखाई नहीं देता है। इसलिये वह उस मांस को प्राप्त करने के लिये दौड़ती है और अंततः कांटे में फंसकर प्राण गंवा देती है। वैसे ही संसार के सुखों के पीछे भयंकर दुःख छुपे होते हैं। **परन्तु भवाभिनंदी आत्मा को मछली की ही तरह मात्र बाह्य सुख ही दिखते हैं, परन्तु पीछे छिपे भयंकर दुःख नहीं दिखते हैं। इसलिये वह उनमें आसक्त होकर जीवन के वास्तविक कर्तव्यों को भूल जाती है।**

कर्म भूमि में धर्म सामग्री से संपन्न मनुष्य जन्म मिलने के बाद जीवन का एक मात्र कर्तव्य आत्म कल्याणार्थ श्री जिनेश्वर परमात्मा के धर्म का पालन करना है। अतः सुखदायी धर्म के ही बीज हृदय में रोपना और उनसे धर्म (योग) रूपी वृक्ष के सर्जन की भूमिका तैयार करना ही मनुष्य जन्म का परम कर्तव्य है। परन्तु भवाभिनंदी आत्मा भौतिक सुखों के प्रति इतनी अधिक आसक्त होती है कि उसे किसी भी कीमत पर यह बात समझ में नहीं आती है। इसलिये धर्म के बीजारोपण और संवर्धन के प्रति वह सर्वथा उपेक्षित ही रहती है।

भवाभिनंदी आत्मा का स्वरूप और स्पष्ट करते हुए योगदृष्टिसमुच्चय ग्रंथ में कहा गया है कि[9], भवाभिनंदी आत्मा का जीवन विपर्यास से भरा होता है अर्थात् उसकी बुद्धि विपर्यास से व्याप्त होती है। उसे जहां सुख नहीं होता है, वहां सुख दिखाई देता है और जिस कार्य से सुख नहीं मिलता है, उसी कार्य को वह सुख का कारण मानकर करती है। इसी प्रकार जहां स्थाई और सच्चा सुख है, वहां वह सुख मानने को तैयार नहीं होती है। अंततः जिस कार्य से स्थाई और सच्चा सुख मिल

सकता है, उस कार्य को सुख का कारण मानकर उसे करने की उसकी तैयारी नहीं होती है। - यह बुद्धि का महत्त्वपूर्ण विपर्यास है। इस एक विपर्यास से उसके जीवन में पग-पग पर कई प्रकार के विपर्यास ही दिखाई देते हैं। **इस विपर्यास का मूलभूत कारण यह है कि भवाभिनंदी आत्मा हिताहित के विवेक से अंध होती है।** उसके पास योग्य-अयोग्य का सच्चा विवेक ही नहीं होता है। आसक्तियां और उनसे उत्पन्न हुए आवेगों में तो जहां से जैसा सुख मिले वैसा सुख प्राप्त करने का उद्देश्य होता है और परिणामस्वरूप वह हित-अहित का विचार करने के लिये रुकती ही नहीं है। **तीव्र आसक्तियां इच्छित वस्तु के पराधीन बना देती है। इस कारण इच्छित वस्तु परिणामतः हितकारी है या अहितकारी है, इसका विचार करने का भी धैर्य आसक्त आत्मा के पास नहीं रहता है।**

भवाभिनंदी आत्मा को सम्यग्ज्ञान रूपी आंख ही प्राप्त नहीं हुई है। इसलिये वह मात्र वर्तमान का ही विचार करती है और उसके फलस्वरूप पग-पग पर दुःखी होती है। **मात्र वर्तमान की दृष्टि दुःख ही देती है।** वर्तमान दृष्टिवाली आत्मा भविष्य को नहीं देख पाती है और भूतकाल का भी अवलोकन नहीं कर पाती है। ज्ञानी उसे भूतकाल की भटकन के विषय में बताएं तो भी उसकी उसे देखने की तैयारी नहीं होती है और वे भविष्य की भयावह स्थिति दिखाएं तो भी उसकी उसे समझने की तैयारी नहीं होती है। क्योंकि, वह मात्र वर्तमान में ही राचती रहती है। वह **"यह भव मीठा तो परभव किसने देखा"** की मान्यता में जीनेवाली होती है।

➠ भवाभिनंदी के लक्षण :-

भवाभिनंदीता, यह आत्मा का एक अत्यंत मलीन परिणाम विशेष है। यह परिणाम तो अतीन्द्रिय है। इसलिये इसे पहचानने के कुछ लक्षण हमने अभी देखे। अब विशेष लक्षण देखेंगे। **लक्षण दर्शाते हुए योगदृष्टिसमुच्चय ग्रंथ में कहा गया है कि,**

क्षुद्रो लाभरतिर्दीनो, मत्सरी भयवान् शठः।
अज्ञो भवाभिनन्दी स्यान्निष्फलारम्भसंगतः ।।७६।।

भवाभिनंदी आत्मा के आठ लक्षण हैं - (१) क्षुद्रता, (२) लाभरति, (३) दीनता, (४) मात्सर्य, (५) भय, (६) शठता, (७) अज्ञानता और (८) विफल क्रिया का आरम्भ।

(१) क्षुद्रता :

क्षुद्रता अर्थात् कृपणता और तुच्छता। हृदय की उदारता एवं उदात्तता, दोनों के अभाव को क्षुद्रता कहते हैं। भवाभिनंदी आत्मा क्षुद्र होती है। क्योंकि वह पुद्गलानंदी होती है। उसकी मान्यता होती है कि बस पुद्गल में ही आनंद है और पुद्गल के अतिरिक्त कहीं आनंद हो ही नहीं सकता। इसीलिये उसमें अधिकाधिक पौद्गलिक सुख भोगने की लालसा होती है। इसके कारण उसकी संग्रहवृत्ति भी प्रबल होती है। संग्रहवृत्ति के कारण वह अपने सुखों अथवा अपने पास मौजूद वस्तु किसी को देने की नियत नहीं होती है। यही वृत्ति कृपणता का पोषण करती है। उसे किसी अन्य का विचार ही नहीं आता है। दूसरों के दुःख देखकर उसके हृदय में कभी कंपन नहीं होता है। पुद्गलानंदी होने के कारण उसमें अन्य भी कई सारी तुच्छ वृत्तियां होती हैं। भवाभिनंदी होने के कारण उसमें स्वोत्कर्ष की प्रबल भावना, परापकर्ष की प्रबल वृत्ति, दोष दर्शन, अन्य के दोषों को दर्शाने की वृत्ति, निंदा-चुगली करने की वृत्ति, अपने गुणगान करने की वृत्ति, दूसरों के दुःख में प्रसन्न होने तथा दूसरों के सुखों से ईर्ष्या करने की वृत्ति आदि अनेक प्रकार की तुच्छ वृत्तियां होती हैं।

(२) लाभ रति :

लाभ रति के दो अर्थ होते हैं। (१) दूसरों की अच्छी वस्तु देखकर उसे मांग लेने की वृत्ति को लाभरति कहते हैं और (२) स्वयं को कोई पसंदीदा वस्तु मिलने पर उसमें रति उत्पन्न होती है और उस वस्तु का लोभ बढ़ता है अर्थात्

लाभ से लोभ बढ़ने की वृत्ति यानी **लाभरति।** भवाभिनंदी आत्मा को संसार के सुख में ही सर्वस्व के दर्शन होने के कारण उसे जैसे-जैसे संसार सुख मिलता जाता है, वैसे-वैसे उसमें उसकी रति बढ़ती जाती है और साथ ही और अधिक पाने का लोभ जागृत होता है। **लाभ से लोभ का बढ़ना और उस लोभ को पूरा करने का तीव्र परिणाम अर्थात् भवाभिनंदिता।**

(३) दीनता :

हंमेशा स्वयं के अकल्याण को देखना **दीनता** कहलाती है अर्थात् अपने पापकर्म के उदय से जीवन में कोई भी छोटी-बड़ी प्रतिकूलता आए तब जैसे सारी दुनिया का दुःख अपने ही सिर पर आ गिरा हो, इस तरह से शून्य मनस्क हो जाना दीनता है और यह भवाभिनंदिपणे का लक्षण है। स्वकर्म के उदय से आया हुआ दुःख सहन करने की इच्छा न हो तब जीवन में दीनता आती है। सुख की रति ही दीन बनाती है। भवाभिनंदी आत्मा के हृदय में निरंतर एक ही बात रमण करती रहती है कि, 'किसी भी तरह सुख मिलना ही चाहिये और प्राप्त सुख जाना नहीं चाहिये' - ऐसे परिणाम के कारण जब उसका सुख चला जाता है और दुःख आ पड़ता है, तो वह आत्मा दीन बन जाती है।

भवाभिनंदी के पास भवस्थिति तथा कर्मस्थिति का सच्चा ज्ञान नहीं होता है। इसलिये उसे संसार के पदार्थों, सुखों, अवस्थाओं आदि की परिवर्तनशीलता, क्षणभंगुरता, अधूरापन, दुःख मिश्रितता और पराधीनता आदि *का अनुमान नहीं होता है। कर्म की विषमता और उसके कारण आनेवाले* उतार-चढ़ाव का भी उसे कोई अनुमान नहीं होता है। इससे रंगीन कल्पनाओं में जीनेवाली भवाभिनंदी आत्मा को जब संसार अपनी सच्चाई और कर्म अपनी कुटिलता दिखाते हैं तो वह दीन बन जाती है। **संसार में एक समान अवस्था और सातत्यपूर्ण जीवन प्रवाह कभी संभव ही नहीं है।** संसार आत्माओं की इच्छानुसार नहीं चलता है। बल्कि कर्मों की इच्छानुसार चलता है। ऐसी स्थिति

में जब कुछ इच्छा से विरुद्ध होता है, तब भवाभिनंदी आत्मा दीन बन जाती है। **प्राप्त सुख अथवा दुःख स्थाई नहीं हैं, यह सहज रूप से अनुभव होनेवाली बात भी भवाभिनंदी आत्मा की समझ में नहीं आती है।** इसीलिये वह सुख में अत्यंत रची-पची रहती है और जब सुख चला जाता है अथवा चले जाने के संकेत मिलते हैं या बीच में कोई अवरोध अथवा विघ्न आ जाता है तो वह दीन बन जाती है। **संसार में सुख-अनुकूलताएं मिलती हैं तब आत्मा ऐसी कल्पना में राचती है कि, अब मेरे जीवन में कोई दुःख अथवा प्रतिकूलताएं नहीं आनेवाली हैं। इसी कारण वह वास्तविकता से बहुत दूर रहती है। जब उसे वास्तविकता का अनुभव होता है तब उसकी कल्पनाएं चूर-चूर हो जाती हैं और वह दीनता के सागर में डूब जाती है। इन कल्पनाओं के मूल में अज्ञान-अविवेक ही काम करता है।**

(४) मात्सर्य :

दूसरों का कल्याण होते देखकर दुःखी होना, यह मात्सर्य दोष है अर्थात् दूसरों के भौतिक उत्कर्ष के प्रति असहनशील बनना और दुःखी होना, मात्सर्य दोष है और यह भवाभिनंदिपणे का लक्षण है।

भवाभिनंदी आत्मा की भौतिक सुख, सुख के साधन और धन संपत्ति के प्रति तीव्र सुख बुद्धि होती है। साथ ही ये सुख मुझे ही अधिकाधिक प्राप्त होने चाहिये, ऐसी तुच्छ वृत्ति होती है। इसके अलावा उसे स्वयं को प्राप्त संपत्ति का अपार अभिमान होता है तथा तीव्र सन्मानेच्छा सताती है। जिससे दूसरों के पास अधिक संपत्ति हो अथवा मान-सन्मान हो, तो भवाभिनंदी आत्मा उसे सहन नहीं कर पाती है। उसे ईर्ष्या होती है। सभी को अपने-अपने कर्मानुसार संपत्ति आदि प्राप्त होते हैं और दूसरों को ज्यादा प्राप्त हो जाने से हमारा कुछ नहीं बिगड़ जाएगा, ऐसी सामान्य बात भी भवाभिनंदी की समझ में नहीं आती है। क्योंकि, उसमें अत्याधिक तुच्छता होती है।

यह तुच्छता दूसरों का अच्छा होना प्रसन्नता से नहीं देखने देती है। जो दूसरों

का खुद को प्राप्त नहीं होनेवाला है और दूसरों का जो अच्छा हुआ है वह हमारा कुछ बिगाड़नेवाला नहीं है, इतनी वास्तविकता भी समझ में आ जाए तो ईर्ष्या होने का कोई कारण न रहे। वास्तव में दूसरों के पास कुछ भी अच्छा हो या अधिक हो, इससे हमें कोई फर्क नहीं पड़ता है। इसके बावजूद परिपुष्ट संसार-विषय-कषाय की रुचि हमारी दृष्टि में विष घोल देती है और इसीलिये दूसरों को देखकर ईर्ष्या होती है। भवाभिनंदी आत्मा संसार में पूर्णतः लिप्त होकर उसे भोगती है और जो संसार में लिप्त होकर उसे भोगती है उसकी कषाय की रुचि को खूब पोषण मिलता है। इसी कारण ईर्ष्या, पैशून्य, अभ्याख्यान तथा निंदा ये चार दोष (तुच्छता से पैदा होनेवाले चार दोष) चाहें अथवा न चाहें, आ ही जाते हैं। लिप्त होकर संसार को भोगने से पुद्गल के साथ तादात्म्यभाव तथा प्राणियों के प्रति भेदभाव पुष्ट होता है। प्राणियों के प्रति भेदभाव तुच्छता को पैदा करता है और उससे ईर्ष्यादि दोषों का जन्म होता है। पुद्गल के साथ तादात्म्य भाव और प्राणियों के प्रति भेदभाव पोषित होने से स्वार्थ वृत्ति, निंदा वृत्ति, ईर्ष्या वृत्ति, दोष-दर्शन की वृत्ति, चुगली, असूया वृत्ति, (झूठे आरोप लगाने की वृत्ति), प्रतिस्पर्धा का भाव, अन्य को पछाड़ने या पीछे छोड़ने की वृत्ति, अन्य से आगे निकल जाने की **महत्त्वाकांक्षा,** स्वभाव में कृत्रिमता आदि अनेक प्रकार की दुष्प्रवृत्तियों का जन्म होता है।

(५) भय :

भवाभिनंदी आत्मा निरंतर भयभीत रहती है। क्योंकि संसार सुख के प्रति उसकी सुख बुद्धि तीव्र होती है और इस कारण उसकी आशंसा तीव्र होती है और संप्राप्त सुख चले तो नहीं जाएंगे न ! और दुःख तो नहीं आ पड़ेंगे न ! इस प्रकार का भय उसे लगातार सताता रहता है। भवाभिनंदी के पास भवस्थिति तथा कर्मस्थिति का सच्चा बोध नहीं होता है। इसलिये वह निश्चित प्रकार की आशाओं के साथ जीवन व्यतीत करती है। जब इन आशाओं की इमारतें टूटती हैं तो वह भयभीत हो जाती है। **संसार की क्षणभंगुरता उसे निरंतर भयभीत**

रखती है। संसार की परिवर्तनशीलता उसे लगातार आशंकित रखती है।

संसार में प्रत्येक प्राणी का भविष्य अत्यंत रहस्यमय होता है। भविष्य के गर्भ में क्या छिपा है, यह किसी को पता नहीं होता है। जिसके पास भवस्थिति और कर्म स्थिति का ज्ञान नहीं, वह प्राणी भविष्य के लिये लगातार चिंतित रहता है। इसमें यदि कुछ धारणा से विपरीत होता है अथवा ऐसा वातावरण बनता है तो वह भयभीत हो जाता है। जो संसार को अच्छी तरह से समझते हैं और कर्म से प्राप्त हुई वस्तुओं के स्वरूप को समझते हैं, उन्हें कभी भय नहीं लगता है। जहां परिग्रह है, वहां भय अवश्य होता है। **पदार्थ अथवा व्यक्ति के प्रति ममत्व भी परिग्रह ही है। इसलिये उसके वियोग का भी भय रहता है। जिसका जीवन स्वाधीन है, उसे कोई भय नहीं होता है। जिसका जीवन पराधीन है, उसे किसी न किसी प्रकार का भय सताता ही है।** भवाभिनंदी आत्मा को स्वाधीन मोक्ष के सुख में श्रद्धा ही नहीं है। वह तो सामने स्थित पदार्थों से सुख ढूंढती है। इसलिये पराधीनता की जंजीर उसे जकड़ लेती है और वह जंजीर उसे लगातार भयभीत रखती है।

(६) शठता :

दूसरों को ठगने की वृत्ति को **शठता** कहते हैं। भवाभिनंदी आत्मा किसी भी तरह से संसार का सुख पाने और अपना संसार सजाने की मनोवृत्ति वाली होती है। संसार के तीन अंगों स्त्री, संपत्ति और सत्ता-प्रतिष्ठा के प्रति उसे तीव्र आसक्ति होती है। इससे तीनों को प्राप्त करने, भोगने और जतन करने के लिये कोई भी उपाय करने के लिये तैयार होती है। सीधे सरल उपायों से ये प्राप्त न हों तो मायाजाल और प्रपंच रचने की भी तैयारी रहती है। संसार के स्त्री आदि तीनों अंग मरीचिका समान हैं और वे कभी तृप्ति या विश्रांति देने में सक्षम नहीं होते हैं। यह बात भवाभिनंदी आत्मा नहीं समझती है। इसलिये वह स्त्री आदि के सुखों को अपना ध्येय बना लेती है और ध्येय की प्राप्ति के लिये कुछ भी

मायाजाल-प्रपंचादि उपाय करने के लिये तैयार हो जाती है।

(७) अज्ञता : भवाभिनंदी आत्मा को प्रगाढ़ मिथ्यात्व का उदय होने से संसार के प्रति उसे अत्यंत सन्मान भाव होता है और इसी कारण उसकी मति कुंठित होती है। जिससे आत्मा के हित व अहित से अनजान रहती है। सुख के कारणों को दुःख का कारण और दुःख के कारणों को सुख के कारण मानती है। जीवन में आए दुःखों को दूर करने का विवेक उसे कभी प्राप्त नहीं होता है। इसी कारण से भवाभिनंदी आत्मा अज्ञ अर्थात् मूर्ख होती है।

संसार स्वयं दुःख रूप है, यह ज्ञान भवाभिनंदी के पास नहीं होता है। इसलिये वह संसार में आनेवाले दुःखों को दूर करने के उपाय करती रहती है। परन्तु दुःखों का मूल कारण संसार स्वयं है, यह बात नहीं समझने के कारण वह जो-जो उपाय करती है, उन उपायों से दुःख नष्ट होने के बदले बढ़ता जाता है। कदाचित दुःख टल जाए तो भी वह थोड़े समय की राहत होती है। संसार दुःख रहित हो ही नहीं सकता।

भवाभिनंदी आत्मा के पास जो ज्ञान होता है, वह वर्तमान जीवन को सजाने और उसका आनंद लेने तक ही सीमित होता है। उसमें हेय-उपादेय का विवेक देने की शक्ति नहीं होती है। इसलिये वास्तव में वह ज्ञान अज्ञान स्वरूप है। **आत्मा के आत्यंतिक-एकांतिक हित-अहित का ज्ञान न दे, ऐसा कोई भी ज्ञान वास्तव में अज्ञान ही होता है।** ऐसा ज्ञान संसार में सफल बनाने, पाप करने की कला में निपुण बनाने और कषाय बढ़ाने में ही काम आता है। भवाभिनंदी को ऐसा अज्ञान ही पसंद आता है।

(८) निष्फलारंभी :

भवाभिनंदी आत्मा विफल क्रियारंभी होती है अर्थात् उसकी कोई भी क्रिया विफल हो जाती है। क्योंकि उसको सभी स्थानों पर अतत्त्व का अभिनिवेश होता है। भवाभिनंदी आत्मा को संसार सुख अत्यंत प्रिय होने से "मेरा सुख कहीं चला

न जाए'' - इस आशंका से वह सदैव सुख प्राप्ति के लिये क्रियाशील रहती है। परन्तु सुख स्थाई नहीं होता है और दुःख आए बिना नहीं रहता है। इसलिये उसकी सारी क्रियाएं विफल हो जाती हैं। उसका अतत्त्व का आग्रह होने से सुख-दुःख के साधनों का सच्चा बोध वह प्राप्त नहीं कर पाती है। इसलिये वह सुख प्राप्ति हेतु जो क्रिया करती है, इससे कालांतर में उसे दुःख की ही प्राप्ति होती है और दुःख दूर करने की जो क्रिया करती है, उससे कालांतर में दुःख बढ़ता जाता है।

सुख आत्मा में है, पुद्गल में नहीं, यह बात ही उसकी समझ में नहीं आती है। उसका आग्रह पुद्गल में ही सुख मानने का होता है। इसी कारण जहां सुख नहीं है, वहां वह सुख की तलाश करती रहती है। लेकिन इसमें उसे कभी सफलता नहीं मिलती है। जो भी क्षणिक सुख प्राप्त होता है, वह भी दुःख के प्रतिकार स्वरूप मिलता है, इसलिये कालांतर में दुःख की ही प्राप्ति होती है। पौद्गलिक पंदार्थों में प्रवृत्ति करने से इच्छा और उसमें से जन्मे हुऐ आकुलता-व्याकुलतादि दुःखों में जो कमी आती है, उसे वह सुख मान बैठती है। वास्तव में वे दुःख अनुत्कट अवस्था में चले जाते हैं, परन्तु समूल नष्ट नहीं होते हैं। दुःखों की कमी होने से सुख का मात्र आभास होता है, कालांतर में यह भ्रम भी टूट जाता है और उसे पुनः दुःख की ही प्राप्ति होती है। **भवाभिनंदी आत्मा यह सूक्ष्म बात नहीं समझती है। क्योंकि वह अज्ञ है और अतत्त्व की अभिनिवेशी है।**

इस प्रकार आठों लक्षणों की चर्चा की। विस्तार से वर्णन नहीं किया है। इसमें बताई गई दिशा से भवाभिनंदी आत्मा का स्वरूप कैसा होता है, इसकी पहचान सुनिश्चित हो जाती है। वास्तव में इन लक्षणों से स्वयं की पहचान करनी चाहिये कि हम स्वयं भवाभिनंदी हैं अथवा नहीं ? और भवाभिनंदी आत्मा के लक्षण अपने जीवन में दिखाई दें तो यह पता करना चाहिये कि वे उत्कट हैं या मंद हैं ? यह सुनिश्चित करने के पश्चात् दोषों को दूर करने का उपाय करना चाहिये।

प्रश्न : *भवाभिनंदी आत्मा धर्म कर सकती है अथवा नहीं ? और करे तो किस उद्देश्य से करे ?*

उत्तर : भवाभिनंदी आत्मा संसार में रमण करती है। इसलिये वह धर्म नहीं कर सकती। कदाचित करे भी तो संसार सुख के लिये अथवा लोकरंजन-लोगों को दिखाने के लिये ही करती है। **योगबिंदु** ग्रंथ में कहा गया है कि,

भवाभिनन्दिनः प्रायस्त्रिसंज्ञा एव दुःखिताः।
केचिद्धर्मकृतोऽपि स्युर्लोकपङ्क्तिकृतादराः ।।८६।।

- भवाभिनंदी आत्माएं प्रायः तीन[10] संज्ञाओं से ही (आहार, भय तथा परिग्रह) दुःखी होती हैं-पीड़ित होती हैं। (इसीलिये धर्म नहीं करती हैं।) परन्तु कुछ आत्माएं धर्म करती हैं, लेकिन कीर्ति आदि की स्पृहा से लोगों का ध्यानाकर्षित करने के लिये ही प्रयत्नशील होती हैं।

भवाभिनंदी आत्माएं आहारादि संज्ञा से (संज्ञा के उदय से) पीड़ित होती हैं। इसलिये उनका खिंचाव भौतिक सुखों तथा परिग्रह की तरफ ही होता है। (कुछ लोग कभी-कभी परिग्रहादि के लोभ से विषय सुखों को गौण करते दिखाई देते हैं। स्त्री आदि को छोड़कर विदेश जाते दिखाई देते हैं। इस प्रकार मैथुन संज्ञा का त्याग किया है।) सामान्यतः तो भवाभिनंदी आत्मा चारों संज्ञाओं से ही पीड़ित होती हैं और साथ ही दुःखी भी होती है। क्योंकि (पौद्गलिक वासना के बल रूपी) **संज्ञा** के उदय से उनमें आहार, मैथुन, परिग्रह आदि की तीव्र आसक्ति होती है। तीव्र आसक्ति के कारण वे सब तृप्ति प्रदान करने में समर्थ नहीं हैं, यह बात समझ में नहीं आती है और तीव्र आसक्ति के कारण कितने भी सुख प्राप्त करने और भोगने के बावजूद उसे संतोष नहीं होता है। असंतोष की अग्नि प्रज्जवलित ही रहती है। उसका मन निरंतर उनमें भटकता रहता है। हर बार की प्रवृत्ति के अंत में यह भ्रम लेकर बाहर आती है कि, 'अब मुझे तृप्ति मिल जाएगी।' परन्तु यह भ्रम थोड़े ही समय में टूट जाता है और मन पुनः भोग

कामनाओं तथा परिग्रहादि की लालसा से भर जाने के कारण वह दुःखी हो जाती है। **संज्ञा से पीड़ित आत्मा के पास अपनी इस मानसिक पीड़ा का अंत करने का विवेक नहीं होता है।**[11] ऐसी स्थिति में भवाभिनंदी आत्माएं धर्म करती ही नहीं हैं। क्योंकि उनकी भोग में रुचि होती है। भोग में रुचि हो, उसे त्यागमय धर्म करने में रुचि कैसे हो सकती है ? और कदाचित वह धर्म करती भी है तो भोगों की प्राप्ति के लिये ही करती है।

कई बार कुछ भवाभिनंदी आत्माएं लोकरंजन-लोगों के समक्ष दिखावा करने के लिये भी धर्म करती हैं। इसमें उनका जो मलीन आशय होता है, वह ये कि, लोगों के समक्ष दिखावा-लोकरंजन करके मान-सन्मान, कीर्ति-यश प्राप्त करना। लोकरंजन के लिये धर्म करके भवाभिनंदी आत्मा महान धर्म को लघु बनाती है और इससे उसे दारुण परिणाम (दुरन्त संसार भ्रमण) प्राप्त होता है। जो धर्म मोक्ष प्रदान करने में सक्षम है और तारक तीर्थंकरों ने मोक्ष प्राप्ति के लिये जिसकी जगत में प्रतिष्ठा की है, उस धर्म को तुच्छ कोटि के संसार सुख तथा मानादि के लिये भुनाना, धर्म की घोर अवहेलना करने के समान है और तारक तीर्थंकरों की आशातना है। महान धर्म छोटा दिखता है और जगत में गलत परम्पराएं शुरू होती हैं। इससे आत्मा को दुरंत संसार में भ्रमण करना पड़ता है। **प्रभु ने जिसके लिये और जिस स्वरूप में धर्म को जगत में प्रस्थापित किया है, उसी धर्म को अलग ही उद्देश्य से तथा अलग ही स्वरूप में करना, वह प्रभु की भयंकर आशातना है।**

प्रश्न : ***भवाभिनंदी आत्मा मोक्ष मार्ग में प्रवेश करने के लिये समर्थ क्यों नहीं बनती है ?***

उत्तर : मोक्ष मार्ग में प्रवेश करने के लिये वृत्ति तथा परिणति जिस प्रकार की होनी चाहिये, उस प्रकार की वृत्ति-परिणति भवाभिनंदी आत्मा में प्रकट ही नहीं होती हैं। सर्वप्रथम तो मोक्ष के प्रति अद्वेषभाव-मोक्ष का राग चाहिये। वही उसके हृदय में प्रकट

नहीं होता है। साथ ही मन की उदात्तता आदि गुण चाहिये, वे भी पूर्व में दर्शाए दोषों के कारण प्राप्त नहीं होते हैं। इसलिये वह मोक्ष मार्ग में प्रवेश के योग्य नहीं बन पाती है। **भवाभिनंदी आत्मा को दृढ़ अज्ञान तथा प्रगाढ़ मिथ्यात्व के कारण मुक्ति से द्वेष होता है। इसलिये उसका योग मार्ग में प्रवेश नहीं होता है।** (इस विषय को और विस्तार से 'अपुनर्बंधक अवस्था' नामक प्रकरण में स्पष्ट करेंगे।)

प्रश्न : *भवाभिनंदीपणे का नाश कब और कैसे होता है ?*

उत्तर : अचरमावर्त काल में भवाभिनंदीपना अत्यंत प्रगाढ़ होता है। वह किसी भी प्रकार से नष्ट नहीं हो सकता है। काल के परिपाक से आत्मा चरमावर्त काल में आए तब वह निवर्तनीय कोटि का (उपाय द्वारा दूर हो सके एसा) बन जाता है। कर्म के परिपाक से आत्मा अपुनर्बंधक अवस्था प्राप्त करती है तब इस भवाभिनंदीपने का अधिकतम ह्रास होता है। उसके दोष अत्यंत मंद हो जाते हैं। इसके बावजूद भवाभिनंदीपने के दोषों के अंश प्रथम गुणस्थानक के अंत तक रहते हैं। चौथी दृष्टि के अंत में अवेद्यसंवेद्य पद का नाश होता है तब भवाभिनंदीपने का भी नाश हो जाता है।

इस भवाभिनंदीपने का नाश करने के लिये अवेद्यसंवेद्य पद का नाश करना आवश्यक है और अवेद्यसंवेद्य पद का नाश आगमज्ञाता सद्पुरुषों के संग से ही होता है।[13] इस विषय की विशेष चर्चा 'अपुनर्बंधक अवस्था' नामक अगले प्रकरण में करेंगे। भवाभिनंदीपना कैसे मोक्ष मार्ग में प्रवेश नहीं करने देता है और उसके आंशिक अंश भी कैसे शुद्ध धर्म (तात्त्विक धर्म) को प्राप्त नहीं करने देते हैं। इस पर भी आगे चर्चा करेंगे।

➠ मोक्षमार्ग में अवरोधक भावमल :-

पुद्गल आदि के साथ संबंध करने की योग्यता को भावमल कहा जाता है[14] अर्थात् पुद्गलादि में रमने और कर्म पुद्गल के साथ संबंध करने की मलीन योग्यता को **भावमल** कहा जाता है अर्थात् आत्मा को आत्मा से सर्वथा

भिन्न पुद्गलों में रममाण रखकर कर्म पुद्गल के साथ संबंध करने के योग्य बनाता है, उसे **भावमल** कहा जाता है। योगपूर्वसेवा बत्तीसी ग्रंथ में अप्रशस्त योगों में प्रवृत्त होने की तथा कषाय करने की आत्मा की मलीन योग्यता को **भावमल** कहा है।[15]

भावमल मोहनीय आदि कर्मों से संचित है। जब यह भावमल अधिक होता है तब (अर्थात् आत्मा पर भावमल का तीव्र साम्राज्य होता है तब) रागादि दोष अत्यंत उत्कट होते हैं[16] और रागादि दोष उत्कट होने के कारण गुण ढंक जाते हैं, आंतरिक शुद्धि नहीं होती है, संसार के प्रति प्रगाढ़ राग होता है और दोषों की बुनियाद पर पाप खूब खिल जाते हैं। **अचरमावर्त काल में भावमल बहुत होता है।** इस कारण आत्मा को शुद्ध धर्म की प्राप्ति नहीं होती है। **इसी बात को विंशति-विंशिका ग्रंथ में कहा गया है कि,**

मुक्खासओ वि नन्नत्थ होइ गुरुभावमलपहावेण।
जह गुरुवाहिविगारे न जाउ पत्थासओ सम्मं ।।४-२।।

- जैसे महाव्याधि के विकार में सम्यग् पथ्य का आशय प्रकट नहीं होता है, वैसे ही तीव्र भावमल के प्रभाव से अचरमावर्त काल में मोक्ष का आशय प्रकट नहीं होता है।

मोक्ष का आशय प्रकट नहीं होने के कारण शुद्ध धर्म की प्राप्ति भी नहीं होती है। अचरमावर्त काल में आत्मा धर्म करे तो भी वह पूर्व में दर्शाए अनुसार मोक्ष के आशय से नहीं करती है। बल्कि संसार सुख की लालसा से अथवा लोकरंजन के लिये करती है। इसलिये उसका धर्म मलीन हो जाता है। मलीन धर्म संसारतारक नहीं होता है, बल्कि संसारवर्धक होता है। इस प्रकार अचरमावर्त काल में आत्मा पर भावमल का तीव्र साम्राज्य होता है और इस कारण उसमें प्रगाढ़ भवाभिनंदीपना विद्यमान होता है। प्रगाढ़ मिथ्यात्व का भी उदय होता है। इसलिये आत्मा में प्रगाढ़ **भवाभिष्वंग** (संसार का प्रगाढ़ राग) होता है। संसार

का प्रगाढ़ राग उसे संसार से विमुख नहीं होने देता है। इसलिये उसे सन्मार्ग दिखाई ही नहीं देता है। प्रगाढ़ राग के कारण वह सुख-दुःख के सच्चे कारण भी नहीं पहचानती है। कदाचित पहचानने का अवसर मिल भी जाए तो भी उसे उसके प्रति श्रद्धा नहीं होती है। **प्रगाढ़ मिथ्यात्व के कारण बुद्धि में इतना सारा विपर्यास भरा होता है कि, उसे सब जगहों पर उल्टा ही दिखाई देता है और उल्टी समझ का आग्रह तीव्र होता है। जिससे उसे कोई व्यक्ति वास्तविकता का बोध नहीं करवा सकता है। इसीलिये अचरमावर्ती आत्मा धर्म के लिये कदापि योग्य नहीं है। यह आत्मा की बाल्यावस्था है। इस अवस्था में उसे परमार्थ समझाना कठिन होता है।**

➡ चरमावर्त काल :

- चरमावर्त काल आत्मा का धर्म यौवन काल है। इस काल में आत्मा धर्म साधना करके संसार का अंत करती है और मोक्ष को प्राप्त करती है।
- धर्म के प्रति तात्त्विक रुचि चरमावर्त काल में ही प्रकट होती है।
- इस काल में ही भवाभिनंदीपना, भावमल, मिथ्या ज्ञान, मिथ्यात्व तथा कर्म आदि का बल क्रमशः क्षीण होता है।
- आत्मा काल के परिपाक से चरमावर्त काल में आती है। जब तक काल का परिपाक न हो, तब तक चरमावर्त काल प्राप्त नहीं करती है।
- पूर्व के सभी आवर्तों में आत्मा भावमल को कम करती है, परन्तु चरमावर्त में भावमल को सर्वाधिक कम करती है।
- ***इस काल में प्रवेश करते ही आत्मा में (१) दुःखी आत्माओं के प्रति अत्यंत दयाभाव प्रकट होता है, (२) गुणवान पुरुषों के प्रति अद्वेष भाव (अमत्सर भाव) आता है और (३) सभी जगह औचित्यपूर्वक सेवन करने का गुण प्रकट होता है।***[17]

- अचरमावर्त काल में मुक्ति के प्रति जो प्रगाढ़ द्वेष होता है, वह प्रगाढ़ द्वेष चरमावर्त काल में प्रवेश करने पर कम हो जाता है और निकटस्थ अपुनर्बंधक अवस्था में मुक्ति का अद्वेष तथा मुक्ति का मनाक् राग प्राप्त होता है।
- इसी काल में कर्म का परिपाक होने से अपुनर्बंधक अवस्था प्राप्त होती है और अपुनर्बंधक अवस्था में मोक्ष मार्ग की साधना की शुरुआत होती है। इसके बाद आत्मा क्रमशः मुक्ति की दिशा में प्रगति करती जाती है।
- अचरमावर्त काल में आत्मा में अति संक्लिष्ट कर्म विद्यमान होने से कर्मों से धर्म पुरुषार्थ बाधित होता है अर्थात् ये कर्म उसे धर्म सामग्री की उपस्थिति में भी धर्म पुरुषार्थ नहीं करने देते हैं। जबकि चरमावर्त काल में अपुनर्बंधक अवस्था में पुरुषार्थ से कर्म बाधित होता है अर्थात् आंतरिक धर्म पुरुषार्थ प्रकट हो सकता है और वह कर्म को बाधित करता है। इसलिये अचरमावर्त काल में क्लिष्ट कर्म धर्म पुरुषार्थ नहीं करने देता है और चरमावर्त काल में क्लिष्ट कर्म का नाश होने से धर्म पुरुषार्थ हो सकता है। जैसे उत्कट व्याधि के योग में शरीर का संपूर्ण सामर्थ्य क्षीण हो जाता है, परन्तु व्याधि अत्यंत अल्प हो जाए तब पुनः शरीर का सामर्थ्य प्रकट हो जाता है, वैसे ही यहां भी समझना चाहिये। इसलिये चरमावर्त काल में पुरुषार्थ की प्रधानता है। आत्मा आंतरिक पुरुषार्थ करे तो कर्म को अवश्य परास्त कर सकती है। **(योगबिंदु-३३९)**
- अचरमावर्त काल में भवाभिनंदीपना के क्षुद्रता आदि दोष अत्यंत प्रगाढ़ होते हैं। चरमावर्त काल में ये दोष क्रमशः मंद होते जाते हैं - कमजोर पड़ते जाते हैं। ये दोष कमजोर पड़ें तो ही योगमार्ग में प्रवेश मिलता है और ये दोष नष्ट हो जाएं तो योगमार्ग में तीव्र प्रगति होती है।
- ये दोनों काल की विशेषताएं आगे के प्रकरण में दर्शाई गई हैं।

अब आगे के प्रकरणों में मुक्ति मार्ग की साधना कैसे प्रारम्भ होती है और कैसे उसका क्रमशः विकास होता है, यह गुणस्थानक तथा योगदृष्टि के माध्यम से विस्तार से देखेंगे।

➞ **टिप्पणकम् :-** 1. अचरमपरियट्टेसुं कालो भवबालकालओ भणिओ। चरिमो उ धम्मजुव्वणकालो तह चित्तभेओ त्ति।।८-१९।। **(विंशति-विंशिका)** 2. भवाभिनन्दी " असारोऽप्येष संसारः सारवानिव लक्ष्यते। दधिदुग्धांबुतांबूलपण्यपण्यांगनादिभिः ।।१।।" इत्यादिवचनैः संसाराभिनन्दशीलः। **(योगलक्षणद्वात्रिंशिका-टीका)** 3. जन्ममृत्युजराव्याधि-रोगशोकाद्युपद्रुतम्। वीक्ष्यमाणा अपि भवं, नोद्विजन्तेऽतिमोहतः। ।।७९।। 4. कुकृत्यं कृत्यमाभाति, कृत्यं चाकृत्यवत्सदा। दुःखे सुखधियाकृष्टाः, कच्छूकण्डूयकादिवत्।।८०।। 5. यथा कण्डूयनेष्वेषां, धीर्न कच्छूनिवर्तने। भोगाङ्गेषु तथैतेषां, न तदिच्छापरिक्षये ।।८१।। 6. आत्मानं पाशयन्त्येते, सदाडसच्चेष्ट्या भृशम्। पापधूल्या जडाः कार्यमविचार्यैव तत्त्वतः ।।८२।। 7. धर्मबीजं परं प्राप्य, मानुष्यं कर्मभूमिषु। न सत्कर्मकृषावस्य, प्रयतन्तेऽल्पमेधसः ।।८३।। 8. बडिशामिषवत्तुच्छे, कुसुखे दारुणोदये। सक्तास्त्यजन्ति सच्चेष्टां, धिगहो दारुणं तमः।।८४।। 9. एतद्वन्तोऽत एवेह, विपर्यासपरा नराः। हिताहितविवेकान्धाः, खिद्यन्ते साम्प्रतेक्षिणः ।।७८।। 10. चार संज्ञा में से तीन संज्ञा दर्शाने का कारण बताते हुए योगग्रंथ की टीका में कहा गया है कि, कुछ भवाभिनंदी जीवात्माओं में कभी-कभी मैथुन संज्ञा अव्यक्त अवस्था में देखने को मिलती है अर्थात् मैथुन के अतिरिक्त अन्य संज्ञा के उदय में वे परिग्रहादि के पीछे दौड़ते दिखाई देते हैं और कभी मैथुन संज्ञा का उदय न हो, ऐसा भी दिखाई देता है। 11. दुःखिताःदुःखापोहकविवेकस्य स्वप्नेऽप्यभावात् सततमेव दुःखभाजः। (योगबिन्दु-श्लो-८६ टीका) 12. भवाभिनन्दिनो लोकपंक्त्या धर्मक्रियामपि। महतो हीनदृष्ट्योच्चैर्दुरन्तां तद्विदो विदुः ।।८९।। 13. अवेद्यसंवेद्यपदमान्ध्यं दुर्गतिपातकृत्। सत्सङ्गमयोगेन, जेयमेतन्महात्मभिः ।।८५।।**(योगदृष्टि समु.)** 14. भावमले - तत्तत्पुद्गलादिसम्बन्धयोग्यतालक्षणे। **(योगदृष्टि, श्लो-३०/टीका)** 15. मलस्तु योगकषायाख्यात्मनो योग्यता मता (योगपूर्वसेवाद्वात्रिंशिका, श्लो-२७, टीका) 16. तस्या एव बहुत्वाल्पत्वाभ्यां दोषोत्कर्षापकर्षापत्तेः। () 17. दुःखितेषु दयात्यन्तमद्वेषो गुणवत्सु च। औचित्यात्सेवनं चैव, सर्वत्रैवाविशेषतः ।।३२।।**(योगदृष्टिसमु.)**

✦✦✦

प्रकरण - ५ :
अपुनर्बंधक अवस्था-प्रथम गुणस्थानक

अचरमावर्त काल में आत्मा पर भावमल का तीव्र साम्राज्य होता है। इस कारण अत्यंत संक्लिष्ट परिणाम प्राप्त होते हैं। इन अत्यंत संक्लिष्ट परिणामों के कारण आत्मा में बार-बार मोहनीयादि कर्मों की उत्कृष्ट स्थिति निर्माण करने की योग्यता होती है। काल के परिपाक से आत्मा चरमावर्त काल में आती है, तब भावमल क्षीण हो जाता है। हालांकि (चरमावर्त के अभिमुख) प्रत्येक अचरमावर्त में भव्यात्मा भावमल को क्रमशः क्षीण करती ही है।[1] इसके बावजूद चरमावर्त में आकर भावमल का अधिकतम क्षय होता है। अपुनर्बंधक अवस्था में भावमल का सर्वाधिक क्षय होता है। अपुनर्बंधक अवस्था को प्राप्त करने से पहले आत्मा द्विकृद् बंधक अवस्था और सकृद् बंधक अवस्था प्राप्त करती है। अधिक से अधिक दो बार मोहनीयादि कर्मों की उत्कृष्ट स्थिति के निर्माण की जिसमें योग्यता होती है, उसे **द्विकृद् बंधक अवस्था** कहा जाता है। इस अवस्था में बहुत संक्लेश होते हैं, इसलिये शुद्ध धर्म को प्राप्त करने की योग्यता नहीं होती है। इसके बाद आत्मा सकृद् बंधक अवस्था प्राप्त करती है। जो आत्मा मोहनीयादि कर्मों की उत्कृष्ट स्थिति को एक बार ही निर्माण करने की योग्यता रखती है उसे **सकृद् बंधक** कहा जाता है।[2]

सकृद् बंधक को उपचार से योग पूर्वसेवा की प्राप्ति होती है।[3] अपुनर्बंधक को परमार्थ से योग पूर्वसेवा की प्राप्ति होती है। सकृद् बंधक के पास इस प्रकार का (भव के उत्कट राग के अभाव के कारण संसार की उद्विग्नता स्वरूप) भव वैराग्य नहीं होता है। इसलिये उसमें परमार्थ से योग पूर्वसेवा नहीं होती है। परन्तु उपचार से होती है। भववैराग्य के बिना संसार से विमुखता नहीं होती है और संसार की विमुखता के बिना योगमार्ग की अभिमुखता नहीं आती है तथा योग

मार्ग की अभिमुखता के बिना तात्त्विक योगपूर्वसेवा भी नहीं आ सकती है। **जो योगपूर्वसेवा (निकट भविष्य में) योगमार्ग में प्रवेश का कारण बने, वह योगपूर्वसेवा तात्त्विक होती है और तात्त्विक योगपूर्वसेवा जैसा बाह्य आचरण हो, वह योगपूर्वसेवा उपचार से योगपूर्वसेवा कहलाती है। अपुनर्बंधक आत्मा को तात्त्विक भववैराग्य प्राप्त होने से तात्त्विक योग पूर्वसेवा प्राप्त होती है।**

प्रश्न : सकृद् बंधक के पास भव वैराग्य नहीं और इसलिये योग मार्ग की अभिमुखता नहीं, तो फिर उसमें योग पूर्वसेवा कैसे हो सकती है ?

उत्तर : इस प्रश्न का उत्तर देते हुए **अपुनर्बंधक बत्तीसी** में कहा गया है कि,

परिणामिनि कार्याद्धि सर्वथा नास्ति भिन्नता।
तत्प्रकृत्या विनाप्यूहमन्यत्रैनां परे जगुः ।।४।।[4]

भावार्थ : सकृद्बंधकरूपी परिणामी में अपुनर्बंधक रूपी कार्य से सर्वथा भिन्नता नहीं होती है। (इसके बावजूद) सकृद् बंधकादि में तीव्र संक्लेशवाली प्रकृति होने से अथवा अन्य आचार्य कहते हैं कि भव स्वरूप का आलोचन नहीं होने से सकृद् बंधक में उपचरित योग पूर्वसेवा होती है।

कहने का तात्पर्य यह है कि कार्य से परिणामी कारण सर्वथा भिन्न नहीं होता है। जैसे घट आदि (कार्य से) मृत पिंडादि (परिणामी कारण) सर्वथा भिन्न नहीं होते हैं, वैसे ही अपुनर्बंधक आदि से (कार्य से) भी सकृद् बंधक आदि भी (परिणामी कारण) सर्वथा भिन्न नहीं हैं। परिणामी कारण (उपादान कारण) में निकट भविष्य में कार्य स्वरूप में उत्पन्न होने की भूमिका होती है। इसलिये उपादान कारण तथा कार्य सर्वथा भिन्न नहीं हैं। उपादान कारण ही कार्य स्वरूप में परिणत होता है, वैसे ही सकृद् बंधक आदि निकट भविष्य में अपुनर्बंधक आदि स्वरूप में परिणत होता है। इसलिये वह उससे भिन्न नहीं है। इस कारण से ही अपुनर्बंधक में जो मुख्य योग पूर्वसेवा है, वह योग पूर्वसेवा सकृद् बंधक में उपचार से है अर्थात् सकृद्बंधक जिन गुरु-देवादि की पूजा आदि योग

पूर्वसेवा करता है, वही आचरण अपुनर्बंधक के (योग पूर्वसेवा के) आचरण का कारण बनता है। इसलिये कारण में कार्य का उपचार करके सकृद् बंधक के गुर्वादिपूजा स्वरूप आचरण को पूर्वसेवा कहा गया है। (पूर्वोक्त श्लोक के उत्तरार्ध में) सकृद् बंधकादि की योगपूर्वसेवा क्यों उपचरित है, इस विषय में अन्य आचार्य भगवंत जो अन्य उद्देश्य बताते हैं, उन्हें अब देखेंगे -

अपुनर्बंधक के पास जिस प्रकार से संसार के स्वरूप संबंधी अपूर्व आलोचन है और उससे उसके पास संसार का जैसा वैराग्य है, उस प्रकार का भव स्वरूप का आलोचन तथा भववैराग्य सकृद् बंधक के पास नहीं होता है। इसलिये उसका गुर्वादि पूजा रूपी आचरण उपचार से योगपूर्वसेवा है। (अपुनर्बंधक आत्मा को अपूर्व आलोचन तथा भव वैराग्य किस प्रकार और किस क्रम से प्राप्त होता है, यह आगे बताएंगे।) सकृद् बंधकादि में अपूर्व आलोचन तथा भव वैराग्य नहीं है, यह अन्य आचार्य भगवंत की बात क्यों सुसंगत है, यह दर्शाते हुए **अपुनर्बंधक बत्तीसी** में कहा गया है कि,

युक्तं चैतन्मले तीव्रे भवासंगो न हीयते।
संक्लेशायोगतो मुख्या सान्यथा नेति हि स्थितिः ।।५।।[5]

भावार्थ : पूर्व में दर्शाया गया अन्य आचार्य भगवंत का मत भी युक्तिसंगत है। (अर्थात् सकृद् बंधकादि आत्माओं में भव स्वरूप का निर्णायक अपूर्व आलोचन नहीं होने के कारण उपचरित योग पूर्वसेवा है, यह कथन भी युक्त है, क्योंकि जब आत्मा पर भावमल उत्कट प्रवर्तमान होता है तब सकृद् बंधकादि आत्माओं का भव का अभिष्वंग (प्रगाढ़ राग) निवृत्त नहीं होता है। (उसके योग से सकृद् बंधकादि में अति तीव्र संक्लेश का योग होता है।) और तीव्र संक्लेश के अयोग में ही मुख्य पूर्वसेवा होती है। तीव्र संक्लेश के योग में मुख्य पूर्वसेवा नहीं होती है। इसलिये सकृद् बंधकादि में तीव्र संक्लेश विद्यमान होने के कारण उन्हें मुख्य से योगपूर्वसेवा प्राप्त नहीं होती है। (परन्तु पूर्व में दर्शाए कारणों से उपचरित योग पूर्वसेवा होती है।)

कहने का तात्पर्य यह है कि, सकृद् बंधकादि आत्मा पर भावमल का तीव्र साम्राज्य होता है। (हां, अचरमावर्त काल में भावमल की जैसी उत्कटता थी, वैसी उत्कटता नहीं है, परन्तु उत्कटता तो है।) इसलिये उसको संसार का प्रगाढ़ प्रतिबंध होता है। इसी कारण उनकी परिणति संक्लिष्ट होती है, उनकी प्रकृति शांत नहीं होती है और मन उदात्त नहीं बनता है तथा अतत्त्व का भी अभिनिवेश होता है। इस कारण उन्हें मुख्य योगपूर्वसेवा प्राप्त नहीं होती है। परन्तु निकट काल में ही भावमल का अधिकतम क्षय होनेवाला है, इसलिये अति तीव्र संक्लेश का अभाव होनेवाला है जिससे उनमें उपचरित योगपूर्वसेवा होती है।

यहां उल्लेखनीय है कि, पंचाशक ग्रंथ में कहा गया है कि, सकृद् बंधक व अपुनर्बंधक दोनों आत्माएं जल्दी **कुग्रह** (अतत्त्व का अभिनिवेश) का विरह (नाश) करने में सक्षम होने से आगम में इन दोनों को कुग्रह का नाश करने के लिये प्रव्रज्या देने का विधान किया गया है।[6]

फलितार्थ यह निकलता है कि, सकृद् बंधक तथा अपुनर्बंधक दोनों में अतत्त्व का अभिनिवेश होता है और वे उपदेशादि से निवर्तनीय भी हैं। इसके बावजूद दोनों अवस्थाओं में इतना फर्क है कि, सकृद् बंधक अवस्था में भावमल की उत्कटता विद्यमान होने से प्रगाढ़ भवाभिष्वंग होने के कारण सकृद् बंधक का कुग्रह प्रयत्न विशेष से निवर्तनीय होना चाहिये और अपुनर्बंधक अवस्था में भावमल अत्यंत अल्प होने से प्रगाढ़ भवाभिष्वंग न होने के कारण अपुनर्बंधक का कुग्रह कम प्रयत्न से निवर्तनीय होना चाहिये और इसलिये अपुनर्बंधक के पास आत्मीय शुद्धि व मन की उदात्तता होने से उसका गुर्वादिपूजा रूपी आचरण तात्त्विक योग पूर्वसेवा होती है और सकृद् बंधक में आत्मीय शुद्धि तथा मन की उदात्तता न होने से उसका गुर्वादिपूजा रूपी आचरण तात्त्विक योग पूर्वसेवा नहीं बनती है।

यहां उल्लेखनीय है कि एक लेखक ने सकृद्बंधक को अचरमावर्ती दर्शाया है। परन्तु यह योग्य नहीं लगता है। क्योंकि पंचाशक व धर्मसंग्रह में

सकृद् बंधक को दीक्षा धर्म देने का विधान किया गया है, और लेखक का विधान ग्रंथों के खिलाफ है।

➠ अपुनर्बंधक अवस्था :-

सकृद्बंधक आत्मा ही अपुनर्बंधक अवस्था प्राप्त करती है। अपुनर्बंधक आत्मा का स्वरूप दर्शाते हुए अपुनर्बंधक बत्तीसी में कहा गया है कि,

शुक्लपक्षेन्दुवत्प्रायो वर्धमानगुणः स्मृतः।
भवाभिनन्दिदोषाणामपुनर्बन्धको व्यये ।।१।।

- भवाभिनंदीपने के दोषों का नाश होने के बावजूद शुक्लपक्ष के चंद्र की भांति प्रायः वर्धमान दाक्षिण्यतादि गुणवाली आत्मा **अपुनर्बंधक** कहलाती है। इसी बात को स्पष्ट करते हुए **योगबिंदु** ग्रंथ में कहा गया है कि,

भवाभिनन्दीदोषाणां प्रतिपक्षगुणैर्युतः।
वर्धमानगुणप्रायो ह्यपुनर्बधन्को मतः ।।१७८।।

- भवाभिनंदीपने के तुच्छतादि दोषों से प्रतिपक्ष उदात्ततादि गुणों से युक्त प्रायः वर्धमान (बढ़ते) गुणवाली आत्मा **अपुनर्बंधक** कहलाती है।

पू. ग्रंथकार महर्षियों द्वारा बताए गये अपुनर्बंधक के लक्षणों से हम भी अपनी अवस्था का विचार कर सकते हैं। पूर्वोक्त विधानों से यह फलितार्थ निकलता है कि...

- अपुनर्बंधक अवस्था में भवाभिनंदीपने के दोषों का क्षय हो जाता है। अर्थात् ये दोष अत्यंत कमजोर पड़ जाते हैं और उसके प्रतिपक्ष गुणों की प्राप्ति होती है।

- भवाभिनंदी आत्मा संसार के प्रति तीव्र आसक्त होती है। जबकि अपुनर्बंधक आत्मा को संसार के प्रति तीव्र आसक्ति नहीं होती है। (प्रगाढ़ भवाभिष्वंग नहीं है।)

- भवाभिनंदी आत्मा वर्तमान दृष्टिवाली होती है। जबकि अपुनर्बंधक आत्मा परलोक दृष्टिवाली होती है। वह अतीत की भटकन और भविष्य की (आत्मा की) अवस्थाओं के विषय में विचारशील होती है।

- भवाभिनंदी आत्मा की बुद्धि विपर्यास से भरी होती है। इसलिये उसे अतत्त्व में ही तत्त्व का अभिनिवेश होता है। जबकि अपुनर्बंधक आत्मा की बुद्धि में विपर्यास नहीं होता है। वह अतत्त्व को तत्त्व नहीं मानती है। वह किसी सूक्ष्म विषय में तत्त्व को अतत्त्व तथा अतत्त्व को तत्त्व मानने की भूल करे तो भी वह भूल सुधारी जा शके वैसा प्रज्ञापनीय होता है ।

- भवाभिनंदी आत्मा हित-अहित के विवेक से शून्य होती है। जबकि अपुनर्बंधक आत्मा हित-अहित के विवेक से संपन्न होती है।

- भवाभिनंदी आत्मा संसार को दुःखों से व्याप्त देखने के बावजूद उसके प्रति उद्विग्न नहीं होती है। जबकि अपुनर्बंधक आत्मा संसार से उद्विग्न होती है।

- भवाभिनंदी आत्मा संज्ञा के उदय से पीड़ित होती है। जबकि अपुनर्बंधक संज्ञा के उदय को टालने में अंशतः समर्थ होती है।

- भवाभिनंदी आत्मा कर्म भूमि पर धर्मादि सामग्री से संपन्न मनुष्य जन्म का मूल्य नहीं समझती है, इसलिये उसे व्यर्थ कार्यों में बिता देती है। जबकि अपुनर्बंधक आत्मा मनुष्य जन्म का मूल्य समझती होने के कारण उसका सदुपयोग करके हृदय में धर्मों का बीजारोपण करती है और जीवन को सफल बनाती है। साथ ही मोक्ष की दिशा में आगे की भूमिकाएं प्राप्त करने की उत्कंठावाली होती है।

- भवाभिनंदी आत्मा कृपण होती है। जबकि अपुनर्बंधक आत्मा उदार होती है। भवाभिनंदी आत्मा की वृत्तियां तुच्छ होती हैं। जबकि अपुनर्बंधक आत्मा की वृत्तियां उदात्त होती हैं।

- भवाभिनंदी की भौतिक लाभों में अत्यंत रति होती है। जबकि अपुनर्बंधक

की भौतिक लाभों में अत्यंत रति नहीं होती है।

- भवाभिनंदी आत्मा धारणानुसार न हो, अचानक दुःख आ जाए, इच्छित वस्तु का वियोग अथवा अनिष्ट का संयोग हो जाए तो अत्यंत दीन बन जाती है। अपुनर्बंधक ऐसे संयोगों में भी भवस्थिति और कर्मस्थिति का चिंतन करके स्वस्थ रहने का प्रयत्न करती है।

- भवाभिनंदी आत्मा अन्य के उत्कर्ष को देखकर ईर्ष्या से झुलसती है। जबकि अपुनर्बंधक का मन उदात्त होने के कारण अन्य के उत्कर्ष में ईर्ष्या नहीं करती है। बल्कि अन्य की प्रगति देखकर आनंद का अनुभव करती है।

- भवाभिनंदी आत्मा निरंतर भयभीत रहती है। जबकि अपुनर्बंधक आत्मा भयभीत नहीं होती है। क्योंकि वह भव स्थिति व कर्म स्थिति को पहचानती है, इसलिये निज-पर, स्वकीय-परकीय के भेद को अच्छी तरह से समझती है। वह विचारशील होने के कारण अच्छी तरह से जानती है कि पापकर्म से दुःख आता है। **यदि मेरे पाप कर्म का उदय होगा तो मुझे दुःख से कोई बचा नहीं पाएगा और मेरे पाप कर्म का उदय नहीं होगा तो मुझे कोई दुःखी नहीं कर पाएगा।** ऐसे सम्यग् विचार के कारण वह भयभीत नहीं होती है। **(यहां याद रहे कि चिंतित रहने और निरंतर भयभीत रहने में अंतर है। संसार में परिग्रह के बीच रहनेवाले को चिंताएं तो रहने ही वाली हैं परन्तु जिसे परिग्रह के प्रति प्रगाढ़ ममत्व होता है वह चिंता के साथ ही भयभीत भी रहता है।)**

- भवाभिनंदी आत्मा मायावी होती है। जबकि अपुनर्बंधक आत्मा तुच्छ लाभों के लिये बार-बार माया का उपयोग नहीं करती है।

- भवाभिनंदी आत्मा संसार के स्वरूप **से अनभिज्ञ (अनजान)** होती है। जबकि अपुनर्बंधक आत्मा संसार के स्वरूप से परिचित होती है और परमार्थ को समझने की स्थितिवाली होती है।

- भवाभिनंदी आत्मा को अतत्त्व का अभिनिवेश होने के कारण हर जगह

विफल आरम्भ (प्रवृत्ति) करनेवाली होती है। जबकि अपुनर्बंधक आत्मा को अतत्त्व का अभिनिवेश नहीं होने के कारण वह तत्त्व-अतत्त्व के विवेक से हर जगह प्रवृत्त होने के कारण सफल आरंभ (प्रवृत्ति) करती है।

- भवाभिनंदी आत्मा के लिये जिनवचन फलित नहीं होता है।[7] क्योंकि उसके कर्म भारी होते हैं और उसका मन मलीन होता है। जैसे सूअर को मल से दूर करना कठिन है, वैसे ही भारी कर्मवाली आत्मा को जिनवचन को परिणमित करके अशुभ (प्रमाद) से निवृत्ति दिलाकर अप्रमाद (संवर के स्थानों) में लाना कठिन होता है। **जबकि अपुनर्बंधक आत्मा के लिये जिनवचन फलित हो सकते हैं। क्योंकि वह लघुकर्मी होती है।** इसलिये उसका मन उज्जवल होता है और उसके पास भववैराग्य भी होता है। इसलिये उसे अशुभ से दूर रखा जा सकता है और शुभ में प्रवृत्त किया जा सकता है।

- भवाभिनंदी आत्मा में दाक्षिण्यता आदि गुण नहीं होते हैं और कदाचित हों तो भी स्वार्थ प्रेरित होते हैं। जबकि अपुनर्बंधक आत्मा के दाक्षिण्यता आदि गुण बढ़ते हैं। क्योंकि इस अवस्था में आत्मा से भावमल का अधिकतम क्षय हो जाने के कारण आत्म स्वरूप का आंशिक उद्‌भव होता है। इससे दोषों का ह्रास होता है और दाक्षिण्यतादि गुण विकसित होते हैं।

इस प्रकार अपुनर्बंधक अवस्था को पहचाना जा सकता है। अपुनर्बंधक को पहचानने के और भी लिंग शास्त्रों में दिये गये हैं। ये निम्नानुसार हैं।

➡ अपुनर्बंधक के तीन प्रसिद्ध लक्षण (लिंग) :-

पावं न तिव्वभावा कुणइ, ण बहुमण्णई भवं घोरं।
उचियट्ठिइं च सेवइ सव्वत्थ वि अपुणबंधो त्ति ।।१३।।[8]

- अपुनर्बंधक आत्मा (१) पाप कर्म तीव्र भाव से नहीं करती है, (२) भयंकर संसार के प्रति सन्मान भाव नहीं रखती है और (३) सर्वत्र उचित स्थिति बनाए रखती है।

● **पाप तीव्र भाव से नहीं करती है :-** अपुनर्बंधक आत्मा यूं तो पाप कर्म नहीं करती है। कदाचित कर्म के दोष से करती भी है, तो भी तीव्र भाव अर्थात् प्रगाढ़ संक्लिष्ट परिणाम से नहीं करती है अर्थात् निर्ध्वंस बनकर रच-पचकर वह हिंसादि पाप नहीं करती है। क्योंकि (इस अवस्था में) अत्यंत उत्कट मिथ्यात्व का क्षयोपशम हो जाने के कारण आत्मा कुछ स्तर तक निर्मल हो जाती है। इस कारण पापों के प्रति सहज अरुचि प्रकट हो जाती है। कर्म के कारण कदाचित पाप करना ही पड़े तो भी वह उसमें रच-पचकर नहीं करती है।

प्रगाढ़ मिथ्यात्व का उदय हो तब सांसारिक सुखों के प्रति प्रगाढ़ उपादेय भाव होता है। इस कारण सांसारिक सुखों को प्राप्त करने के लिये आत्मा रच-पचकर हिंसादि पाप करती है। परन्तु जब प्रगाढ़ मिथ्यात्व का क्षयोपशम होता है, तब सांसारिक सुखों की भयंकरता का ज्ञान हो जाने से उसका उनके प्रति प्रगाढ़ उपादेय भाव चला जाता है। इस कारण सांसारिक सुखों के लिये वह रच-पचकर पाप नहीं करती है। **पाप पापस्वरूप दिखता हो, पाप के अनर्थ सामने *दिखते हों, पाप करने में निमित्त बननेवाली आसक्तियां शिथिल हो गई हों,* आत्मा की निर्मलता प्राप्त हो गई हो, तो तीव्र भाव से पाप नहीं होते हैं।**

● **संसार के प्रति सन्मान भाव नहीं रखती है :-** अपुनर्बंधक आत्मा संसार के प्रति सन्मान भाव नहीं रखती है। क्योंकि वह संसार की भयंकरता को अच्छी तरह से जानती है। आगे बताएंगे कि 'अपूर्व आलोचन' के प्रभाव से अपुनर्बंधक आत्मा संसार के हेतु, स्वरूप और फल से परिचित होती है अर्थात् उसे संसार की दुःखरूपता, दुःखफलकता और दुःखानुबंधिता का बोध होता है। संसार की भयंकरता उसकी दृष्टि के सन्मुख होती है। इसलिये वह उसके प्रति सन्मान भाव नहीं रखती है।

● **सर्वत्र उचित स्थिति बनाए रखती है :-** अपुनर्बंधक आत्मा देश, काल व अवस्था की अपेक्षा से सभी के विषय में (अर्थात् देव, अतिथि, माता,

पिता, आदि सभी के विषय में) औचित्य का पालन करती है। देवादि के अनुरूप सेवा-भक्ति करती है। क्योंकि कर्म अल्प हो जाने से वह स्वभावतः मार्गानुसारिता के अभिमुख होती है। जैसे मोर के बच्चे को चिह्नित करने की आवश्यकता नहीं होती है और वह अपनी योग्यता से स्वभावतः रंगीन ही होता है, वैसे ही अपुनर्बंधक आत्मा (उसमें हुए) कर्महास से स्वाभाविक रूप से ही मार्गानुसारिता के सन्मुख होती है।

अब अपुनर्बंधक आत्मा को संसार की भयंकरता का बोध जिस '**अपूर्व आलोचन**' से होता है, वह किस क्रम से होता है और उसमें आत्मा को किस प्रकार के चिंतन होते हैं, यह देखेंगे।

➞ अपुनर्बंधक में प्रकट होनेवाला अपूर्व आलोचन :-

अपुनर्बंधक आत्मा में अपूर्व आलोचन (सम्यग् विचार) कैसे प्रकट होते हैं, यह दर्शाते हुए **योगबिंदु** ग्रंथ में कहा गया है कि,

क्रोधाद्यबाधितः शान्त, उदात्तस्तु महाशयः।
शुभानुबन्धिपुण्याच्च, विशिष्टमतिसंगतः ।।१९३।।

ऊहतेऽयमतः प्रायो, भवबीजादिगोचरम्।
कान्तादिगतगेयादि, तथा भोगीव सुन्दरम् ।।१९४।।

- क्रोधादि से अबाधित शांत, उदात्त, गांभीर्यादि गुणों से युक्त, महाशय, पुण्यानुबंधी पुण्य से मार्गानुसारी परिपक्व प्रज्ञावाला होता है। यह अपुनर्बंधक आत्मा प्रायः संसार के कारणादि के विषय में विचार करती है। जैसे विचक्षण भोगी पत्नी आदि के सुंदर गीत आदि का अच्छी तरह से विचार करता है, वैसे ही अपुनर्बंधक आत्मा संसार के स्वरूपादि के विषय में सूक्ष्मता से विचार करती है।

- अपुनर्बंधक आत्मा का प्रगाढ़ मिथ्यात्व का उदय निवृत्त होने के कारण

अनंतानुबंधी के कषाय भी संज्वलन जैसे होते हैं अर्थात् मंद होते हैं। इससे उसकी मनोवृत्तियां क्रोधादि से अबाधित शांत हैं।[9] इस कारण संसार के स्वरूप का अवगाहन करने में अवरोध बननेवाले क्रोधादि कषाय अपुनर्बंधक आत्मा में नहीं होते हैं।

- **अपुनर्बंधक आत्मा की मनोवृत्तियां उदात्त होती हैं।**[10] अर्थात् अपुनर्बंधक आत्मा उच्च-उच्चतर आचरणों-आलंबनों में बद्धचित्तवाली होती है। उसकी तुच्छ कार्यो के प्रति रुचि टूटने से और उच्च-उच्चतर आचरणों-आलंबनों के प्रति लगाव होने से संसार का अवगाहन करने में अवरोध बननेवाली आसक्तियां अथवा तुच्छ भावनाएं नहीं होती हैं।

- **अपुनर्बंधक आत्मा गांभीर्यादि गुणों से युक्त महान मनोवृत्तिवाली बन जाती है।**[11] इस कारण हित-अहित के मार्ग का अवगाहन करने में अवरोधक बननेवाले अगांभीर्यादि दोष उसे नहीं सताते हैं। **अपुनर्बंधक आत्मा पुण्यानुबंधी पुण्य से मार्गानुसारी प्रौढ़ प्रज्ञा से युक्त होती है**[12] अर्थात् मोक्षमार्ग का अनुसरण करनेवाली प्रज्ञा से युक्त होती है।

- पूर्वोक्त गुणों से युक्त अपुनर्बंधक आत्मा संसार के कारण, स्वरूप और फल आदि के विषय में चिंतन करती है। इन्हीं गुणों से उसका मन स्वस्थ होता है। **स्वस्थ मन में एक सम्यग् विचार अवश्य प्रकट होता है,** "यह जन्म-मृत्यु की परम्परा करना और उसके बीच विविध अवस्थाओं से गुजरना तथा मात्र विडम्बनाएं भोगना ही आत्मा का स्वरूप है ? क्या आत्मा की यही नियति है ? क्या इन अवस्थाओं का अंत हो और आत्मा कहीं स्थाई हो जाए तथा विश्रांति का अनुभव कर सके, ऐसी कोई अवस्था है या नहीं ?

- इस प्रकार विचारमग्न होती है और सद्भाग्य से सद्गुरु से भेंट हो जाती है तथा उनकी धर्मदेशना से आत्मा के सच्चे स्वरूप और स्थाई लक्ष्य मोक्ष के विषय में उपदेश प्राप्त होता है, तब उसमें संसारभ्रमण के कारण, स्वरूप व फल

के विषय में और मोक्ष के कारण, स्वरूप व फल के विषय में पुनः जिज्ञासा प्रकट होती है तथा इस विषय में उसके मन में सम्यग् चिंतन होता है। ज्ञानी इसी को **'अपूर्व आलोचन'** कहते हैं। अनादिकाल से परिभ्रमण करने के दौरान अनेक बार धर्म करने के बावजूद ऐसा सम्यग् चिंतन प्रकट नहीं हुआ। वह यहां आकर प्रकट होता है।

अपुनर्बंधक आत्मा को सद्गुरु के उपदेश से संसार के कारण स्वरूप दो कारण जानने को मिलते हैं। (१) कर्म प्रकृति **(मोहनीयादि कर्म)** तथा (२) आत्मा का (कर्मबंध के कारण राग-द्वेष-मोह के परिणामस्वरूप) स्वभाव।

संसार का स्वरूप दुःखरूप, दुःखफलक और दुःखानुबंधी है। यह संसार जन्म-मृत्यु-वृद्धावस्थादि से व्याप्त और अनंत दुःख से भरा हुआ है। यह संसार अनादि होने के बावजूद उपाय से पृथक् (आत्मा से अलग) होने के लिये योग्य है।[13] इस प्रकार अपुनर्बंधक आत्मा संसार को अनंतदुःखों से व्याप्त मानती है।

अपुनर्बंधक आत्मा संसार के फल का चिंतन कैसे करती है, यह दर्शाते हुए अपुनर्बंधक बत्तीसी में कहा गया है कि,

फलं भवस्य विपुलः क्लेशः एवं विजृम्भते।
न्यग्भाव्यात्मस्वभावं हि पयो निम्बरसो यथा ।।११-१२।।

- जैसे नीम का रस दूध के स्वभाव का तिरोधान करके कड़वे रस को प्रकट करता है, वैसे ही संसार का फल आत्म स्वभाव का तिरोधान करके विपुल क्लेश (क्लेश की परंपरा चलानेवाला विपुल क्लेश) को ही प्रवृत्त करता है।

आत्मा में ही सुख है। इसके बावजूद कर्म और कर्म जनित रागादि विभावों के कारण आत्म स्वभाव का तिरोधान होता है और रागादि विभाव खिलते हैं, जो स्वयं क्लेश रूप हैं और यह क्लेश ही संसार का फल है।

इस प्रकार संसार के कारण, स्वरूप व फल संबंधी सम्यग् चिंतन के प्रभाव से अपुनर्बंधक आत्मा को भव वैराग्य की प्राप्ति होती है। इसलिये

अपुनर्बंधक आत्मा संसार के उच्छेद संबंधी कारण, स्वरूप व फल का भी चिंतन करती है[14] और सद्गुरु से संसारनाश के कारणादि जानने का प्रयत्न करती है। संसार के कारणभूत कर्म और कर्म जनित रागादि स्वभाव का उच्छेद, संसारनाश का कारण है। कर्म रहित शुद्ध आत्म स्वरूप की प्राप्ति संसारनाश का स्वरूप है और अनंत सुखमय अवस्था की प्राप्ति संसार नाश का फल है।

→ अपुनर्बंधक का अन्य लिंग आज्ञाप्रियत्व :

पंचसूत्र ग्रंथ में अपुनर्बंधक आदि के लिंग दर्शाते हुए कहा गया है कि,

''अपुनर्बंधकत्वादिलिंगमाह-एयपियत्तं खलु एत्थ लिंगं, ओचित्तपवित्तिविन्नेयं, संवेगसाहगं नियमा । न एसा अन्नेसिं देया । लिंगविवज्जयाओ तप्परिण्णा ।[15] **(पंचसूत्र, सूत्र-५)**

- 'आज्ञा प्रियत्व' अपुनर्बंधक का लिंग (लक्षण) है। अपुनर्बंधक आत्मा को भगवान की आज्ञा प्रिय लगती है। इसमें उसे आत्मा का एकांत कल्याण दिखाई देता है। जिससे वह आज्ञा को जानने के लिये जिनवचन को श्रवण करता है और जीवन में यथाशक्ति आज्ञापालन का अभ्यास करता है। **आज्ञा प्रिय है अथवा नहीं, यह कैसे पता चलता है ? जो औचित्यपूर्वक आज्ञा का पालन करता है, उसे आज्ञा के प्रति सन्मान (प्रेम) है, यह माना जा सकता है। यदि औचित्यपूर्वक आज्ञा का पालन न करे तो समझना चाहिये कि उसकी आराधना में आज्ञा के प्रति सन्मान भाव नहीं है।** जिसमें भगवान की आज्ञा के प्रति सन्मान भाव है, उसमें नियम से संवेग (मोक्षाभिलाषा) का परिणाम होता है।

अपुनर्बंधक आत्मा में आज्ञा के प्रति सन्मान भाव होता है और वह आज्ञा की औचित्यपूर्वक आराधना करती है, इसलिये अपुनर्बंधकादि को ही आज्ञा देने का पंचसूत्र आदि ग्रंथों में उल्लेख किया गया है। इसके अलावा भवाभिनंदी आत्माओं को प्रभु की आज्ञा देने का निषेध किया गया है। क्योंकि, भवाभिनंदी आत्मा को

प्रभु की आज्ञा के प्रति सन्मान भाव नहीं होता है और सम्यग्ज्ञानादि योगों के प्रति द्वेष होता है। **इसलिये संवेगपूर्वक आज्ञापालन से आत्मा को अपुनर्बंधक के रूप में पहचाना जा सकता है।**

प्रश्न : अपुनर्बंधक आत्मा में आज्ञा के प्रति सन्मान भाव होता है और भवाभिनंदी आत्मा में नहीं होता है, इसका क्या कारण है ?

उत्तर : अपुनर्बंधक आत्मा सद्गुरु के उपदेश से प्रभु की आज्ञा को समझ सकती है, ऐसी उसकी आंतरिक स्थिति होती है।[16] जैसा कि पूर्व में बताया है - शांत-उदात्तादि गुणों से युक्त अपुनर्बंधक आत्मा हित-अहित की सम्यग् आलोचक होती है और हितार्थी होने के कारण स्वीकृत प्रतिज्ञा में दृढ़ भी होती है। इसी कारण वह प्रभु की आज्ञा की तारकता को अच्छे से समझ सकती है। प्रभु की आज्ञा से उसे हेय-उपादेय का अच्छा बोध हो सकता है और हेय की भयंकरता तथा उपादेय की तारकता का ज्ञान भी हो सकता है।

जबकि भवाभिनंदी आत्मा में संसार के प्रति प्रगाढ़ आसक्ति होने के कारण संसार के उपायभूत भोगों के प्रति ही तीव्र आकर्षण होता है। इसलिये मोक्ष के उपायभूत योग का उपदेश देनेवाली आज्ञाएं सुनने-समझने में उसे कोई रुचि ही नहीं होती है। कदाचित वह सुन भी ले तो भी उसे विषय प्रतिभास रूप ज्ञान ही होता है अर्थात् मात्र विविध विषयों का ज्ञान हो जाता है। परन्तु विविध विषयों के हेय-उपादेय का विभाजन करने का विवेक तथा हेय में हेयबुद्धि तथा उपादेय में उपादेयबुद्धि नहीं हो सकती है। उसे भोग ही तारक लगता है, योग बाधक लगता है। इसलिये भोग में हेयबुद्धि और योग में उपादेयबुद्धि होती ही नहीं है।

यहां उल्लेखनीय है कि, अपुनर्बंधकादि प्रभु की आज्ञा समझने के लिये योग्य है, यह जो कहा गया है, वहां आदि पद से मार्गाभिमुख तथा मार्गपतित जानें। मार्गाभिमुख तथा मार्गपतित भी प्रभु की आज्ञा को समझने तथा उसकी आराधना करने के योग्य हैं। **यहां स्मरण रखें कि,** पू. आ. भ. श्री हरिभद्रसूरीश्वरजी

महाराजा आदि के मतानुसार मार्गाभिमुख और मार्गपतित, अपुनर्बंधक की अवस्था विशेष ही है। जबकि पंचाशक ग्रंथ के टीकाकार श्री अभयदेवसूरीश्वरजी महाराज इन दोनों को अपुनर्बंधक से पूर्व की दूर-सुदूर अवस्थावाले के रूप में स्वीकारते हैं।

मार्ग किसे कहा जाता है ? मार्गाभिमुख तथा मार्गपतित किसे कहा जाता है? इत्यादि की ललितविस्तरा नामक ग्रंथ में विस्तार से चर्चा की गई है। मार्ग की परिभाषा स्पष्ट करते हुए **ललितविस्तरा** ग्रंथ में कहा गया है कि,

"इह मार्गश्चेतसोऽवक्रगमनं भुजंगमगमननलिकायामतुल्यो विशिष्टगुण-स्थानावाप्तिप्रगुणः स्वरसवाही क्षयोपशमविशेष" इति। तत्र प्रविष्टो मार्गपतितः, मार्गप्रवेशयोग्यभावापन्नो मार्गाभिमुखः"।

- मार्ग अर्थात् मन की अवक्र गति अर्थात् विशिष्ट गुणों की प्राप्ति कराने में तत्पर स्वरसवाही क्षयोपशम विशेष को अवक्र गति कहा जाता है। यह क्षयोपशम सर्प के प्रवेश करने की नली की लंबाई समान है। (सारांश यह है कि, आज तक आत्मा को पुद्गल में ही आनंद आता था। अब मिथ्यात्व मोहनीयादि कर्मों के क्षयोपशम से गुणों में आनंद आता है और गुणों में आनंद आने से गुणों की आकांक्षा से उसका आत्म स्वरूप के अनुकूल अवक्र गमन प्रारम्भ होता है। पुद्गल की रुचि टूटी है और गुणों का आनंद उजागर हुआ है, इसमें स्वरसवाही क्षयोपशम कारक है। मोहनीय के उदय भाव में पुद्गल के प्रति अखंड रुचि थी और अब मोहनीय के क्षयोपशम भाव में वह रुचि टूट जाती है। इससे विशिष्ट गुणों की प्राप्ति कराने में तत्पर स्वरसवाही क्षयोपशम से गुणों की लालच जागती है।)

आत्म स्वरूप के लिये प्रतिकूल पुद्गल की ओर मन के गमन को **वक्र गमन** कहा जाता है और वह मोहनीय के औदयिक भाव के कारण होता है। मिथ्यात्व मोहनीय आदि कर्मों का क्षयोपशम होने से आत्म स्वरूप के अनुकूल

ज्ञानादि गुणों की ओर मन का गमन होता है। यह मन का **अवक्र गमन** है।

ऐसे मार्ग में प्रविष्ट आत्मा **मार्ग पतित** कहलाती है और मार्ग में प्रवेश करने योग्य (ऐसा क्षयोपशम होने के योग्य) भाव प्राप्त करती है, वह **मार्गाभिमुख** कहलाती है। **अपुनर्बंधक, मार्गाभिमुख** तथा **मार्गपतित इन तीनों आत्माओं को जिनाज्ञा प्रिय होती है और ये आत्माएं प्रतिज्ञा में दृढ़ता, दोषों की आलोचना करनी इत्यादि से पहचानी जाती है।**

यहां भिन्न-भिन्न ग्रंथों के आधार पर अपुनर्बंधक अवस्था के भिन्न-भिन्न लक्षण आदि के विषय में चर्चा की। इससे फलित होता है कि,

- **चरमा**वर्त काल में कर्म के परिपाक से आत्मा अपुनर्बंधक अवस्था को प्राप्त करती है। **अपुनर्बंधक अवस्था में भावमल का अधिकतम क्षय होने से अपुनर्बंधक आत्मा में संसार के प्रति प्रगाढ़ भवाभिष्वंग** (संसार का प्रगाढ़ प्रतिबंध) **नहीं होता है।** अपुनर्बंधक आत्मा तीव्र भाव से पाप नहीं करती है। संसार के प्रति सन्मान भाव नहीं रखती है और सभी के साथ औचित्यपूर्वक व्यवहार करती है। **अपुनर्बंधक आत्मा शांत, उदात्त, महाशय, पुण्यानुबंधी पुण्य से संपन्न तथा मार्गानुसारी प्रज्ञा से युक्त होती है।** जैसे सौभाग्यशाली, रूपवान और वैभव से संपन्न भोगी भोग सुख के स्वामी होता है, वैसे ही भावी कल्याणवाली प्रकृति को प्राप्त करनेवाली शांत-उदात्त अपुनर्बंधक आत्मा शुभ मनःपरिणाम की स्वामी होती है।[17] **शांतादि शुभ प्रकृतिवाली अपुनर्बंधक आत्मा में अपूर्व आलोचन तथा आज्ञा के प्रति सन्मान भाव प्रकट होता है।** उसमें सहज भव वैराग्य प्रकट होता है। **पूर्वोक्त गुणवैभव के योग से परमार्थ से** (योगमार्ग में प्रवेश करने की योग्यता प्रकट करनेवाली) **योगपूर्वसेवा प्राप्त होती है।**

➠ योगपूर्वसेवा :-

योगप्रासादप्रथमभूमिकारूपा योगपूर्वसेवा।

- योग की पूर्वसेवा 'योग' रूपी महल की प्रथम भूमिका (प्रारम्भिक चरण) स्वरूप है। जैसे महल का निर्माण करने से पूर्व उसकी नींव तैयार करनी पड़ती है, वैसे ही योगमार्ग की प्राप्ति करने से पहिले योग की पूर्वसेवा करनी पड़ती है। जैसे नींव शल्य रहित और मजबूत होती है, तो महल भी टिकाऊ और सुखदायी बनता है, वैसे ही योग पूर्वसेवा रूपी प्रथम भूमिका सुव्यवस्थित और सुदृढ़ हो, तो आगे की भूमिकाएं अधिकतम सुव्यवस्थित और सुदृढ़ बनती हैं।

योगमार्ग की प्राप्ति के लिये पाप जुगुप्सा, अनासक्ति, उदासीन भाव, आत्म परिणति व दया के परिणाम, ये पांच परिणाम प्राप्त करना आवश्यक है। इसके लिये पाप का प्रेम, आसक्ति, पुद्गल का आकर्षण, पर परिणति और निर्ध्वंस परिणाम दूर करना आवश्यक है। पाप का प्रेमादि पांच मलीन भावों का नाश करने के लिये तथा पाप जुगुप्सा आदि पांच शुभ परिणाम प्राप्त करने के लिये ही योग की पूर्वसेवा करनी होती है।

योग की पूर्वसेवा से...रागादि दोष मंद पड़ जाते हैं, ज्ञानादि गुणों का प्रादुर्भाव होता है...**अनादिकाल से आत्मा में डेरा डालकर रहनेवाली दुर्वासनाएं शांत होती हैं...**स्वार्थवृत्तियों पर घात होता है...**दया के परिणाम उजागर होते हैं...**तुच्छ भावनाएं नष्ट होती हैं और उदात्त भावनाएं प्रकट होती हैं...**पाप वृत्ति पर नियंत्रण आता है...**मिथ्याचार व दुराचारों के संस्कार धीरे-धीरे मंद पड़ जाते हैं...**मन-वचन-काया का व्यापार प्रशस्त बन जाता है...**मुक्ति के प्रति अनुकूल भाव प्रकट होता है...**योग मार्ग को प्राप्त करने की चाहत पैदा होती है...**मुक्ति के उपाय अच्छे लगने लगते हैं...**दोष दर्शन की बुरी आदत पर नियंत्रण आता है और गुणानुराग की प्राप्ति होती है...**निंदक वृत्ति और ईर्ष्या वृत्ति दूर होती है...**तात्त्विक श्रद्धा प्राप्त होती है...बोध निर्मल हो जाता है।**[18]

विषय-कषाय के बंधन ढीले हो जाते हैं...**दाक्षिण्यतादि गुण खिल जाते हैं**...इत्यादि अनेक लाभ प्राप्त होते हैं। योग की पूर्वसेवा चार प्रकार की है।

→ योग की पूर्वसेवा के चार प्रकार :-

योग की पूर्वसेवा के चार प्रकार दर्शाते हुए '**योग पूर्वसेवा**' बत्तीसी में कहा गया है कि...

पूर्वसेवा तु योगस्य गुरुदेवादिपूजनम्।
सदाचारस्तपो मुक्त्यद्वेषश्चेति प्रकीर्तिताः ।।१२-१।।

- (यहां योग की चर्चा में) योग की पूर्वसेवा चार प्रकार की दर्शाई गई है - (१) गुरुदेवादि का पूजन, (२) सदाचार, (३) तप तथा (४) मुक्ति का अद्वेष।

→ प्रथम योग पूर्वसेवा :-

गुरुदेवादिपूजनम्। - गुरु वर्ग तथा इष्ट देवता आदि की पूजा करनी प्रथम योग की पूर्वसेवा है। गौरव करने योग्य व्यक्तियों के समुदाय को **गुरु वर्ग** कहा जाता है।[19] माता-पिता, कलाचार्य, माता-पिता आदि के समाजजन, श्रुतवृद्ध तथा वयोवृद्ध, धर्मोपदेशक गुरु आदि व्यक्तियों का समुदाय **गुरु वर्ग** कहलाता है।[20] अनंतगुण के स्वामी, वीतराग, सर्वज्ञ तथा परम गति के प्रापक को **इष्ट देवता** कहा जाता है।

→ **गुरु वर्ग की पूजा : योग पूर्वसेवा** बत्तीसी तथा **योग बिंदु** ग्रंथ में गुरु वर्ग की पूजा की विधि निम्नानुसार बताई गई है।[21] -

(१) उन्हें त्रिकाल नमस्कार करना चाहिये। (२) गुरु वर्ग की पर्युपासना (सेवा-चाकरी) करनी चाहिये। (३) उनका अवर्णवाद (निंदा) नहीं सुनना चाहिये। यदि किसी शत्रु के यहां गुरुवर्ग की निंदा हो रही है, तो उसे रोकनी चाहिये और यदि ऐसा करने की शक्ति न हो तो वह स्थान छोड़ देना चाहिये। (४) गुरु वर्ग की योग्य स्थान पर प्रशंसा करनी चाहिये, उनके उपकारों को स्मरण करके

उनकी प्रशंसा करनी चाहिये। (५) अयोग्य स्थान पर (अशुचि आदिवाले स्थान में) उनका नामोच्चार भी नहीं करना चाहिये। क्योंकि ऐसा करने से गुरु वर्ग की आशातना होती है। (६) अपने धर्म पुरुषार्थ में विक्षेप उत्पन्न न हो, इस प्रकार 'गुरु वर्ग' के अनिष्टों का निवारण करना चाहिये और उन्हें इच्छित वस्तु उपलब्ध करानी चाहिये। (धर्म विरोधी माता-पिता का वचन मान्य नहीं रखना चाहिये । क्योंकि धर्म पुरुषार्थ का काल अत्यंत दुर्लभ है।) (७) गुरु वर्ग को उत्तम वस्त्रादि का दान करना चाहिये। (८) माता-पितादि की (अलंकार आदि) संपत्ति का तीर्थ स्थान में विनियोग करना चाहिये। क्योंकि उनकी संपत्ति का उपभोग और संग्रह करने से माता-पिता की मृत्यु की अनुमोदना का दोष लग सकता है। (९) गुरु वर्ग के आसन, शयन, भोजन के पात्रों आदि का परिभोग नहीं करना चाहिये। (१०) गुरु वर्ग के बिंब स्थापित करके उनकी प्रतिदिन पूजा करनी चाहिये।

→ गुरु वर्ग की पूजा से होनेवाले लाभ :-

उपकारियों के उपकार स्मरण रखने से कृतज्ञता गुण की प्राप्ति होती है। लौकिक क्षेत्र के उपकारियों के उपकार स्मरण रखने के संस्कार लोकोत्तर मार्ग में भी काम आते हैं। पूज्यवर्ग की पूजा आदि से विनय, नम्रता आदि गुण प्रकट होते हैं और वृद्धिवंत बनते हैं...गुरु वर्ग की कृपा प्राप्त होती है, जो क्रमिक गुण विकास में कारण बनती है...मान-कषाय समाप्त होने से अन्य कषाय भी मंद पड़ जाते हैं...कृतज्ञता गुण परिपुष्ट होने से अन्य कई गुणों को खींच लाता है...कृतज्ञता गुण के फलस्वरूप अन्य व्यक्ति भविष्य में पुनः उपकार करने के लिये उत्साहित होते हैं...ये सभी आत्मीय लाभ प्राप्त होने से आत्मा योग मार्ग की आराधना के पात्र बनती है।

→ इष्ट देवता की पूजा[22] :-

बाह्य-आंतरिक पवित्रता और श्रद्धापूर्वक पुष्पों से, विलेपन, धूप, नैवेद्य तथा

सुंदर स्तुतियों से इष्ट देवता की पूजा करनी चाहिये। **यहां स्मरण रखें कि,** योग पूर्वसेवा अन्य दर्शन में रहनेवाली आत्माओं को भी प्राप्त हो सकती है। ये आत्माएं अपने क्षयोपशम के अनुसार तथा स्वयं को प्राप्त सामग्री के अनुसार देवता का चयन करती हैं। उनके द्वारा चयनित देव वीतराग न होने के बावजूद उन्हें वीतराग मानकर पूजती हैं। इसके बावजूद इस कक्षा तक पहुंचने से कदाग्रह रहित और प्रज्ञापनीय होती हैं। कदाग्रह हो तो भी वे निवर्तनीय कोटि का होता हैं। इसलिये वे आत्माएं जिस देव को पूजती हों, उन्हें पूजने देना चाहिये और **'चारि संजीविनी'**[23] न्याय से वीतराग परमात्मा के अभिमुख बनाने का प्रयत्न करना चाहिये और अन्य मिथ्यादेवों की पूजा छुड़वानी चाहिये।

→ 'चारि संजीविनी' न्याय इस प्रकार है :-

स्वस्तिमती नगरी है। यहां एक ब्राह्मण की पुत्री है। इसी नगरी में उसकी एक अत्यंत प्रिय सखी है। समय बीतने पर दोनों का विवाह हुआ और दोनों अलग-अलग स्थानों पर रहने के लिये चली गईं। एक बार ब्राह्मण पुत्री की सखी को चिंता होती है कि उसकी सखी सुखी है या नहीं ? इसलिये वह उससे मिलने के लिये उसके घर जाती है और उसकी महेमान बन जाती है। वहां रहकर वह अपनी सखी की परिस्थितियों का अवलोकन करती है। उसे अपनी सखी विषाद रूपी समुद्र में डूबी दिखाई देती है। इसलिये वह उससे पूछताछ करती है। तब ब्राह्मण पुत्री कहती है कि, सखी मैं पापिन हूं और पति को अप्रिय हूं। तो सखी कहती है कि तू चिंता मत कर, विषाद विष तुल्य है, मैं तेरे पति को वनस्पति के मूल के प्रभाव से बैल बना देती हूं। सखी ब्राह्मण पुत्री को वनस्पति का मूल देकर अपने घर चली गई। इधर सखी ने वह मूल अपने पति को खिला दिया और उसका पति बैल बन गया। पति के बैल बन जाने से ब्राह्मण पुत्री पुनः चिंतातुर हो जाती है। क्योंकि उसे पति के प्रति प्रेम तो था ही। इसलिये वह उसे चराने के लिये प्रतिदिन जंगल जाती थी। एक दिन जंगल में बैल को चरने के लिये छोड़कर वह एक वृक्ष के नीचे बैठ गई। योगानुयोग इसी वृक्ष पर एक

विद्याधर युगल बैठा था। दोनों के बीच परस्पर वार्तालाप चल रहा था। इसमें विद्याधर विद्याधरी से कह रहा था कि, ये जो सामने बैल दिखाई दे रहा है, वह वास्तव में बैल नहीं है। परन्तु मनुष्य से बैल बना है। तो विद्याधरी अपने पति से पूछती है कि यह बैल पुनः मनुष्य कैसे बन सकता है ? तो विद्याधर उत्तर देता है कि, "इस वृक्ष के नीचे जो संजीविनी नामक वनस्पति है, उससे वह कृत्रिम बैल से पुनः मनुष्य बन सकता है।" इस वार्तालाप के बाद विद्याधर युगल अन्यत्र चला जाता है। इधर विद्याधर युगल के वार्तालाप से सुने उपाय को जानकर वह पश्चात्ताप में झुलस रही स्त्री संजीविनी वनस्पति की खोज में जुट जाती है। उसे उस वनस्पति का ज्ञान नहीं होने के कारण उस वृक्ष के नीचे स्थित सभी वनस्पतियां बैल बने पति को खिला देती है। इन्हीं वनस्पतियों में से एक वनस्पति संजीविनी भी थी, इसलिये उसका बैल पुनः पुरुष बन जाता है। यह 'चारि संजीविनी' न्याय है।

इस न्याय का सार यह है कि, जैसे ब्राह्मण स्त्री संजीविनी को न जानने के कारण सभी वनस्पतियां बैल को खिला देती है और उनमें से संजीविनी के प्रभाव से बैल मनुष्य बन जाता है। वैसे ही अन्य दर्शन में स्थित व्यक्ति वीतराग परमात्मा को नहीं पहचानता है, इसलिये सभी देवों को पूजता है। इस दौरान वह अन्य देवों के साथ ही वीतराग की भी पूजा करता है। वह व्यक्ति कदाग्रही न होने के कारण तथा प्रज्ञापनीय होने से वीतराग की पूजा करने से मोहनीय कर्मों का क्षयोपशम करके सच्चा ज्ञान प्राप्त करता है और सत्य-असत्य का विवेक प्राप्त करता है। इससे 'वीतराग ही सच्चे देव हैं, अवीतराग नहीं' उसमें यह भाव प्रकट होता है। फिर वह अवीतरागी देवों का त्याग कर देता है अर्थात् विवेक प्राप्ति होने से पशुप्रायः अविवेकी दशा समाप्त हो जाती है और सच्ची वस्तु की प्राप्ति हो जाती है। वीतराग प्ररूपित धर्म की प्राप्ति हो जाती है।

एक बात उल्लेखनीय है कि, इस न्याय का योजन जैनशासन से दूर स्थित जीवात्माओं में करना है। जिन्हें जैनशासन के वीतराग परमात्मा आराध्यदेव के

रूप में प्राप्त हुए हैं, उनके लिये इस न्याय का योजन नहीं करना है। जिन्हें वीतराग परमात्मा प्राप्त नहीं हुए हैं, ऐसे व्यक्ति को वीतराग परमात्मा तथा वीतराग परमात्मा द्वारा प्ररूपित धर्म की प्राप्ति कराने के लिये ही इस न्याय का उपयोग करना है।

जैनशासन को किसी देव अथवा व्यक्ति-प्राणी के प्रति कोई द्वेष नहीं है। परन्तु जिसमें देवत्व हो उसे ही देव मानता है। जो वीतराग और सर्वज्ञ हो तथा सर्व कर्म का क्षय करके परम गति को प्राप्त कर चुका हो, उसे ही देव कहा जाता है। जो वीतराग नहीं, सर्वज्ञ नहीं, सामान्य आत्मा की भांति जैसे संसार में जन्म-मृत्यु को प्राप्त करता है, उसे देव कैसे कहा जाता है ? उसे देव हरगिज़ नहीं कहा जा सकता।

इष्ट देवता के नमस्कार से...मोह मिटता है, आत्म शुद्धि होती है, सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होती है और संप्राप्त सम्यग्दर्शन निर्मल बनता है। इससे योग मार्ग की भूमिकाओं का सर्जन होता है। प्रथम योग पूर्वसेवा में गुरु वर्ग तथा देवता की पूजा बताकर, यहां **'गुरुदेवादि-पूजनम्'** में जो आदिपद को ग्रहण किया है, उस आदि पद से दीनादि वर्ग को दान देने के लिये कहा गया है।

→ दीनादि वर्ग को विधिपूर्वक दान देना चाहिये :-

माता-पितादि पोष्य वर्ग को संकोच न हो और दाता व ग्राहक (ग्रहण करनेवाले) के धर्म में बाधा न पहुंचाए, ऐसे सुपात्र में तथा दीनादि वर्ग में दान देना चाहिये, यह भी योग की पूर्वसेवा है।[24]

जिसकी आजीविका हेतु पुरुषार्थ करने की शक्ति क्षीण हो गई हो, उसे **दीन** कहा जाता है। नयन रहित व्यक्ति को **अंध** कहा जाता है। स्वभाव से ही सज्जनों के कृपापात्र को **कृपण** कहा जाता है। रोग ग्रसित शरीरधारी को **रोगी** कहा जाता है। निर्धन को **निःस्वन** कहते हैं। ऐसे सभी दीनादि को योग्य ढंग से उचित दान देना चाहिये। **दान धर्म का प्रथम पायदान है। (धर्मस्यादिपदं दानम्योगबिन्दुः)**

क्योंकि दान से उदारता बढ़ती है, देने की आदत पड़ती है, परिग्रह की ममता नष्ट होती है। परोपकार का भाव खिलता है और विशिष्ट कोटि के पुण्य का बन्ध होता है, जो भविष्य में धर्मसामग्री प्रदान करता है। **दान निराशंसभाव से ही करना है। किसी भौतिक आशंसा से दान नहीं करना चाहिये।** दीनादि वर्ग की सहायता करने से उन दुःखी जीवात्माओं का सन्मान होता है। इससे आस्तिकता गुण को पोषण मिलता है और दया के परिणाम प्राप्त होते हैं। इसके अतिरिक्त शासन प्रभावना भी होती है। वे शासन की प्रशंसा करके शासन के निकट आते हैं। इस प्रकार प्रथम योग की पूर्वसेवा पूर्ण होती है। अब दूसरी योगपूर्वसेवा पर चर्चा करेंगे।

(२) दूसरी योग पूर्वसेवा : सदाचार[25] :-

सदाचार का पालन सुधर्म का बीज है। सदाचार रहित धर्म व्यभिचारिणी स्त्री के उपवास जैसा निरर्थक-अनर्थकारी होता है। सदाचार के पालन से आत्मा की भूमि कोमल बनती है, दया के परिणामों से प्लावित होती है, दोषों का उपशमन होता है, **सदाचार से धैर्य बढ़ता है,** वाणी-व्यवहार-विचार सुंदर बनते हैं, हृदय में गुणों का आधान होता है, **मनोवृत्तियां निर्मल बनती हैं और दोषों का उन्मूलन तथा संस्कारों का आधान होता है,** इससे योगमार्ग में प्रवेश करने की भूमिका तैयार होती है।

➞ सदाचार का स्वरूप :-

जो आचार व्यवहार में पाप से भय उत्पन्न करे, विचारों में उदात्तता लाए, वाणी में मधुरता और सौजन्यता लाए अर्थात् मन-वचन-काया के व्यापार को प्रशस्त बनाए उसे सदाचार कहते हैं। मन-वचन-काया के जिस व्यवहार से दूसरों को दुःख न पहुंचे और स्वयं पर पाप का भार न आए, मन-वचन-काया के उस व्यवहार को **सदाचार** कहते हैं। जिससे तुच्छ भावनाओं-स्वार्थ भावनाओं और कुप्रवृत्तियों का उपशमन हो, उसे **सदाचार** कहते हैं। जिससे स्वच्छंद

वृत्तियां नष्ट हों और प्रभुआज्ञा तथा शिष्ट पुरुषों के परतंत्र वृत्तियां प्रकट हों, उसे **सदाचार** कहते हैं। जिसके द्वारा स्व-पर दोनो को शांति मिले, उसे सदाचार कहते हैं । जिससे प्रवृत्ति, वृत्ति और परिणति उदात्त-निर्मल बनती है, उसे **सदाचार** कहते हैं। जिसके द्वारा पंचाचार (ज्ञानाचार-दर्शनाचार-चारित्राचार-तपाचार-वीर्याचार) के पालन की योग्यता प्रकट हो, उसे **सदाचार** कहते हैं। **सदाचार** का यह सामान्य स्वरूप दर्शाया है। **अब योगपूर्वसेवा बत्तीसी** के आधार पर **सदाचार के प्रकार** व उसके **स्वरूपों** के विषय में चर्चा करेंगे।

सुदाक्षिण्यं दयालुत्वं दीनोद्धारः कृतज्ञता।
जनापवादभीरुत्वं सदाचाराः प्रकीर्तिताः।।१३।।

रागो गुणिनि सर्वत्र निन्दात्यागस्तथापदि।
अदैन्यं सत्प्रतिप्रज्ञत्वं सम्पत्तावपि नम्रता।।१४।।

अविरुद्धकुलाचारपालनं मितभाषिता।
अपि कण्ठगतैः प्राणैरप्रवृत्तिश्च गर्हिते।।१५।।

प्रधानकार्यनिर्बन्धः सद्व्ययोऽसद्व्ययोज्झनम्।
लोकानुवृत्तिरुचिता प्रमादस्य च वर्णनम्।।१६।।

- (१) सुदाक्षिण्य, (२) दयाभाव, (३) दीन जीवात्माओं का उद्धार, (४) कृतज्ञता, (५) जनापवाद भीरुत्व, (६) गुणानुराग करना, (७) सर्व स्थलों पर निंदा का त्याग करना, (८) आपत्ति में दीन नहीं बनना, (९) सत्प्रतिप्रज्ञत्व, (१०) संपत्ति में नम्रता, (११) अविरुद्ध कुलाचार का पालन, (१२) मितभाषिता, (१३) निंदित कार्यों का त्याग करना, (१४) प्रधान कार्य का आग्रह रखना, (१५) सद्व्यय करना और असद्व्यय का त्याग करना, (१६) लोगों का अनुसरण करना तथा (१७) प्रमाद का त्याग करनाः यह सत्तरह प्रकार के सदाचार हैं। (अब प्रत्येक सदाचार का स्वरूप देखते हैं।)

(१) सुदाक्षिण्य (सुदाक्षिण्यता) :-

गंभीरधीरचेतसो निर्मत्सरस्य च प्रकृत्यैव परकृत्याभियोगपरता सुदाक्षिण्यम्। **(योग बिन्दुः)** - गंभीर, धीर और ईर्ष्या रहित मनवाली आत्मा की स्वाभाविक रूप से अन्य के कार्य अच्छे से करने की तत्परता को **'सुदाक्षिण्यता'** कहा जाता है। योग्य व्यक्ति द्वारा निर्दिष्ट कार्य को समुचित ढंग से पूर्ण करने को **दाक्षिण्यता** कहा जाता है। **गंभीरता, धीरता और निर्मत्सरता : इन तीन गुणों को धारण करनेवाली अपुनर्बंधक आत्मा दाक्षिण्यता नामक सदाचार का पालन कर सकती है।** अन्य का हित करने की और सहायता करने की वृत्ति को **उदात्त** आशय विशिष्ट मन कहा जाता है। ऐसे उदात्त आशय विशिष्ट मन को **गंभीर मन** कहा जाता है। ऐसा व्यक्ति ही निःस्वार्थ भाव से अन्य का कार्य कर सकता है। गंभीर व्यक्ति ही कार्य के प्रति प्रतिबद्ध और निष्ठावान रह सकता है। धीरता के बिना बाह्य-आंतरिक विघ्न के विरुद्ध नहीं लड़ा जा सकता और विघ्न पर जीत के बिना कार्य सफल नहीं होता है। ईर्ष्या रहित मनोवृत्तिवाला व्यक्ति ही अन्य का कार्य उल्लासपूर्वक कर सकता है। क्योंकि काम बतानेवाले के प्रति ईर्ष्या (द्वेष) होगी तो काम करने का उल्लास जागृत ही नहीं होगा। **ग्रंथकार ने एक अन्य स्पष्टता भी की है कि,** दूसरे का कार्य करने का उल्लास स्वाभाविक रूप से जागृत हो तो ही **'दाक्षिण्यता'** गुण सदाचार कहलाता है। अन्य के आग्रह से, स्वार्थ से, अच्छे दिखने के लिये अथवा काम करूंगा तो आगे वे भी हमारी मदद करेंगे, इस प्रकार की इच्छाओं से अन्य का कार्य किया जाए तो वह **'दाक्षिण्यता'** सदाचार नहीं होती है। **'दाक्षिण्यता'** गुण योगमार्ग में प्रवेश करने की प्रथम योग्यता है। क्योंकि इसी गुण से शिष्ट पुरुष साधक की योग्यता की कसौटी करते हैं।

'दाक्षिण्यता' सदाचार से...अच्छे कार्य करने की आदत पड़ती है, अन्य का कार्य को इनकार करने से जो रीढे परिणाम प्राप्त होते हैं, उनसे बचाव होता है, साधना मार्ग में प्रवेश करने का अवसर मिलता है, अनेक दोषों (दाक्षिण्यता से संयम में रहे हुए नागिला के पति भवदेव मुनि की भांति दोषों) से बचाव होता है, योग मार्ग में प्रवेश करने की योग्यता प्राप्त होती है, विकसित होती है, शिष्ट

पुरुषों का प्रेम प्राप्त होता है और वह साधना में स्थिरता प्रदान करता है तथा उदारता आदि गुण भी खिलते हैं। ऐसे अनेक लाभ दाक्षिण्यता सदाचार से प्राप्त होते हैं। **अपुनर्बंधक आत्मा के भावमल का अधिकतम क्षय होने के कारण उसके हृदय का झुकाव सहज रूप से शुभ कार्यों की ओर होता है। इसीलिये यह सदाचार जीवन में सहज रूप से ही आता है।**

(२) दयाभाव :-

दयालुत्वं निरुपधिपरदुःखप्रहाणेच्छा ।- स्वार्थ रहित (ज्ञानपूर्वक) अन्य जीवात्माओं के दुःख दूर करने की इच्छा को दयाभाव कहते हैं।

अपुनर्बंधक आत्मा को स्वयं के अस्तित्व का भान होता है। भूतकाल व भविष्यकाल में भी आत्मा के अस्तित्व को स्वीकार करती है। इसी प्रकार जगत की अन्य आत्माओं के अस्तित्व को भी स्वीकार करती है और आत्मदृष्टि से सभी को समान दृष्टि से देखती है। तुल्य दृष्टि के कारण जैसे स्वयं को दुःख अच्छा नहीं लगता है, वैसे ही अन्य आत्माओं को भी दुःख पसंद नहीं होता है, यह समझने लगती है। इसी कारण से अन्य आत्माओं के दुःख दूर करने का परिणाम जागृत होता है। इससे उसके जीवन में जयणा आती है। किसी जीवात्मा को स्वयं से कोई दुःख न पहुंचे, ऐसी भावना जागृत होती है।

दया दो प्रकार की होती है। एक द्रव्य दया और दूसरी भाव दया। अन्य जीवात्माओं के शारीरिक-मानसिक दुःखों को दूर करने का परिणाम **द्रव्यदया** है और अन्य की आत्मा का हित हो, ऐसी भावना को **भाव दया** कहा जाता है। दया के परिणाम को प्राप्त करनेवाली आत्मा में एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक किसी भी जीवात्मा को दुःख देने की वृत्ति नहीं होती है। दया आत्मा का परिणाम है। वह अन्य जीवात्माओं के प्राणों की रक्षा की प्रवृत्ति से साक्षात् देखने को मिलता है। अपुनर्बंधक अवस्था में भावमल बहुत अल्प हो जाने से आत्मा में दया के परिणाम सहज रूप से प्रकट हो जाते हैं। इसलिये वह इस पूर्वसेवा की आराधना सुंदर ढंग से कर सकती है। इस

पूर्वसेवा के पालन से दया के परिणाम प्राप्त होते हैं और दृढ़ होते हैं। इससे योगमार्ग में प्रवेश करने की योग्यता प्राप्त होती है।

(३) दीनजीवात्माओं का उद्धार :-

दीनोद्धारः दीनोपकारयत्नः । - दीन जीवात्माओं पर उपकार करने के प्रयत्न को **'दीनोद्धार'** कहा जाता है। पूर्वकृत पाप कर्म के बल से आजीविका के लिये पुरुषार्थ नहीं कर पानेवाले जीवात्माओं को दीन कहा जाता है। उनका उद्धार करने से उनका दुःख दूर होता है और हमें दया के परिणाम प्राप्त होते हैं। साथ ही परोपकार करने का अवसर मिलता है, इससे संपत्ति सार्थक होती है और संपत्ति की मूर्च्छा नष्ट होती है। दूसरों के दुःखों का विचार करने से आस्तिक्य गुण को पोषण मिलता है। अनुकंपा गुण भी प्राप्त होता है। ये दोनों ही गुण सम्यग्दर्शन के समीप ले जाते हैं। **दीनजीवात्माओं का उद्धार शासन प्रभावना का भी अंग है।** क्योंकि उपकृत होनेवाले दीन जीवात्मा हम पर तथा हमारे धर्म-शासन पर प्रसन्न होते हैं। **उन्हें विचार आता है कि "इनके धर्म में अन्य के दुःख दूर करने का भी विचार किया जाता है। वास्तव में इनका धर्म अच्छा है।" ऐसे परिणाम से उन जीवात्माओं की आत्मा में धर्म के बीजारोपण होते हैं।** इनके प्रभाव से कालांतर में ये जीवात्माएँ जैनशासन की छत्रछाया में आ जाते हैं। इस प्रकार जैनशासन की अपूर्व प्रभावना होती है। इस सदाचार को जैनशासन में अनुकंपा धर्म के रूप में पहचाना जाता है।

(४) कृतज्ञता :-

कृतज्ञता परकृतोपकारपरिज्ञानम् । - दूसरों के द्वारा किये गये उपकारों को निरंतर स्मरण रखने को **कृतज्ञता** कहा जाता है। योगमार्ग की प्राप्ति के लिये यह कृतज्ञता गुण अत्यावश्यक है। इस गुण से ही जीवात्मा के चरित्र और स्वभाव की परीक्षा होती है। **जो व्यक्ति दूसरों के द्वारा किये गये उपकारों को भूल जाता है, उसे कृतघ्नी कहा जाता है।** कृतघ्नी व्यक्ति का कोई विश्वास नहीं

करता है, उस पर कोई उपकार करने के लिये भी तत्पर नहीं होता है और इसलिये वह अन्य गुणों से वंचित रह जाता है। जबकि कृतज्ञी व्यक्ति पर किसी के भी मन में उपकार करने की भावना जागृत हो सकती है। इस कारण उसे ज्ञानादि निरंतर मिलते रहते हैं। अतिकषायाधीन-स्वार्थी व्यक्ति कृतघ्नी बन जाता है। अपुनर्बंधक अवस्था में भावमल अत्यंत अल्प हो जाने के कारण जीवात्मा में अत्यंत संक्लिष्ट परिणाम नहीं होते हैं। इसलिये वह उपकारियों के उपकार को निरंतर स्मरण में रखता है।

(५) जनापवाद भीरुत्व :-

जनापवादान्मरणान्निर्विशिष्यमाणाद्भीरुत्वं भीतभावः । - लोक निंदा मृत्यु समान है। इसलिये उसका भय रखना **'जनापवाद भीरुत्व'** नामक सदाचार है। यह गुण निंदित कार्यो से दूर रखता है। उसके फलस्वरूप आत्मा अनेक पापों से बच जाती है और सत्कार्य करने की योग्यता प्रकट होती है तथा जीवित रहती है। इसके अलावा खानदानी भी जीवित रहती है और बरकरार रहती है। लोकनिंदा से मन स्वस्थ नहीं रहता है और अस्वस्थ मन अनेक प्रकार की समस्याएं उत्पन्न कर सकता है। अस्वस्थ मन धर्म नहीं करने देता है और कदाचित मन पापों की ओर भी जा सकता है।

इस सदाचार से 'लज्जा' गुण की प्राप्ति होती है। लज्जा गुण अनेक दोषों से बचा लेता है। आत्मा स्वच्छंदी बनने से बच जाती है। इससे आत्मा में पड़े दोष जागृत नहीं हो पाते हैं और सदाचारों का पालन करने से दोष नष्ट हो जाते हैं। इस प्रकार आत्मा दोषों तथा दुष्प्रवृत्तियों से मुक्त हो जाती है। संक्षेप में सदाचार के पालन से आत्मा अनेक मानसिक दोषों से बच जाती है। परिणामस्वरूप कायिक व वाचिक पतन से भी बचा जा सकता है।

सदाचार का जिसे यथोचित पालन करना हो, उसे निम्नलिखित निंदक वृत्तियों-प्रवृत्तियों का त्याग करना चाहिये -

सार्वजनिक स्थलों पर अथवा सार्वजनिक मार्गों पर स्त्रियों पर कुदृष्टि डालना...किसी की गुप्त बातें सुनने में रुचि होना...किसी की बात में कूद पड़ना...शारीरिक अंगों से शिष्टाचार विरोधी चेष्टाएं करना...उपकारियों के साथ दुर्व्यवहार करना...किसी का विश्वासघात करना...जुआ आदि सात प्रकार के व्यसन खेलना...कन्या का सौदा करना...वृद्धावस्था में विवाह करना...कर्ज लेकर मौज-मस्ती करना...कर्ज समय पर न चुकाना...बड़ी-बड़ी बातें करना...अपने मुंह अपनी प्रशंसा करना...दूसरों को नीचा दिखाना...निंदा आदि प्रवृत्तियां करना...इन सभी प्रवृत्तियों का त्याग करना चाहिये।

(६) गुणानुराग[26] :-

गुणवान पुरुषों पर अनुराग (सन्मान भाव) सदाचार है। गुणवान पुरुषों से कभी द्वेष नहीं करना चाहिये। **गुणानुराग अप्राप्त गुणों को आत्मा में प्रवेश करानेवाला द्वार है।** किसी भी कारण से गुणों को धारण न कर सके, तो भी वह व्यक्ति गुणवान पुरुषों के प्रति सन्मान भाव तो अवश्य रखता है, ऐसे व्यक्ति को गुणवान पुरुष जो आराधना करते हैं, उस आराधना का फल प्राप्त होता है।

ज्ञानियों ने गुणानुराग को पाथेय की उपमा दी है। जैसे यात्रा पर निकले यात्री के लिये पाथेय परम आधार बनता है, वैसे ही मोक्ष मार्ग के यात्री के लिये भी गुणानुराग पाथेय का काम करता है। जो-जो अनुष्ठान करने का सामर्थ्य न हो, वे अनुष्ठान करनेवाला गुणवान पुरुष के प्रति सन्मान भाव धारण करने से उसे उन अनुष्ठानों को करने की शक्ति प्राप्त होती है और तीव्र गुणानुराग हो तो अनुष्ठानों का फल ही प्राप्त हो जाता है। इससे उसकी मोक्ष मार्ग की यात्रा निर्विघ्न हो जाती है।

दृष्टिपथ में जो बार-बार आता है, उसका प्रभाव हृदय पर पड़ता है और उसकी हृदय में स्थापना हो जाती है तथा समय बीतने पर वह वस्तु जीवन में चरितार्थ होती देखने को मिलती है। अन्य के गुणों को देखेंगे तो गुणों का

प्रभाव हृदय पर पड़ेगा और वे गुण जीवन में चरितार्थ होंगे अर्थात् हमें भी वे गुण प्राप्त होंगे। यदि दोष देखेंगे तो उनका हृदय में आधान होगा और समय बीतने पर जीवन दोषों से भर जाएगा।

अपुनर्बंधक जीवात्मा के मिथ्यात्व का क्षयोपशम होने के कारण उसे आत्म शुद्धि प्राप्त होती है। जिससे आत्म स्वरूप उजागर होता है। इससे आत्मा के गुण अंशतः प्रकट होते हैं और इन गुणों को और खिलाने की भावना भी प्रकट होती है। गुणप्राप्ति दुर्लभ है यह बात भी समझ में आ जाती है। इसलिये दुर्लभ गुण जिसे प्राप्त होते हैं उनके प्रति उसके मन में स्वाभाविक रूप से सन्मान भाव जागृत होता है।

गुणानुराग से गुण का पक्षपात बढ़ता है। गुण के पक्षपात से गुणों के पालन की शक्ति का संचय होता है। गुणों के पालन की शक्ति का संचय हुआ हो और सामग्री के अभाव में गुण की आराधना नहीं हो पाती है तो भी गुण की आराधना जितना ही फल मिल जाता है।

गुणाकांक्षा जागृत हो तो ही सच्चा गुणानुराग प्रकट होता है। गुणाकांक्षा रहित गुणानुराग सच्चा नहीं होता है। अपने दोष खटकते हों और गुणों को प्राप्त करने की इच्छा हो तो ही सच्चा गुणानुराग प्रकट होता है।

अपुनर्बंधकादि सभी आत्माओं के जिन वचनानुसारी-मार्गानुसारी गुणों की अनुमोदना करनी है। हां, गुण गुणस्वरूप में होना चाहिये। किसी के भी गुणाभास की अनुमोदना नहीं करनी है। **संक्षेप में गुणानुराग से...** गुणों के पालन की शक्ति का संचय होता है, तुच्छ भावनाओं की पुष्टि नहीं होती है, दोष दर्शन की बुरी आदत नहीं पड़ती है, प्रमोद भावना पुष्ट होने से मन को प्रसन्नता प्राप्त होती है और समय बीतने पर अनेक गुणों की प्राप्ति होती है।

यहां एक बात विशेषतः स्मरण रखनी है कि, प्रभु के मार्ग में स्थित आत्माओं के गुणों की मन में तो अनुमोदना करनी ही है और साथ ही साथ

उनके गुणों की सही अवसर पर सार्वजनिक रूप से भी प्रशंसा की जा सकती है। परन्तु जो प्रभु के मार्ग पर नहीं हैं ऐसी आत्माओं के जिन वचनानुसारी गुणों की अनुमोदना मन में ही की जा सकती है, परन्तु उनके गुणों की सार्वजनिक रूप से कभी प्रशंसा नहीं करनी है। क्योंकि ऐसा करने से उनके एक जिन वचनानुसारी गुण की अनुमोदना के साथ ही अन्य गुणाभासों की-मिथ्या धर्मों की भी प्रशंसा हो जाती है। इसलिये परमार्थ को नहीं जाननेवाली जगत की आत्माएं भी उनके गुणाभासों तथा मिथ्या धर्मों को सच्चा और अच्छा मानने लगती हैं और इससे बड़ा अनर्थ हो जाता है। **हमारे माध्यम से कोई उन्मार्ग पर चला जाए तो हम दुर्लभबोधि बन जाते हैं।**

(७) सभी जगहों पर निंदा का त्याग करना चाहिये :-

सर्वत्र जघन्यमध्यमोत्तमेषु निन्दात्यागः परिवादापनोदः । - जघन्य, मध्यम तथा उत्तम सभी जीवात्माओं के विषय में निंदा का त्याग करना चाहिये।

दूसरों को नीचा दिखाना, उसके दोषों का अन्य के समक्ष वर्णन करना, इसे **निंदा** कहा जाता है। निंदा उलटी का दर्द है। जिसमें खाया हुआ पचाने की शक्ति नहीं होती है, वह व्यक्ति खाने के बाद उलटी करता है। वैसे ही जिसमें अन्य के दोष पचाने की गंभीरता नहीं होती है तो वह अन्य के दोषों को जानकर दूसरों के समक्ष उनका वर्णन करता है। अनादिकाल से आत्मा निज को छोड़कर पर में रमण करने की आदी है। इसी कारण उसे अन्य की बातों में अधिक रुचि पड़ती है। जिससे निज-पर किसी को भी कोई लाभ नहीं होता है, ऐसी तुच्छ वृत्ति वह निरंतर करती रहती है। हृदय की तुच्छता ही उससे तुच्छ प्रवृत्तियां कराती है। **अपुनर्बंधक आत्मा उदात्त होती है। इसलिये उसे तो उच्च-उच्चतर विषयों में ही रुचि होती है। उसे किसी तुच्छ बात या कार्य में कोई रुचि नहीं होती है। इसीलिये वह निंदा जैसी तुच्छ प्रवृत्ति में भी नहीं पड़ती है।**

जिसे भी योगमार्ग में प्रवेश करना हो, उसके लिये गुणानुराग विकसित करना

जरूरी है तथा निंदा का त्याग करना अत्यावश्यक है। निंदा से मनोवृत्ति मलीन हो जाती है, समय व्यर्थ होता है, विभाव पुष्ट होता है, कषाय की रुचि को पोषण मिलता है, परपरिणति पुष्ट होती है, अन्य के दोष जानने की कुतूहलता बढ़ती है और फलस्वरूप क्लिष्ट कर्मबंध और दोषों का सिंचन होता है।

(८) आपत्ति में दीन नहीं बनना चाहिये :-

आपदि विपत्तौ अदैन्यमदीनभावः । - आपत्ति में दीन नहीं बनना चाहिये, यह आठवां सदाचार है।

योगमार्ग में प्रवेश करने के इच्छुक व्यक्ति को कर्म की विषमताओं और उनसे उत्पन्न होनेवाली भिन्न-भिन्न परिस्थितियों से ऊपर उठकर अध्यवसायों को निर्मल रखना होता है अर्थात् शुभ कर्म के उदय से आनेवाले सुख में छकना नहीं है और अशुभ कर्म के उदय से आए दुःख में दीन नहीं बनना है। लीनता और दीनता, अनुकूलता की इच्छा और प्रतिकूलता की अनिच्छा को पोषित करके रागादि विभाव को बढ़ाती है। यदि विभाव बढ़ जाएगा तो योगमार्ग में प्रवेश करना कठिन हो जाएगा। इसलिये कैसी भी आपत्ति में दीन नहीं बनना है।

दीनता से... द्वेष की परिणति बढ़ती है, दुःख के असहनीय हो जाने से आराधना का उल्लास टूट जाता है, आर्त्तध्यान होता है, अनेक मानसिक विक्रियाएं उत्पन्न होती हैं, अरति-शोक के द्वंद्वों से मन संतप्त रहता है और मन की मलीनता अध्यवसायों को मलीन करती है, उपशम भाव की प्राप्ति असंभव हो जाती है, धीरज टूट जाती है और इससे परिषह-उपसर्ग से लड़ने की शक्ति क्षीण हो जाती है।

दुःख-प्रतिकूलता आए तब अपने पाप कर्मों का परिणाम समझकर शांत रहना चाहिये। "दुःख अधिक से अधिक मुझे बाह्य स्वरूप की हानि पहुंचाएंगे, उनमें मेरी आत्मा को हानि पहुंचाने की शक्ति नहीं है। आनेवाले दुःखों को हंसते हुए सहन कर लेंगे तो कर्मनिर्जरा होगी और मेरी आत्मा शुद्ध होगी। अन्यथा

संपत्ति में अभिमान करने से...कषायों की पुष्टि होती है, स्वोत्कर्ष व परापकर्ष की भावना प्रकट होती है, मन जड़ बन जाता है, विनय करनेवाले स्थानों पर भी विनय नहीं होता है और विनय के बिना अन्य गुण नहीं आते हैं, वाणी-वर्ताव में जड़ता आ जाती है और अन्य का तिरस्कार होता है। इन सभी कारणों से आत्मा योगमार्ग में प्रवेश नहीं कर पाती है।

संपत्ति में नम्रता से... अभिमान नहीं होता है, जिससे अन्य कषायों की पुष्टि नहीं होती है, अन्य दुर्गुण उत्पन्न नहीं होते हैं, अन्य का सम्मान हो सकता है और इससे अन्य की प्रीति प्राप्त होती है, वाणी-वर्ताव में नम्रता आने से साथ में रहनेवालों को भी शांति मिलती है।

अभिमान से स्वदोष दर्शन बंद हो जाता है और इससे दोषों का शल्योद्धार नहीं हो पाता है। इसीलिये किसी भी प्रकार की संपत्ति अथवा अच्छी वस्तु प्राप्त हो तो नम्र बने रहना चाहिये। **भौतिक अथवा आध्यात्मिक किसी भी प्रकार की संपत्ति की प्राप्ति में विनम्र रहने से भौतिक संपत्ति का सदुपयोग होता है और आध्यात्मिक संपत्ति आत्म विकास की कारक बनती है।**

(११) अविरुद्ध कुलाचार का पालन :-

अविरुद्धस्य धर्माद्यप्रतिपन्थिनः कुलाचारस्य पालनम् अनुवर्त्तनम् । - धर्म अविरोधी कुलाचार का पालन करना चाहिये।

भूखे को अन्न देना चाहिये, अतिथि का सत्कार करना चाहिये, बड़ों का विनय करना चाहिये, इष्टदेव की पूजा करनी चाहिये, पड़ोसी धर्म का पालन करना चाहिये, अन्य के दुःख में सहायक बनना चाहिये, अन्य के साथ सौजन्यतापूर्ण व्यवहार करना चाहिये, कुल की शील मर्यादा और वेशभूषा आदि का पालन करना चाहिये, इत्यादि जो धर्म के विरुद्ध नहीं हैं, ऐसे कुलाचार का पालन करना चाहिये।

धर्मानुरूप कुलाचार के पालन से... अच्छे कार्य करने का अभ्यास होता

है, उचित-अनुचित प्रवृत्ति का विवेक आता है, अच्छे आचरणों का पालन करने की आदत पड़ती है, अनर्थ से बचाव होता है, अन्य के दुःख में सहायता करने की आदत पड़ती है जो अनुकंपा नामक धर्म की प्राप्ति कराती है, भविष्य में पंचाचार के पालन तथा धर्म की मर्यादाएं कठिन नहीं लगती हैं, धर्म के बंधन दुःखदायी नहीं लगते हैं, योग्य स्थल पर विनय करने की आदत पड़ती है और शिष्ट लोगों के प्रीतिपात्र बनते हैं। **यहां स्मरणीय है कि, धर्म विरोधी कुलाचारों का पालन करने से मिथ्यात्व नामक दोष लगता है, जो योगमार्ग में महाबाधक होता है। कुलदेवी की पूजा, नवरात्रि, होली, रक्षाबंधन आदि धर्म विरोधी कुलाचार हैं।**

जो कुलाचार सम्यग्धर्म के अनुकूल हों, वे अविरोधी कुलाचार कहलाते हैं और जो कुलाचार मिथ्याधर्म की पुष्टि करते हैं तथा सम्यग्धर्म के बाधक बनते हैं उन्हें विरोधी कुलाचार कहा जाता है। दूसरी बात यह याद रखनी चाहिये कि, **जो कार्य सम्यग्दर्शन के कार्य के तौर पर शास्त्रों में नहीं दर्शाए गये हैं और आस्थापूर्वक कुलाचार से होते हैं, वे भी मिथ्यात्व के ही कार्य हैं।** (जो अविरति की क्रिया नहीं है, शास्त्र में दर्शाई नहीं गई है, इसके बावजूद गलत आस्था से होती है, वह क्रिया मिथ्यात्व की क्रिया है। जैसे कि पनियारे पर दीपक जलाना इत्यादि...)

(१२) मितभाषिता :-

मितभाषिता प्रस्तावे स्तोकहितजल्पनशीलता । - अवसर आने पर अल्प और हितकारी बोलना चाहिये।

ज्यादा नहीं बोलना चाहिये और जो बोलें वह हितकारी ही बोलना चाहिये। ज्यादा बोलना वाक्पटुता है। वाचालता-वाक्पटुता से अनेक अनर्थ होते हैं। क्योंकि वाक्पटुता से कई बार बोलने में मर्यादाएं टूट जाती हैं, सावद्य तथा सामनेवाले को दुःख हो, ऐसे वचन मुंह से निकल जाते हैं, अन्य व्यक्ति पाप

करने के प्रति प्रेरित हो, ऐसा वचन निकल जाता है, मर्मघाती वचन भी मुख से निकल जाते हैं, किसी के कषाय बढ़ानेवाली वाणी भी मुख से निकल सकती है, इसलिये निज-पर को नुकसान पहुंचानेवाली वाणी नहीं बोलनी चाहिये। इससे व्यर्थ के संक्लेश बढ़ते हैं और कर्मबंध होता है। **परिमित वचन भी हितकारी ही बोलना चाहिये। अहितकारी वचन उभयपक्ष में अहित करता है।**

जिस वचन से सामनेवाले व्यक्ति का स्वाभिमान को ठेस पहुंचे, भरे हुए मानसिक वेदना के घाव ताजे हो जाएं, किसी के गुप्त दोष प्रकट हो जाएं, अन्य की गुप्त बातें खुल जाएं, व्यक्ति जो भूलना चाहता हो, ऐसी बातें उसे जाहिर में याद कराना **मर्मघाती वचन हैं।** इनका संपूर्ण त्याग करना चाहिये। क्योंकि इससे संघर्ष बढ़ते हैं, शत्रुता के अनुबंध भी होते हैं और क्लिष्ट कर्मों का उदय होता है। द्रौपदी के एक मर्मघाती वचन से महाभारत का सर्जन हुआ और उसमें अनेक लोगों का संहार हुआ। **बिना अवसर के बोलना भी व्यर्थ है।** बिना अवसर के बोलने से वचन की आदेयता नहीं रहती है। इस सदाचार से वचन गुप्ति तथा भाषासमिति के पालन की योग्यता प्रकट होती है।

(१३) निंदनीय कार्यों का त्याग करना चाहिये :-

कंठगतैरपि प्राणैर्गर्हिते लोकनिन्दिते कर्मण्यप्रवृत्तिश्च । - प्राण जाएं तो भी निंदनीय कर्म (कार्य) में प्रवृत्ति नहीं करनी चाहिये।

सात व्यसन, चोरी आदि निंदनीय कार्य हैं, इनका त्याग करना चाहिये। क्योंकि इनसे बहुत गंभीर अनर्थ होते हैं। चिकने पापकर्मों का बंध होता है। आलोक व परलोक दोनों बिगड़ते हैं। **निंदनीय कार्यों से...**दोषों का पोषण होता है, समाज में कोई अच्छा व्यक्ति परिचय बनाने के लिये तैयार नहीं होता है, स्वच्छंद वृत्तियां बढ़ती हैं। शरीर व मन बरबाद हो जाते हैं, संपत्ति नष्ट होती है, लोग तिरस्कार करते हैं, इस कारण जीवन शुद्धि व आत्मोत्थान का मार्ग प्राप्त नहीं होता है।

(१४) प्रधान कार्य में आग्रह रखना चाहिये :-

प्रधानकार्ये विशिष्टफलदायिनि प्रयोजने निर्बन्ध आग्रहः । - प्रधान कार्य में अर्थात् विशिष्ट फल देनेवाले प्रधान कार्य में ही आग्रह रखना चाहिये।

जिस कार्य से विशिष्ट लाभ प्राप्त हो ऐसे कार्य में जुड़ने का आग्रह रखना चाहिये। निरर्थक कार्य करने से समय बिगड़ता है और लाभ भी नहिंवत् होता है। जिसमें समय व शक्ति का व्यय कम हो तथा लाभ अधिक हो, उसे **प्रधान कार्य** कहा जाता है। योगमार्ग की प्राप्ति करने के लिये व उसमें विकास के लिये यह सदाचार अत्यावश्यक है। क्योंकि प्रारम्भिक चरण में यह विवेक प्राप्त हो जाए तो ही निरर्थक कार्यों से बचा जा सकता है। साथ ही समय-शक्ति के व्यय से बचा जा सकता है और कम महेनत से योगमार्ग में अच्छा विकास किया जा सकता है।

प्रवृत्तियां भी आदत डालती हैं और संस्कारों के सिंचन से सम्यग् अथवा मिथ्या अभ्यास आत्मसात् करती हैं। इसलिये प्रारम्भ से ही योगमार्ग में अवरोधक निरर्थक प्रवृत्तियों का त्याग करना चाहिये, ताकि गलत आदतें और अभ्यास न पड़े और दोषों का सिंचन न हो।

(१५) सद्व्यय करना चाहिये और असद्व्यय का त्याग करना चाहिये :-

समय, शक्ति, योग्यता, संपत्ति आदि का अच्छे स्थान पर विनियोग करना चाहिये। जिससे समयादि सफल हों और आत्मा को लाभ हो। समयादि का गलत ढंग से व्यय करने से आत्मा में गलत संस्कार पड़ते हैं। जो भविष्य में अवरोधक बनते हैं। इसलिये जिन कार्यों से आत्मा को अधिकतम लाभ हो, ऐसे कार्यों में शक्ति का व्यय करना चाहिये। असद् स्थल पर शक्ति का व्यय करने से शक्ति व्यर्थ हो जाती है और आत्मा को हानि होती है तथा गलत अभ्यास पड़ते हैं। जैसे कि जब गप्प मारकर समय बिगाड़ा जाता है तब समय तो बिगड़ता ही है, साथ ही गप्प मारने की आदत भी पड़ती है। इसलिये प्रारम्भिक

दुष्प्रणिधान व (८) धर्म का अनादर ।

'योगपूर्वसेवा' तथा **'अध्यात्म केम पामशो?'** पुस्तकों में प्रमाद का स्वरूप विस्तार से समझाया गया है। इसलिये प्रमाद के स्वरूप को विस्तार से समझने के लिये इन पुस्तकों का सहारा लेने की सलाह है। इसके साथ ही सदाचारों का वर्णन समाप्त होता है। प्रत्येक सदाचारों को भी **'योग पूर्वसेवा'** पुस्तक में विस्तार से समझाया गया है। जिज्ञासुओं से इस पुस्तक को पढ़ने का अनुरोध है।

➠ तृतीय पूर्वसेवा : तप :-

तपोऽपि यथाशक्ति, कर्तव्यं पापतापनम् । - पाप को तपानेवाला तप भी यथाशक्ति अवश्य करना चाहिये। **जो पाप को तपाये, उसे तप कहा जाता है।** जो विषय-कषाय को तपाता है (आत्मा से अलग करता है) उसे **तप** कहा जाता है अर्थात् जिससे विषय के प्रति विराग उत्पन्न हो और कषाय का सानुबंध नष्ट हो, उसे **तप** कहा जाता है।

→ तप का स्वरूप :

इच्छा निरोध तप का स्वरूप है । इच्छा स्वभाव नहीं, विभाव है। इच्छा के बल से ही पर में प्रवृत्ति होती है। परप्रवृत्ति से आत्मा रागादि विभाव में चली जाती है। मोहनीय कर्म के उदय से इच्छा होती है और उसकी अधीनता से विषयों की आसक्ति होती है। इससे आत्मा विषय-कषाय के बंधन में बंध जाती है। **तप से मोहनीय कर्मादि का उपशम होता है। जिससे इच्छा का निरोध होता है और आत्मा विषय-कषाय के बंधन से मुक्त होती है।**

→ तप कैसा करना चाहिये :-

अपनी भूमिका के लिये उचित और शुभ अध्यवसाय के लिये जो पोषक हो ऐसा तप करना चाहिये। जिस तप से आत्महितकर अन्य योग नष्ट न हों, इन्द्रियों की हानि न हो और दुर्ध्यान न हो, ऐसा तप करना चाहिये[27] और

'**यथाशक्ति**' पद का यही रहस्य है।

→ तप के भेद :

तप के दो मुख्य भेद हैं । (१) बाह्य तप व (२) आंतरिक तप। जो तप दूसरे लोग देख सकते हैं उसे **बाह्य तप** कहा जाता है। जिस तप को अन्य लोग नहीं देख सकते हैं उसे **अभ्यंतर तप** कहा जाता है। **बाह्य तप के छह भेद इस प्रकार हैं** - (१) अनशन, (२) उणोदरी, (३) वृत्ति संक्षेप, (४) रस त्याग, (५) काय क्लेश व (६) संलीनता। **अभ्यंतर तप के भी छह भेद इस प्रकार हैं ।** (१) प्रायश्चित्त, (२) विनय, (३) वैयावच्च, (४) स्वाध्याय, (५) ध्यान व (६) कायोत्सर्ग - **इन बारह तपों में से उत्तर-उत्तर के तप श्रेष्ठ हैं - प्रधान हैं।**

→ बाह्य तप :-

(१) उपवास आदि को '**अनशन**' तप कहा जाता है। (२) भोजन करते समय भूख से दो-पांच निवाले कम खाने को '**उणोदरी**' तप कहा जाता है। (३) भोजन के समय खाने की वस्तुओं में से पसंदीदा वस्तुओं का ही त्याग कर देने को '**वृत्ति संक्षेप**' तप कहा जाता है। (४) दूध आदि छह विगई में से सभी अथवा यथाशक्ति एक-दो विगई का त्याग करने को '**रस त्याग**' तप कहा जाता है। (५) ज्ञानपूर्वक लोच आदि से काया को कष्ट देने को '**काय क्लेश**' तप कहा जाता है। और (६) काया को संकुचित रखना, कषायों के निमित्तों में भी कषाय न होने देना, यह '**संलीनता**' तप कहलाता है।

→ अभ्यंतर तप :-

(१) हो चुके पापों की आलोचना लेने को '**प्रायश्चित्त**' तप कहा जाता है। (२) पूज्य गुणवान पुरुषों के प्रति मन में सन्मान रखते हुए उनका विनय करने को '**विनय**' तप कहा जाता है। (३) ग्लान, वृद्ध, बाल, मुनि आदि की सेवा करने को '**वैयावच्च**' तप कहा जाता है। (४) आत्मा के अध्ययन को '**स्वाध्याय**'

तप कहा जाता है। वाचना, पृच्छना, परावर्तना, अनुप्रेक्षा व धर्मकथा ये पांच प्रकार का **'स्वाध्याय'** तप कहलाता है। (५) आर्त्तध्यान-रौद्रध्यान का त्याग करके धर्मध्यान में रहने को **'ध्यान'** नामक तप कहलाता है। (६) कर्म क्षय के निमित्त से, ज्ञानवृद्धि आदि के निमित्त से, ध्यान धारा को उल्लसित करने के लिये काया को भुलाकर स्थिरतापूर्वक खड़े रहने को **'कायोत्सर्ग'** तप कहा जाता है। **यहां स्मरण रखना चाहिये कि, 'ज्ञान' परम श्रेष्ठ तप है।**[28] यही कर्मों को तपानेवाला श्रेष्ठ तप है। इस ज्ञानप्राप्ति के लिये शेष तप सन्माननीय हैं। **ज्ञान आंतरिक तप है और बाह्य तप ज्ञान का उपबृंहक बने तो ही तप कहलाता है।**

➞ तप शुद्ध कब होता है :-

यत्र ब्रह्म जिनार्चा च कषायाणां तथा हतिः।
सानुबन्धा जिनाज्ञा च तत्तपः शुद्धमिष्यते ।।३१-६।। (ज्ञानसार)

- जिस तप के पालन में ब्रह्मचर्य का पालन, प्रभु की पूजा, कषायों की हानि और जिनाज्ञा का संबंध हो वह तप **शुद्ध** कहलाता है।

➞ तीन शल्य से रहित तप करना चाहिये :-

माया शल्य, निदान शल्य व मिथ्यात्व शल्य, इन तीन शल्य से रहित तप करना चाहिये। मायापूर्वक तप किया जाए तो वह माया-शल्ययुक्त तप होता है। आलोक-परलोक के सुख की कामना से तप किया जाए तो वह निदान-शल्ययुक्त तप है। मिथ्यात्व-सहित तप किया जाए वह मिथ्यात्व शल्ययुक्त तप है। ये तीनों ही तप संसार की परम्परा को बढ़ानेवाले तप हैं। क्योंकि ऐसे तपों से विषय-कषाय बढ़ते हैं और कर्मबंध होता है। मायाशल्यवाला लक्ष्मणा साध्वी का तप संसार की परंपरा को बढ़ानेवाला तप बन गया था। निदानशल्ययुक्त तप ने ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती की आत्मा को सातवें नर्क में पहुंचा दिया था। जबकि मिथ्यात्वशल्यपूर्वक तप से तामली तापस का ६० हजार वर्ष का तप विफल हो

गया था।

जो शरीर को तपाता है वह वास्तविक तप नहीं होता है। जिस तप से आत्मा इच्छा रहित हो जाए, शरीर की सातों धातुएं शांत हो जाएं, अनादि की वासनाएं शांत हो जाएं, विषयों की आसक्ति मंद हो जाए और क्रोधादि कषाय शांत हो जाएं ऐसे तप को ही वास्तविक तप कहा जाता है।

➡ चतुर्थ पूर्वसेवा - मुक्ति का अद्वेष :-

अपुनर्बंधक अवस्था में भावमल अधिकतम अल्प हो जाने से मुक्ति का अद्वेष गुण प्राप्त होता है। यह चतुर्थ पूर्वसेवा है। चारों पूर्वसेवा में यह महत्त्वपूर्ण पूर्वसेवा है। मुक्ति-अद्वेष गुण न हो तो अन्य पूर्वसेवा कदापि योग की कारण सिद्ध नहीं होती हैं। अपुनर्बंधक अवस्था में मुक्ति-अद्वेष कैसे प्राप्त होता है, यह दर्शाते हुए **योगपूर्वसेवा** बत्तीसी में कहा गया है कि,

द्वेषोऽयमत्यनर्थाय तदभावस्तु देहिनाम्।
भवानुत्कटरागेण सहजाल्पमलत्वतः ।।२६।।

द्वेष इति-अयं-मुक्तिविषयो द्वेषोऽत्यनर्थाय बहुसंसारवृद्धये, तदभावस्तु मुक्तिद्वेषाभावः पुनर्देहिनां प्राणिनां भवानुत्कटरागेण भवोत्कटेच्छाभावेन, सहजं - स्वाभाविकं, यदल्पमलत्वं ततः, मोक्षरागजनकगुणाभावेन तदभावेऽपि गाढतरमिथ्यात्वदोषाभावेन तद्द्वेषाभावो भवतीत्यर्थः ।।२६।।

- भंवाभिनंदी आत्मा को मुक्ति के प्रति जो द्वेष होता है, वह अत्यंत अनर्थकारी है। - वह दीर्घसंसार परिभ्रमण की वृद्धि करानेवाला होता है। अपुनर्बंधक आत्मा का सहज भावमल अल्प हो जाने के कारण उसमें संसार का राग तीव्र न होने से उसमें मुक्ति के प्रति अद्वेषभाव उत्पन्न होता है। जब तक संसार का प्रगाढ़ राग रहता है, तब तक संसार से विरोधी मोक्ष के प्रति द्वेष ही रहता है। क्योंकि संसार का प्रगाढ़ राग सांयोगिक सुखों में ही सुख की कल्पना करवाता है, सुख मानता है। इसलिये असांयोगिक सुख के धाम मुक्ति के प्रति

उसमें द्वेष ही होता है। **जिस जगह या जिस विषय में अत्यंत राग हो, उससे विपरीत स्थल अथवा विषय में रागी को स्वारस्यनिजी रुचि नहीं होती है। इसलिये विपरीत स्थल-विषय के प्रति उसमें द्वेष होता है।** भवाभिनंदी आत्मा को स्त्री आदि के जिन सुखों की कामना होती है, वे मोक्ष में नहीं होते हैं, इसलिये उसे मोक्ष के प्रति द्वेष होता है और **जिन स्थल-विषय में अत्यंत राग होता है, उन स्थल-विषय से विपरीत स्थल-विषय संबंधी स्वरूप को जानने के प्रति भी लापरवाह होती है। इसलिये भवाभिनंदी आत्मा में मुक्ति के प्रति द्वेष है।**

जबकि अपुनर्बंधक आत्मा के भावमल अल्प हो जाने से उसका संसार राग मंद हो जाता है, जिससे उसमें मुक्ति के प्रति अद्वेष उत्पन्न होता है। अत्यंत राग प्रतिपक्ष में द्वेष प्रकट कराता है। राग मंद पड़ने पर प्रतिपक्ष से जो द्वेष होता है वह चला जाता है और अद्वेषभाव पैदा होने लगता है। (जैसे पेट में बहुत मल जमा हो तो खाने की वस्तुओं के प्रति द्वेष हो जाता है। परन्तु मल बहुत कम हो जाने से खाने की वस्तुओं के प्रति द्वेष चला जाता है और अद्वेष प्रकट हो जाता है। इस प्रकार पहले जो खाने की वस्तुएं सामने रखी थी और पसंद नहीं थी परन्तु अद्वेषभाव उत्पन्न होते ही अरुचि दूर हो जाती है और क्रमशः आंतें सक्रिय-कार्यान्वित हो जाने से खाने की वस्तुओं में रुचि जागृत हो जाती है। वैसे ही भावमल तीव्र हो तो कोई मोक्ष की रमणीयता को कितना भी समझाए तो भी संसार के प्रति तीव्र राग के कारण उसे उसमें अरुचि ही रहती है। परन्तु भावमल अल्प हो जाने पर संसार के प्रति तीव्र राग नष्ट हो जाने से मोक्ष के प्रति अरुचि दूर हो जाती है।)

अपुनर्बंधक अवस्था में भी पूर्व भूमिकावाले (प्रारम्भिक भूमिकावाले) जीवात्माओं में मोक्ष का राग उत्पन्न हो, ऐसे गुण प्रकट नहीं होते हैं, जिससे मोक्ष के प्रति राग *उत्पन्न नहीं होता है। इसके बावजूद मोक्ष के प्रति द्वेष करानेवाले प्रगाढ़ मिथ्यात्व* दोष का इस अवस्था में अभाव होने से अर्थात् मिथ्यात्व मंद पड़ने से मुक्ति के

प्रति अद्वेषभाव पैदा होता है।

➠ मुक्ति-अद्वेष गुण श्रेय की श्रेणी है[29] :-

भावमल अल्प होने से मुक्ति-अद्वेष का गुण प्राप्त होता है। मुक्ति-अद्वेष से श्रेय की श्रेणी अर्थात् कुशल अनुबंध की संतति अर्थात् संसार का नाश करने के लिये अनुकूल कुशल अनुष्ठानों की परंपरा प्राप्त होती है। **इसलिये योगबिंदु ग्रंथ में भी कहा गया है कि**[30], भावमल अल्प हो जाने से **भाव शुद्धि** अर्थात् **परिणति की निर्मलता** प्राप्त होती है और परिणति की निर्मलता से इन आत्माओं के सभी अनुष्ठान शुभ-कल्याणकारी सिद्ध होते हैं। क्योंकि, कदाग्रह की निवृत्ति हो जाती है और भावशुद्धिप्राप्त आत्माओं में कदाग्रह की निवृत्ति होने से पाप कर्म करने के बावजूद अल्प पाप का कर्मबंध होता है। क्योंकि, अत्यंत विपरीत अभिनिवेश (प्रगाढ़ कदाग्रह) न होने के कारण ये आत्माएं संसार की प्रवृत्ति में भी रुचि लेकर पाप नहीं करती हैं। (जैसे कि, "आज के समय में अनीति किये बिना गाड़ी ही नहीं चलेगी, इसलिये अनीति करनी ही चाहिये।" इस प्रकार के विपरीत अभिनिवेश से वे धन कमाने की प्रवृत्ति नहीं करती है, इसलिये पाप करने के बावजूद उनको अल्प पाप का ही कर्मबंध होता है।)

➠ चार पूर्वसेवा में मुक्ति-अद्वेष की प्रधानता :-

मुक्ति-अद्वेष की प्रधानता दर्शाते हुए **मुक्ति-अद्वेष** बत्तीसी में कहा गया है कि,

उक्तभेदेषु योगीन्द्रैर्मुक्त्यद्वेषः प्रशस्यते।
मुक्त्युपायेषु नो चेष्टा मलनायैव यत्ततः।।१।।

टीका - उक्तभेदेष्विति-मलनायैव-विनाशनिमित्तमेव, तद्धि भवोपायोत्कटेच्छया स्यात्, सा च न मुक्त्यद्वेष इति मुक्त्युपायमलनाऽभावप्रयोजकोऽयम् ।।१।।

- पूर्वसेवा के चार भेदों में **'मुक्ति-अद्वेष'** गुण की श्री जिनेश्वरों द्वारा प्रशंसा की गई है। क्योंकि यह गुण प्राप्त होने से साधक मुक्ति के उपायों में मलीनता

आए, ऐसी चेष्टा नहीं करता है।

कहने का तात्पर्य यह है कि, 'मुक्ति-अद्वेष' गुण के बल से साधक मुक्ति के उपायों को मलीन नहीं करता है। क्योंकि, उसे संसार सुख की तीव्र इच्छा नहीं होती है। संसार सुख की तीव्र इच्छा मुक्ति से द्वेष कराती है और मुक्ति के द्वेषवाली आत्मा मन-वचन-काया से जो भी प्रवृत्तियां करती है, वे प्रवृत्तियां मुक्ति के उपायों का विनाश करती हैं। जिन आत्माओं को संसार सुख की तीव्र इच्छा होती है, वह उनके उपायभूत भोगों के सन्मुख होती है और मोक्ष के उपायों से विमुख होती है। इस कारण धर्म करती है तो भी वह मोक्ष के उपायों को मलीन करने का ही काम करती है। जबकि मुक्ति-अद्वेष गुणवाली आत्मा में संसार सुख की तीव्र इच्छा नहीं होती है। इसलिये वह संसार सुख के उपायों से विमुख होती है और मोक्ष के उपायों के सन्मुख होती है। मोक्ष के उपायों की सन्मुखता के कारण जब वह धार्मिक प्रवृत्ति करती है तो वह धार्मिक प्रवृत्ति (मोक्ष के उपायों को) मलीन नहीं करती है और यह मुक्ति-अद्वेष का प्रभाव है। इसीलिये श्री जिनेश्वरों ने उसकी प्रशंसा की है।

यहां उल्लेखनीय है कि, मुक्ति के द्वेषवाली आत्मा की धर्म क्रिया मुक्ति के उपायों को मलीन करनेवाली होती है। क्योंकि, ऐसी आत्माएं धर्म (संयम) का गलत तरीके से स्वीकार करती हैं। इसलिये उनकी धर्म क्रिया परंपरा से दुर्गति का कारण बनती है और जो मोक्ष को स्वर्गादि सुख से भिन्न मानती ही नहीं हैं, वे भी स्वर्गादि के उद्देश्य से ही संयम स्वीकार करती हैं, तो उनमें भी स्वर्गादि स्वरूप मोक्ष का अद्वेष आ जाता है और इस राग के बल से यावत् नौवें ग्रैवेयक तक भी पहुंच जाती है। फिर भी कालांतर में दुर्गतियों से नहीं बच पाती है। **इसलिये मुक्ति-अद्वेष के बिना गुर्वादिपूजन आदि बाकी की पूर्वसेवा का आचरण न्यायी-उचित नहीं है,** यह दर्शाते हुए **मुक्ति-अद्वेष** बत्तीसी में कहा गया है कि,

मुक्तौ मुक्त्युपाये च मुक्त्यर्थं प्रस्थिते पुनः।
यस्य द्वेषो न तस्यैव न्याय्यं गुर्वादिपूजनम्।।५।।

- मुक्ति, मुक्ति के उपाय तथा मुक्ति मार्ग में प्रस्थान करनेवाले (मोक्ष मार्ग के) यात्रियों से जिन्हें द्वेष नहीं, उनकी गुर्वादि पूजा ही न्यायी है - उचित है।

मोक्ष, मोक्ष के उपाय तथा मोक्ष मार्ग के आराधकों के प्रति जिसे द्वेष है, उसमें मुक्ति का अद्वेष नहीं है और मुक्ति-अद्वेष के बिना गुर्वादि पूजा आदि पूर्वसेवा का परिपालन उचित नहीं है। मुक्ति के प्रति अद्वेष भाव आया है या नहीं ? इसका पता लगाने के लिये मुक्ति के उपाय तथा मोक्ष मार्ग के आराधकों से द्वेष है या नहीं, इसकी जांच करनी चाहिये। यदि मोक्ष के उपाय तथा मोक्ष मार्ग के आराधकों के प्रति द्वेष होगा तो समझना चाहिये कि मुक्ति-अद्वेष गुण नहीं आया है। (मुक्ति सर्व कर्म के क्षय स्वरूप है। मुक्ति का उपाय योगमार्ग है और मुक्ति की इच्छुक आत्माएं योगमार्ग के यात्री हैं।) **मुक्ति के प्रति द्वेष सबसे बड़ा दोष है। उसकी विद्यमानता में स्वल्प भी सत्क्रिया=धर्मक्रिया गुण के लिये नहीं होती है।**

● मुक्ति-अद्वेष गुण के लाभ :-

मुक्ति-अद्वेष से प्राप्त होनेवाला गुणवैभव और उससे मुक्ति की ओर होनेवाली प्रगति को दर्शाते हुए मुक्ति-अद्वेष बत्तीसी तथा योगबिंदु ग्रंथ में कहा गया है कि...

● **मुक्ति-अद्वेष गुण से महापाप निवृत्त हो जाता है** अर्थात् प्रगाढ़ मिथ्यात्व नामक महापाप निवृत्त हो जाता है। इसलिये इस गुण के साथ पूर्वसेवा का पालन करने से जो गुण (लाभ) प्राप्त होता है, ऐसा लाभ मुक्ति-अद्वेष गुण से रहित गुर्वादि पूजा आदि पूर्वसेवा के पालन से प्राप्त नहीं होता है।[31] प्रगाढ़ मिथ्यात्व की निवृत्ति होने से पाप की तीव्र परिणति का नाश हो जाता है। इससे मति विशुद्ध होती है और मनोवृत्तियां भी विशुद्ध हो जाती हैं। इस कारण 'गुर्वादि

पूजन' आदि पूर्वसेवा तात्त्विक हो जाती है। मुक्ति के प्रति द्वेष हो तो प्रगाढ़ मिथ्यात्व की उपस्थिति होने के कारण तीव्र पाप की परिणतियां मति को मलीन कर देती हैं। इससे पूर्वसेवा तात्त्विक नहीं बनती है।

● मुक्ति-अद्वेष (अथवा मनाक् मुक्ति राग) की उपस्थिति में ही धर्मानुष्ठान तद्हेतु अनुष्ठान बनता है... जो अनुष्ठान सदनुष्ठान का कारण बनता है उसे ही तद्हेतु अनुष्ठान कहा जाता है अर्थात् जिस अनुष्ठान के करने से भविष्य में सदनुष्ठान की (अमृतानुष्ठान की) प्राप्ति हो, वही **तद्हेतु अनुष्ठान कहलाता है।**

● अभव्य आत्मा को भी मुक्ति का अद्वेष प्राप्त होता है (और वह प्राप्त हो तो ही नौंवे ग्रैवेयक में पहुंचा जा सकता है) इसके बावजूद उसका मुक्ति-अद्वेष मुक्ति के राग में परिवर्तित नहीं होता है। क्योंकि उस समय उसमें मुक्ति के प्रति तीव्र द्वेष तो नहीं होता है, परन्तु मंद द्वेष तो होता ही है। इसलिये उसका मुक्ति का अद्वेष मुक्ति के राग में अथवा सत्क्रिया के राग में परिणत नहीं होता है और इसीलिये अतात्त्विक होता है। जबकि भव्यात्मा का मुक्ति-अद्वेष गुण भविष्य में मुक्ति और सत्क्रिया के राग में परिणमित होता है, इसलिये तात्त्विक होता है।

● **अभव्य आत्माओं में स्वर्ग की प्राप्ति करानेवाला मुक्ति-अद्वेष गुण हो सकता है। परन्तु यह गुण सदनुष्ठान के राग का प्रयोजक नहीं बनता है। क्योंकि, उनकी सांसारिक सुख के फल की अपेक्षा अबाधित कोटि की (जो बाधित न हो सके, इस प्रकार की) होती है। जबकि भव्यात्माओं की सांसारिक सुख के फल की इच्छा बाध्य कोटि की होने के कारण उनका मुक्ति-अद्वेष गुण सदनुष्ठान के राग का प्रयोजक बनता है।**[32]

● **मुक्ति-अद्वेष गुण प्राप्त होने के बाद ही शास्त्र श्रवण में रुचि प्रकट होती है और श्रवण के बाद बुद्धि मार्गानुसारी बनती है।**[33] जब तक संसार की इच्छा तीव्र होती है, तब तक शास्त्र श्रवण में रुचि प्रकट नहीं होती है। क्योंकि, संसार की तीव्र इच्छा में, उसके उपायों के श्रवण में ही रुचि होती है।

संसार से विपरीत मोक्ष के उपायों के श्रवण में रुचि नहीं होती है। मुक्ति-अद्वेष गुण से सांसारिक सुख की तीव्र इच्छा नष्ट हो जाने से शास्त्र श्रवण की प्रवृत्ति अबाधित हो जाती है और शास्त्र श्रवण करते हुए संसार की अपेक्षाएं निर्मूल हो जाती हैं।

● जो मुक्ति-अद्वेष गुण तद्हेतु अनुष्ठान की प्राप्ति करवाता है और सदनुष्ठान के राग का प्रयोजक बनता है, वह मुक्ति-अद्वेष गुण संसार परिभ्रमण का **ह्रास** (क्रमिक कटौती) करता है। जो मुक्ति-अद्वेष गुण तद्हेतु अनुष्ठान का कारण तथा सदनुष्ठान के राग का प्रयोजक नहीं बनता है, वह मुक्ति-अद्वेष गुण संसार परिभ्रमण को नहीं घटाता है।[34] बल्कि संसार परिभ्रमण को बढ़ाता है।

● **इसलिये सत्क्रिया के राग का प्रयोजक मुक्ति-अद्वेष गुण सदनुष्ठानों का प्राण है और ऐसा ही मुक्ति-अद्वेष व्यवधान (अंतर) रहित गुणराग का बीज है।[35]**

● मुक्ति-अद्वेष गुण से ही (क्रियाकाल में) शुभ भाव की अखंडित धारा प्राप्त होती है। क्योंकि, (इस काल में) आंतरिक विशुद्धि होने से अतत्त्व का आग्रह निवृत्त हो जाता है। संक्षेप में, इस गुण से मन में शुभ भाव की धारा का प्रादुर्भाव होता है।[36]

● शुभ भाव की धारा की प्राप्ति होने से सत्साधक को (अर्थात् विद्या साधक को) जैसे सिद्धि निकट होने से कोई भय नहीं लगता है, बल्कि अंतःकरण में आनंद होता है, वैसे ही (शुभ भाव की धारा प्राप्त होने से) साधक को संसार का भय नहीं सताता है। क्योंकि उसे अपनी मुक्ति निकट दिखाई देती है, जिससे अंतःकरण में प्रमोद उत्पन्न होता है। चरमावर्ती आत्मा की मुक्ति अत्यंत निकट होती है। अनंत पुद्गल परावर्त बीत चुके होते हैं। अब मात्र अधिक से अधिक एक ही पुद्गल परावर्त जितना काल शेष होता है अर्थात् समुद्र के एक बिंदु जितना ही काल अब शेष होता है। इसलिये उसे कोई भय नहीं सताता है।[37]

● **"मुझे अति शीघ्र मुक्ति प्राप्त होगी"** इस प्रकार का निर्णय होने से (स्वयं को दुःख के अंश से भी रहित जो स्थाई सुख की अवस्था चाहिये, वह अति शीघ्र मिलनेवाली है - इसलिये) **"मेरा मनोरथ पूर्ण होगा"** ऐसे मनोरथिक सुख का अनुभव करनेवाली आत्मा (जिसके द्वारा मुक्ति प्राप्त होनेवाली है ऐसी) सत्क्रिया में पीड़ित नहीं होती है। (उसमें आनेवाले त्याग-कष्टों से पीड़ित नहीं होती है।) परन्तु वह क्रियाओं के अनुरागवाली बन जाती है। इससे जैसे कतकचूर्ण से पानी मल रहित हो जाता है, वैसे ही स्वयं का मोक्ष का निर्णय हो जाने से **श्रद्धा** उत्पन्न होती है और श्रद्धा से मन प्रसन्न होता है। प्रसन्नमन से **वीर्योल्लास** प्रकट होता है। इससे उत्तम कोटि की **स्मृति** प्राप्त होती है। (वीर्योल्लास से धर्म प्रवृत्ति करने से बहुत अच्छे संस्कार आते हैं और इससे क्रियाकाल में उत्तम स्मृति प्राप्त होती है तथा (उत्तम स्मृति से) मन समाधानकारी बनता है।) अर्थात् (अब "संसार मार्ग में कोई सार नहीं, एक मात्र मोक्ष मार्ग में ही सार है और उसी में प्रगति करने योग्य है।" मन ऐसा समाधान करने लगता है।) इससे वह योग मार्ग की प्रवृत्ति में स्थिरता प्राप्त करती है। अब योगमार्ग की साधना ही करनी है, ऐसा **स्थिरभाव** उसे प्राप्त होता है।[38]

संक्षेप में, शास्त्रों में अपुनर्बंधक आदि आत्माओं को मोक्ष मार्ग का अधिकारी दर्शाया गया है, इसमें मुक्ति-अद्वेष के क्रम से ही उनमें मोक्ष मार्ग के अधिकार की पात्रता आती है और इस प्रकार की अधिकार पात्रता प्राप्त करके आत्मा योगमार्ग में प्रवृत्ति करके - स्थिरता को धारण करके क्रमशः योगमार्ग में प्रगति करते हुए परमानंद को प्राप्त कर लेती है। इस प्रकार अपुनर्बंधक अवस्था में परमार्थ से प्राप्त होनेवाली योग-पूर्वसेवा का वर्णन पूर्ण होता है।

→ **टिप्पणकम् :-** 1 . प्रत्यावर्तं प्रतिपुद्गलावर्तं। व्ययोऽपि अपगमोऽपि। अस्याः योग्यतायाः। दोषाणां क्रमह्रासं विना भव्यस्य मुक्तिगमनाद्यनुपपत्तेः। तदल्पत्वे योग्यताल्पत्वे। अस्य मुक्त्यद्वेषस्य। संभवः उपपत्तिः। तदुक्तं-"एवं चापगमोऽप्यस्याः प्रत्यावर्तं सुनीतितः। स्थित

एव तदल्पत्वे भावशुद्धिरपि ध्रुवा।। यो० बि० १७०।। **(योगपूर्वसेवाद्वात्रिंशिका - श्लो** - ३०, **टीका)** 2. तथाहि-यो यथाप्रवृत्तकरणेन ग्रन्थिदेशमागतोऽभिन्नग्रन्थिः सकृदेवोत्कृष्टां सागरोपमकोटाकोटीसप्ततिलक्षणं स्थितिं भन्त्स्यत्यसौ सकृद्बन्धकः उच्यते। **(पञ्चाशक** - २।४ **टीका)** 3. अन्यस्य - अपुनर्बन्धकातिरिक्तस्य सकृद्बन्धकादेः, पुनः उपचारतः सा, तथाविध भववैराग्याभावात्।

(अपुनर्बन्धकद्वात्रिंशिका। श्लो-२, टीका) 4. परिणामिनीति-कार्यात् हि परिणामिनि सर्वथा भिन्नता नास्ति, यथा घटादेर्मृत्पिण्डादौ। एवमपुनर्बन्धकादेरपि सकृद्बन्धकादौ न सर्वथा भिन्नतेति भावनीयम्। तदुक्तं - ''कृतश्चास्या उपन्यासः शेषापेक्षोऽपि कार्यतः। नासन्नोऽप्यस्य बाहुल्यादन्यथैतत्प्रदर्शकः।।(यो० बि० १८०) परे पुनरन्यत्र - सकृद्बन्धकादौ, अनालोचनगर्भत्वाद् - भवस्वरुपनिर्यामकोहापोहाद्यभावसङ्गतत्वाद् एनाम् - उपचरित पूर्वसेवां, जगुः प्राहुः। प्राचि पक्षे कारणे कार्योपचारः, अत्र त्वनालोचन-द्वाराऽमुख्यत्वरुप उपचार इति विशेषः। ।।४।।'' 5. युक्तमिति - एतच्च-एतदपि युक्तं, तीव्र - अत्यन्तमुत्कटे, मले कर्मबन्ध-लक्षणे (कर्मबन्धयोग्यतालक्षणे) भवासङ्गः - संसारप्रतिबन्धः, न हीयते शेषजन्तोः, मनागपि हि तन्निवृत्तौ तस्यापुनर्बन्धकमेव स्यादिति, सङ्क्लेशायोगतः - पुनरतितीव्रसङ्क्लेशप्राप्तौ, सा - पूर्वसेवा, मुख्या, उत्तरोत्तरभव-वैराग्यादिकल्याणनिमित्तभावात्, अन्यथा नेति हि स्थितिः शास्त्रमर्यादा ।।५।। **(अपुन-र्बन्धकद्वात्रिंशिका - टीका)** 6. दिक्खाविहाणमेयं, भविज्जंतं तु तंतणीईए। सइअपुणबंधगाणं, कुग्गह-विरहं लहुं कुणइ।। **(पञ्चाशक।** २।८८।) 7. संसारविरत्ताण य, होइ तओ न उण तयभिनंदीणं। जिणवयणंपि न पायं, तेसिं गुणसाहगं होइ ।।४९।। गुरुकम्माणं जम्हा, किलिट्ठचित्ताणं तस्स भावत्थो नो परिणमेइ सम्मं, कुंकुमरागोव्व मलिणम्मि।।४।। विट्ठाण सूअरो जह, उवएसेण वि न तीरए धरिउं। संसारसूअरो इअ, अविरत्तमणो अकज्जम्मि।।४३।। **(पंचवस्तुक ग्रंथ)** 8. **X X X** पापम्-अशुभं कर्म, तत्कारणत्वाद्धिंसाद्यपि पापं तत्, न-नैव, तीव्रभावाद्-गाढसंक्लिष्टपरिणामात्, करोति-विधत्ते, अत्यन्तोत्कटमिथ्यात्वादिक्षयोपशमेन लब्धात्मनैर्मल्यविशेषत्वात् तीव्रेतिविशेषणा-दापन्नमतीव्रभावात्करोत्यपि तथाविधकर्मदोषात्, तथा न बहु मन्यते न बहुमानविषयीकरोति, भवं-संसारम्, घोरं-रौद्रं, तस्य घोरत्वावगमात्। उचितस्थितिम्-अनुरुपप्रतिपत्तिम्।... । सेवते-भजते कर्मलाधवात्। सर्वत्रापि आस्तामेकत्र देशकालावस्थापेक्षया समस्तेष्वपि देवातिथिमातापितृप्रभृतिषु मार्गानुसारिताभिमुख्यत्वेन, मयूरशिशुदृष्टान्तात्, अपुनर्बन्धकः - उक्तनिर्वचनो जीवः। **(पंचाशक** ३।४ **टीका)** 9. शान्तस्तथाविधेन्द्रियकषायविकारविकलः । 10. 'उदात्त' उच्चोच्चतराद्याचरणस्थितिबद्धचित्तः । 11. महाशयो-गाम्भीर्यादिगुणोपेतत्वेन महाचेताः। 12.

शुभानुबन्धि-पुण्याच्च-पुण्यानुबन्धिनः पुण्यात्सकाशात्पुनः 'विशिष्ट-मतिसङ्गतो' - मार्गानुसारि-
औचित्याद्प्रवृत्तः सन्।।१९२।।(योगबिन्दु-टीका) 13. भवोऽयं दुःखहतो जन्म-मृत्युजलाकरः।
अनादिरप्युपायेन पृथग्भवितुमर्हति।।११-१२।। (अपुनर्बंधक द्वात्रिंशिका) 14. तद्वियोगाश्रयोऽप्येवं सम्यगूहोऽस्य जायते। तत्तत्तन्त्रनयज्ञाने विशेषापेक्षयोज्ज्वलः ।।११-१३।। **(अपुनर्बन्धकद्वात्रिंशिका)** 15. टीकाः - एतत्प्रियत्वं खल्वत्र लिङ्गम्, आज्ञाप्रियत्वमपुनर्बन्धकादि-लिङ्गम्। प्रियत्वमुपलक्षणं श्रवणाभ्यासादेः। एतदप्यौचित्य-प्रवृत्तिविज्ञेयम्, तदाराधनेन तद्बहुमानात्। औचित्यवाधया तु प्रवृत्तौ न तत्प्रियत्वम्, मोह एवासाविति। एतत्प्रियत्वमेव विशेष्यते संवेगसाधकं नियमात्। यस्य भगवती सदाज्ञा प्रिया तस्य नियमतः संवेग इति। यत एवमतो नैषा अन्येभ्यो देया, नैषा भागवती सदाज्ञा अन्येभ्योऽपुनर्बन्धकादिव्यतिरिक्तेभ्यः संसाराभिनन्दिभ्यो देया। कथं ते ज्ञायन्ते? इत्याह लिङ्गविपर्ययात् तत्परिज्ञा, प्रकमादपुनर्बन्धकादिलिङ्गविपर्ययात् सज्ज्ञानद्वेषादिलक्षणात् तत्परिज्ञा, संसाराभिनन्दिपरिज्ञा। **(पंचसूत्र-५/टीका)** 16. इयं च भागवती सदाज्ञा सर्वैव अपुनर्वन्धकादिगम्या। **XXXX** । आदिशब्दान्मार्गाभिमुख-मार्गपतितादयः परिगृह्यन्ते दृढप्रतिज्ञालोचकादिलिङ्गाः, एतद्गम्येयम्, न संसाराभिनन्दिगम्या, तेषां ह्यतो विषयप्रतिभासमात्रं ज्ञानमुदेति, न तद्धेयत्वादिवेदकमिति। **(पंचसूत्र-टीका)** 17. शान्तोदात्तस्यैव स्यादाश्रयः शुभचेतसः। धन्यो भोगसुखस्येव वित्ताढ्यो रुपवान् युवा ।।७।। **(अपुनर्बन्धकद्वात्रिंशिका) १८.** गुरुवर्गो गौरववल्लोकसमुदायः। 19. माता पिता कलाचार्य एतेषां ज्ञातयस्तथा। वृद्धो धर्मोपदेष्टारो गुरुवर्गः सतां मतः ।।२।। 20. पूजनं चास्य नमनं त्रिसन्ध्यं पर्युपासनम्। अवर्णाश्रवणं नामश्लाघोत्थानासनापर्णे।।३।। सर्वदा तदनिष्टेष्टत्यागोपादाननिष्ठता। स्वपुमर्थमनाबाध्य साराणां च निवेदनम् ।।४।। तद्वित्तवियोजनं तीर्थे तन्मृत्यनुमतेर्भिया तदासनाद्यभोगश्च तद्विम्बस्थापनार्चने ।।५।। **(योगपूर्वसेवाद्वात्रिंशिका)** 21. देवानां पूजनं ज्ञेयं शौचश्रद्धादिपूर्वकम्। पुष्पैर्विलेपनैर्धूपैर्नैवेद्यैः शोभनैः स्तवैः ।।६।। **(योगपूर्वसेवा द्वा.)** 22. चारिसञ्जीवनीचार-न्याय एष सतां मतः। नान्यथात्रेष्टसिद्धिः स्याद्, विशेषेणादिकर्मणाम्।।११९।। चारेः प्रतीतरुपायाः मध्ये संजीवन्यौषधिविशेषश्चारिसंजीवनी तस्याश्चारश्चरणं स एव न्यायो दृष्टान्तश्चारिसंजीवनीचारन्यायः। एषोऽविशेषेण देवतानमस्करणीयतोपदेशः। सतां शिष्टानाम्। मतोऽभिप्रेतः। **(योगबिन्दु-टीका)** 23. पात्रे दीनादिवर्गे च, दानं विधिवदिष्यते। पोष्यवर्गोऽविरोधेन, न विरुद्धं स्वतश्च यत्।।१२१।। **(योगबिन्दुः)** 24. बीजभूतं सुधर्मस्य सदाचारप्रवर्तनम्। सदाचारं विना स्वैरिण्युपवासनिभो हि सः।। ६-१३।। मूर्तो धर्मः सदाचारः सदाचारोऽक्षयो निधिः। दृढं धैर्यं सदाचारः सदाचारः परं यशः ।।६-१४।। **(योगसारः)** 25. गुणरागः - औदार्यदाक्षिण्यादिगुणबहुमानो भवति कर्त्तव्यः, कुतोऽपि वैगुण्यात् स्वयं गुणानुष्ठानाऽसामर्थ्येऽपि हि निबिडगुणानुरागवशात्तदनुष्ठानफलवन्तो

भवन्ति जन्तवः इति। 26. तदेव हि तपः कार्यं, दुर्ध्यानं यत्र नो भवेत्। येन योगा न हीयन्ते, क्षीयन्ते नेन्द्रियाणि च ।। **(ज्ञानसार)** 27. ज्ञानमेव बुधाः प्राहुः, कर्मणां तापनात्तपः। तदाभ्यन्तरमेवेष्टं, बाह्यं तदुपबृंहकम्। ।।३१-१।। **(ज्ञानसार)** 28. प्रत्यावर्तं व्ययोऽप्यस्यास्त-दल्पत्वेऽस्य संभवः। अतोऽपि श्रेयसां श्रेणी किं पुनर्मुक्तिरागतः ।।१२-३०।। टीका-प्रत्यावर्तमिति-प्रत्यावर्तं प्रतिपुद्गलावर्तं, व्ययोऽपि-अवगमोऽपि, अस्याः - योग्यतायाः, दोषाणां क्रमह्रासं विना भव्यस्य मुक्तिगमनाद्यनुपपत्तेः। तदल्पत्वे योग्यताल्पत्वे, अस्य-मुक्त्यद्वेषस्य सम्भवः उपपत्तिः। तदुक्तं-एवं चापगमोऽप्यस्याः प्रत्यावर्तं सुनीतितः। स्थित एव तदल्पत्वे भावशुद्धिरपि ध्रुवा ।।१।। अतोऽपि मुक्त्यद्वेषादपि, श्रेयसां कुशलानुबन्धसन्ततिः, किं पुनर्वाच्यं मुक्तिरागतस्तदुपपत्तौ ।।३०।। **(योगपूर्वसेवा)** 29. ततः शुभमनुष्ठानं सर्वमेव हि देहिनाम्। विनिवृत्ताग्रहत्वेन तथावन्धेऽपि तत्त्वतः ।।१७१।। **(योगबिन्दुः)** 30. मुक्त्यद्वेषान्महापापनिवृत्त्या यादृशो गुणः। गुर्वादिपूजनात्तादृक् केवलान्न भवेत्कचित् ।।१३-७।। **(मुक्ति-अद्वेषद्वात्रिंशिका)** 31. सदनुष्ठानरागतः तात्त्विकदेवपूजाद्याचारभावबहुमानाद्, आदिधार्मिककालभाविदेवपूजाद्यनुष्ठानं तद्धेतुरुच्यते, मुक्त्यद्वेषेण मनाग् मुक्त्यनुरागेण वा शुभभावलेशसङ्गमादस्य सदनुष्ठानहेतुत्वात् **(मुक्तिअद्वेषद्वात्रिंशिका, श्लो-१३, टीका)** 32. अभव्यानामपि स्वर्गप्राप्तिहेतुमुक्त्यद्वेषसत्त्वेऽपि तस्य सदनुष्ठानरागाप्रयोजकत्वाद् बाध्यफलापेक्षासहकृतस्य तस्य सदनुष्ठानरागानुबन्धित्वात् **(मुक्ति-अद्वेषद्वात्रिंशिका, श्लो -२०, टीका)** 33. तत् - तस्मात् मुक्त्यद्वेषे सति अन्यस्यां वाध्यायां फलापेक्षायां समुचितयोग्यतावशेन मोक्षार्थशास्त्रश्रवणस्वारस्योत्पन्नायां बुद्धि-मार्गानुसारिणी मोक्षपथाभिमुख्यशालिनी भवतीति तेषां तीव्रपापक्षयात् सदनुष्ठानरागतः।। **(मुक्त्यद्वेष द्वात्रिंशिका, श्लोक-२२ टीका)** 34. इष्यते च तादृश एवायं तद्धेत्वनुष्ठानोचितत्वेन संसारह्रासकारणमिति। **(मुक्ति-अद्वेषद्वात्रिंशिका, श्लोक-२४, टीका)** 35. जीवातुः कर्मणां मुक्त्यद्वेषस्तदयमीदृशः । गुणरागस्य बीजत्वमस्यैवाव्यवधानतः ।।२५।। **(मुक्त्यद्वेष द्वात्रिंशिका)** 36. धारालग्नः शुभो भाव एतस्मादेव जायते। अन्तस्तत्त्व-विशुद्धये च विनिवृत्ताग्रहत्वतः ।।२६।। अस्मिन् सत्साधकस्येव नास्ति कांचिद्विभीषिका सिद्धेरासन्नभावेन प्रमोदस्यान्तरोदयात्।।२७।। **(मुक्त्यद्वेष द्वात्रिंशिका)** 37. मानोरथिकमित्थं च सुखमास्वादयन् भृशम्। पीड्यते क्रियया नैव बाढं तत्रानुरज्यते।।२९।। प्रसन्नं क्रियते चेतः श्रद्धयोत्पन्नया ततः। मलोज्झितं हि कतकक्षोदेन सलिलं यथा ।।३०।। वीर्योल्लाससस्ततश्च स्यात्ततः स्मृतिरनुत्तरा। ततः समाहितं चेतः स्थैर्यमप्यवलम्बते।। 38. अधिकारित्वमित्थं चापुनर्बन्धकतादिना। मुक्त्यद्वेषक्रमेण स्यात् परमानन्दकारणम्।।३२।। ***(मुक्त्यद्वेष द्वात्रिंशिका)***

✦✦✦

प्रकरण - ६ अपुनर्बंधक आत्मा का योगदृष्टि में प्रवेश

अपुनर्बंधक आत्मा का ओघदृष्टि से योगदृष्टि में प्रवेश होता है। अनादिकाल से मिथ्यात्व के प्रगाढ़ उदय में प्रवृत्त आत्मा ओघदृष्टि के अंधकार में फंसी थी। जिससे अतत्त्व अथवा तत्त्वाभास को तत्त्व (परमार्थ) मानकर जीवन व्यतीत करती थी और कदम-कदम पर खेद प्राप्त करती थी। **आत्मा अपुनर्बंधक अवस्था में मित्रादि चार दृष्टियों को प्राप्त करती है** अर्थात् गुणसम्पन्न प्रथम गुणस्थानक पर आत्मा क्रमशः चार दृष्टियां प्राप्त करती है। ग्रंथिभेद करके सम्यग्दर्शन प्राप्त करने पर आत्मा पांचवीं स्थिरा दृष्टि को प्राप्त करती है - चतुर्थ गुणस्थानक को प्राप्त करती है।

अपुनर्बंधक आत्मा किसके प्रभाव से मित्रादि दृष्टियों को प्राप्त करती है, यह दर्शाते हुए **"योगावतार" बत्तीसी** में कहा गया है कि,

"मिथ्यात्वे मन्दतां प्राप्ते मित्राद्या अपि दृष्टयः। मार्गाभिमुखभावेन कुर्वते मोक्षयोजनम्।।३१।। टीका :- **मिथ्यात्व इति।** मिथ्यात्वे अर्थात् **मिथ्यात्वमोहनीये कर्मणि मन्दतां प्राप्ते अपुनर्बन्धकत्वादिभावेन, मित्राद्या अपि दृष्टयः चतस्रः, किं पुनः स्थिराद्या इत्यप्यर्थः, मार्गाभिमुखभावेन - मार्गसांमुख्येन, द्रव्ययोगतया मोक्षयोजनं कुर्वते, चरमावर्तभावित्वेन समुचितयोग्यतासिद्धेः ।।३१।।"**

- अपुनर्बंधक अवस्था में आत्मा मिथ्यात्व की मंदता को प्राप्त करती है। जिससे मित्रादि चार दृष्टियां उसे प्राप्त होती हैं। मिथ्यात्व की मंदता से मार्गाभिमुखता (मार्ग की अभिमुखता) प्राप्त होती है और इससे द्रव्य योग स्वरूप मित्रादि चार दृष्टियां मोक्ष के साथ योजन करती है।

कहने का तात्पर्य यह है कि, मिथ्यात्व मोहनीय कर्म मंद होता है, तो आत्मा क्रमशः अपुनर्बंधक, मार्गाभिमुख तथा मार्गपतित अवस्था की प्राप्ति करती है और उस समय आत्मा को क्रमशः योग की चार दृष्टियां की प्राप्ति होती है। चार

दृष्टिवाली आत्माएं मार्ग की सन्मुखता को प्राप्त करती हैं। इसलिये उनका तात्त्विक बोध, शास्त्रानुसारी श्रद्धा (रुचि) तथा शास्त्रानुसारी प्रवृत्ति भावयोग का कारण बनती है। इसलिये उनके बोधादि द्रव्ययोग स्वरूप हैं और ये द्रव्ययोग भावयोग की प्राप्ति करवाकर मोक्ष के कारण हैं अर्थात् शास्त्रानुसारी बोध आदि स्वरूप द्रव्ययोग से भविष्य में भावयोग प्राप्त होगा और भावयोग से मोक्ष की प्राप्ति होगी, इसलिये द्रव्ययोग भी मोक्ष से जोड़नेवाला होता है।

यहां प्रश्न उपस्थित होता है कि, मिथ्यात्व की मंदता से प्राप्त होनेवाली मित्रादि चार दृष्टियां द्रव्ययोग बनकर मोक्ष के साथ योजन क्यों करती हैं ? - **इसका उत्तर देते हुए कहा गया है कि,** मिथ्यात्व की मंदता प्राप्त करनेवाली आत्मा चरमावर्ती होने के कारण उसमें **समुचित योग्यता** होती है अर्थात् मोक्ष रूपी फल प्राप्त करने की चरमावर्ती आत्मा में समुचित योग्यता होने के कारण उसे चार दृष्टियां प्राप्त होती हैं और वे भावयोग का कारण बनकर मोक्ष के साथ आत्मा का योजन (मिलाप) करवाती हैं। हालांकि, अचरमावर्त काल में भी भव्यात्मा में मोक्षगमन की **स्वरूप योग्यता** होती है। लेकिन वहां समुचित योग्यता न होने के कारण कोई धर्मक्रिया मोक्ष से योजन नहीं करवाती है।

जैसे तृण में घी बनने की स्वरूप योग्यता है। इसके बावजूद उसमें घी बनने की समुचित योग्यता नहीं होती है। इसलिये उससे घी नहीं बनता है। परन्तु घी की (पूर्ववर्ती अवस्थावाले) नवनीत (मक्खन) में ही घी बनने की समुचित योग्यता होती है। इसलिये उसी से घी बनता है। वैसे ही आत्मा में मोक्ष गमन की योग्यता होने के बावजूद अचरमावर्त में वह योग्यता समुचित नहीं होने के कारण आत्मा का मोक्ष से मिलन नहीं होता है। जबकि चरमावर्ती आत्मा में नवनीत समान समुचित योग्यता विकसित होने के कारण मिथ्यात्व की मंदता से प्राप्त होनेवाली चार दृष्टियां परम्परा से मोक्ष के साथ योजन करवाती हैं। जैसे दही परम्परा से घी से योजन करवाता है। लेकिन तृण घी से योजन नहीं करवाता है। तृण दही की अवस्था तक पहुंचे, इसके बाद ही नवनीत अवस्था को प्राप्त करता

है और इसके बाद घी से योजन होता है। वैसे ही अचरमावर्ती आत्मा की धर्म क्रिया परम्परा से भी मोक्ष के साथ योजन नहीं कर सकती है। चरमावर्ती आत्मा की ही धर्मक्रिया साक्षात् या परम्परा से मोक्ष के साथ योजन कर सकती है। चार दृष्टियां भावयोग की कारण होने से द्रव्ययोग के रूप में मोक्ष से योजन करवाती हैं। इसीलिये योगबिंदु ग्रंथ में चरमावर्त काल को घृतादि परिणाम में नवनीतादि समान कहा गया है।[1]

संक्षेप में... (१) चरमावर्त काल में मिथ्यात्व मंद होने से आत्मा अपुनर्बंधक, मार्गाभिमुख तथा मार्गपतित अवस्था प्राप्त करती है। **(२)** अपुनर्बंधकादि अवस्था में उसे मित्रादि चार दृष्टियां क्रमशः प्राप्त होती हैं। **(३)** ये मित्रादि चार दृष्टियां द्रव्ययोग बनती हैं। वे भावयोग का कारण होने से द्रव्ययोग हैं। द्रव्ययोग भावयोग की प्राप्ति करवाकर मोक्ष से जोड़ता है। **(४)** चरमावर्त में समुचित योग्यता प्राप्त होने से प्रारम्भिक चरण में (भावयोग के कारणभूत) द्रव्ययोग की प्राप्ति होती है और **(५)** द्रव्ययोग की आराधना करते-करते ग्रंथिभेद से सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होती है और तब भावयोग की प्राप्ति होती है।

प्रश्न : मिथ्यात्व की मंदता सहज होती है ? या आत्मा के पुरुषार्थ से होती है ?

उत्तर : मिथ्यात्व की मंदता चरमावर्त में तथाभव्यत्व के परिपाक से होती है[2] और तथाभव्यत्व साध्यव्याधि समान होने के कारण पुरुषार्थ से उसका परिपाक होता है।[3] **योगदृष्टिसमुच्चय में कहा गया है कि,**

'तथाभव्यत्वपाकतः' इति तथाभव्यत्वपाकेन ततस्तस्मान्मिथ्यात्व-कटुकत्वनिवृत्त्या मनाक् माधुर्यसिद्धेः संशुद्धमेतज्जिनेषु कुशलादिचित्तम्। (यो. दृ. श्लोक - २४, टीका)

- तथाभव्यत्व के परिपाक से मिथ्यात्व की कटुता (कड़वाहट-तीव्रता) निवृत्त होती है अर्थात् मिथ्यात्व की मंदता प्राप्त होती है और इससे कुछ संवेग की

मधुरता प्राप्त होती है। इससे मोक्ष के अनन्य कारणभूत श्री जिनेश्वर परमात्मा के विषय में संशुद्ध कुशलचित्तादि प्राप्त होता है।

इसलिये चरमावर्त काल में तथाभव्यत्व परिपाक होने से मिथ्यात्व की मंदता प्राप्त होती है। तथाभव्यत्व का परिपाक पुरुषार्थ से होता है। **पंचसूत्र ग्रंथ में तथाभव्यत्व के परिपाक के तीन साधन बताये गये हैं[4] -**

(१) चतुःशरणगमन : श्री अरिहंत, श्रीसिद्ध, श्रीसाधु व श्री जिनप्रणीत धर्मः इन चार की शरणागति स्वीकार करनी चाहिये। श्री अरिहंतादि को ही कल्याणकारी मानकर उनके चरणों में जीवन समर्पित करना चाहिये।

(२) दुष्कृतगर्हा : अपने दुष्कृत्यों की गर्हा (निंदा) करनी चाहिये।

(३) सुकृतानुमोदन : मार्ग में स्थित सभी आत्माओं के सुकृतों की अनुमोदना करनी चाहिये। इन तीन उपायों के सातत्यपूर्ण पालन से तथाभव्यत्व का परिपाक होता है। अरिहंतादि की शरण मोह को तोड़ने के लिये ही स्वीकार करनी चाहिये। परन्तु किसी भौतिक अपेक्षा से शरण स्वीकार नहीं करनी चाहिये, इसका विशेष ध्यान रखना है। इन तीन उपायों के विषय में **'शुद्ध धर्म'** पुस्तक में विस्तार से चर्चा की गई है। जिज्ञासुओं को इस पुस्तक से विशेष जानकारी लेने की सलाह है।

संक्षेप में (१) चरमावर्त काल में (चतुःशरण गमनादि तीन उपायों से) तथाभव्यत्व का परिपाक होता है और तथाभव्यत्व के परिपाक से मिथ्यात्व की मंदता प्राप्त होती है। (२) मिथ्यात्व की मंदता से संवेग की मधुरता प्राप्त होती है। बोध संवेग से परिप्लावित बनता है अर्थात् आत्मा में मोक्ष की अभिलाषा जागृत होती है। मोक्ष का राग प्रकट होता है। (३) इसके परिणामस्वरूप मित्रादि चार दृष्टियां की प्राप्ति होती है। (प्रथम मित्रा दृष्टि में श्री जिनेश्वर परमात्मा के संदर्भ में संशुद्ध भक्ति प्राप्त होती है, जो प्रथम योगबीज है।)

मिथ्यात्व की मंदता भी आत्मा की प्रकृति बदल देती है और मोक्षमार्ग के

अभिमुख बनाकर मोक्ष के अनुकूल प्रवृत्ति करवाती है। इसलिये **योगावतार बत्तीसी** में कहा गया है कि,

प्रकृत्या भद्रकः शान्तो विनीतो मृदुरुत्तमः।
सूत्रे मिथ्यादृगप्युक्तः परमानन्दभागतः ।।३२।।

- इसलिये (पूर्व में दर्शाए कारणों के अनुसार) शास्त्र में प्रकृति से भद्रक, शांत (क्रोधादि विकार से रहित), विनीत, मृदु (निर्दंभी) तथा उत्तम (संतोषी) मिथ्यादृष्टि आत्मा भी (शिवराजर्षि की भांति) परमानंद का भाजन बनती है। मिथ्यात्व की मंदता के कारण क्रोधादि चारों कषाय भी मंद हो जाते हैं। **जिससे आत्मा क्रोध कषाय का उपशम होने से शांत, मान कषाय का उपशम होने से विनीत, माया कषाय का उपशम होने से निर्दंभी और लोभ कषाय का उपशम होने से संतोषी बन जाती है।** शांतता आदि गुण के कारण उसकी उत्तम प्रकृति प्रकट होती है और वह हंमेशा निज-पर का कल्याण चाहनेवाली बन जाती है। कल्याण मार्ग को देखने में अवरोधक तीव्र कषाय मंद हो जाने के कारण वह कल्याण मार्ग को अच्छे ढंग से देख सकती है और समझ सकती है तथा जीवन में उसका आचरण कर सकती है। ऐसा करके योगमार्ग में प्रगति करते हुए अंततः परमानंद (मोक्ष) को प्राप्त करती है।

प्रश्न : यहां मित्रादि चार दृष्टियां में द्रव्ययोग क्यों कहा गया है ? और भावयोग क्यों नहीं बताया गया है ?

उत्तर : इस प्रश्न का उत्तर देते हुए अपुनर्बंधक बत्तीसी में कहा गया है कि, अपुनर्बंधक अवस्था में प्राप्त होनेवाली मित्रादि चार दृष्टियां में मोक्ष की इच्छा का परिणाम (संवेग भाव) होता है। परन्तु यह दृष्टिवाली आत्माएं मोक्ष में अत्यंत बद्धचित्त वाली नहीं होती है अर्थात् उनके मन में लगातार हंमेशा मोक्ष की इच्छा का अत्यंत दृढ़ परिणाम रमण नहीं करता है। जबकि भिन्न ग्रंथिवाली सम्यग्दृष्टि आत्मा के मन में सदा मोक्ष की इच्छा का अत्यंत दृढ़ परिणाम

विद्यमान होता है। इसलिये उनकी काया कदाचित संसार में हो तो भी उनका मन मोक्ष में ही होता है।[5] इसलिये सम्यग्दृष्टि में भाव से योग होता है और अपुनर्बंधक में द्रव्य से योग होता है। (इस विषय में आगे विस्तार से चर्चा करेंगे।)

➠ ओघदृष्टि - योगदृष्टि : -

योगदृष्टिसमुच्चय ग्रंथ में योगदृष्टि की परिभाषा स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि,

सच्छ्रद्धासंगतो बोधो, दृष्टिरित्यभिधीयते।
असत्प्रवृत्तिव्याघातात् सत्प्रवृत्तिपदावहः ।।१७।।

- सम्यग्श्रद्धा से युक्त बोध को (योग) दृष्टि कहा जाता है। यह बोध असद् प्रवृत्तियों का (शास्त्र बाह्य प्रवृत्तियों का) घात (नाश) करके सद् प्रवृत्तिपद (शास्त्र सापेक्ष प्रवृत्ति को धारण करनेवाला पद) प्राप्त कराता है अर्थात् अवेद्य संवेद्य पद के परित्यागपूर्वक वेद्य संवेद्य पद को प्राप्त करवाता है।

इस विषय को स्पष्ट करने से पहले ओघदृष्टि का स्वरूप समझ लेना चाहिये। योगदृष्टिसमुच्चय ग्रंथ के श्लोक - १४ की टीका में ओघदृष्टि का अर्थ सामान्यदर्शन बताया गया है अर्थात् **मिथ्यात्व के प्रगाढ़ उदय से संवलित अज्ञानावरणीयादि कर्मों के क्षयोपशम से होनेवाले सामान्य दर्शन को ओघदृष्टि कहा जाता है।** भवाभिनंदी आत्माओं को जगत के पदार्थों का जो सामान्य दर्शन होता है, वह **ओघदृष्टि** है।[6] (यहां दृष्टि अर्थात् दर्शन अर्थ लेना है। ओघदृष्टि अर्थात् सामान्य दर्शन।)

ओघदृष्टि में जगत के पदार्थों का वास्तविक दर्शन नहीं होता है। जगत के पदार्थ उपयोगी हैं या अनुपयोगी हैं, अनुकूल हैं या प्रतिकूल हैं, ऐसी स्थूल दृष्टि से ही जगत के पदार्थों का दर्शन होता है । जगत के पदार्थों का शास्त्र में जिस तरह से वर्णन किया गया है, उस प्रकार बोध प्राप्त नहीं होता है अर्थात् शास्त्र

ने जिन पदार्थों को हेय कहा है, उन्हें वे हेय स्वरूप और जिन्हें उपादेय कहा है, उन्हें वे उपादेय स्वरूप दिखाई नहीं देते हैं अर्थात् जगतवर्ती पदार्थों को जानने के बावजूद हेय-उपादेय के विभागपूर्वक दिखाई नहीं देते हैं। कदाचित् स्थूल दृष्टिवाले हेय-उपादेय का विभाग देख भी लें तो भी हेय को हेय स्वरूप में स्वीकार करके उनसे छूटने और उपादेय को उपादेय के तौर पर स्वीकार करके उन्हें स्वीकार करने की उनमें उत्सुकता जागृत नहीं होती है। (उन्हें मात्र हेयोपादेय पदार्थों का विषय प्रतिभास ज्ञान ही होता है। परन्तु आत्म परिणतिमत् तथा तत्त्व संवेदनात्मक ज्ञान नहीं होता है। इन तीनों ज्ञान के स्वरूप का आगे वर्णन किया जाएगा।)

ओघ दृष्टिवाली आत्मा धर्म का ज्ञान प्राप्त करे तो भी उसमें हेय को हेय स्वरूप में स्वीकार करने की तथा उसका त्याग करने की और उपादेय को उपादेय स्वरूप में स्वीकार करने की तथा उसका आचरण करने की संवेदना जागृत नहीं होती है। जैसे कि, भवाभिनंदी आत्मा है, तो वह संसार के पदार्थ घातक होने के बावजूद उन्हें हेय के स्वरूप में स्वीकार नहीं करती है, इसलिये उनमें रच-पचकर प्रवृत्ति करती है और धर्म संसार से तरने का परम कारण होने के बावजूद धर्म को तारक के रूप में स्वीकार करके धर्म नहीं करती है, बल्कि संसार सुख का कारण मानकर ही धर्म करती है अर्थात् वह किसी भी विषय के परिणाम का विचार कर सके, ऐसा उसे जगतवर्ती पदार्थों का दर्शन नहीं होता है। **ओघदृष्टिवाली आत्मा शास्त्रों का गहन अध्ययन करती है अथवा तीव्र तपस्या करती है तो भी वह मात्र मान कषाय की पुष्टि के लिये अथवा संसार के प्रयोजन के लिये ही करती है। उसका उद्देश्य मात्र और मात्र संसार ही होता है। क्योंकि, उसे वास्तविक दर्शन न होने से उसके विचार में उन सभी का फल लौकिक ही है।**

यद्यपि मोहगर्भित वैराग्यवाली संसारत्यागी आत्माएं, जो एकांत दृष्टि से जगत के पदार्थों को स्वीकार करती हैं और अपनी मान्यताओं का प्रगाढ़ अभिनिवेश (आग्रह) रखती हैं, ऐसी आत्माओं की गणना भी ओघदृष्टि में ही

करनी चाहिये। **योगदृष्टिसमुच्चय ग्रंथ में कहा गया है कि,** ओघदृष्टि के कारण ही जगत में अनेक दर्शनों के भेद हो गये हैं। क्योंकि, उनमें जगत के पदार्थों का अनेकांत दृष्टि से मूल्यांकन करने के स्थान पर एक-एक दृष्टि से मूल्यांकन करके पदार्थ के किसी निश्चित स्वरूप को एकांत से स्वीकार करने का आग्रह (कदाग्रह) होता है और पदार्थ के अन्य स्वरूपों का एकांत से अपलाप होता है। मिथ्यात्व मोहनीय के क्षयोपशम के बिना प्रगाढ़ कदाग्रह की निवृत्ति नहीं होती है और तब तक एकांत दृष्टि का आग्रह नहीं छूटता है और अनेकांत दृष्टि प्रकट नहीं होती है। अनेकांत दृष्टि के बिना वस्तु का सर्वांगीण बोध नहीं होता है और इसके बिना जो दर्शन होता है वह सामान्य दर्शन होता है।

योगदृष्टि अर्थात् विशेषदर्शन अर्थात् **मिथ्यात्व के क्षयोपशम से संवलित ज्ञानावरणीयादि कर्मों के क्षयोपशम से होनेवाले विशेष दर्शन को योगदृष्टि कहा जाता है।** अपुनर्बंधक आत्मा को सर्वप्रथम ऐसी योगदृष्टि प्राप्त होती है।

योगदृष्टि में जगत के पदार्थों का वास्तविक दर्शन होता है। जैसे-जैसे योगदृष्टि का विकास होता है, वैसे-वैसे वह दर्शन स्पष्ट और विशेषतर स्पष्ट होता जाता है। मिथ्यात्व का क्षयोपशम होने से पदार्थों के मात्र बाह्य स्वरूप को (वे वर्तमान में कितने उपयोगी हैं या अनुपयोगी हैं, ऐसे लौकिक स्वरूप को) देखने का दृष्टिकोण नहीं होता है। बल्कि परिणामतः वह पदार्थ कैसे हैं, यह जानने का दृष्टिकोण होता है। इस कारण योगदृष्टि में हेय (त्याज्य) पदार्थ हेय स्वरूप तथा उपादेय (स्वीकार्य) पदार्थ उपादेय स्वरूप प्रतिभासित होते हैं।

योगदृष्टि में (सत् श्रद्धायुक्त बोध में) संवेग की मधुरता होती है अर्थात् मोक्षाभिलाषा की मधुरता होती है। क्योंकि, तथाभव्यत्व के परिपाक से होनेवाली मिथ्यात्व की मंदता के प्रभाव से वह प्राप्त हुई है। मिथ्यात्व की मंदता के कारण संसार सुख की असारता-भयंकरता ज्ञात हुई है और मोक्ष सुख की रमणीयता भी ज्ञात हुई है। इस कारण मोक्ष सुख की अभिलाषा प्रकट हुई है और संवेग से परिप्लावित बोध होने के कारण वह मार्ग में ही प्रवृत्ति करवाती है - शास्त्र

सापेक्ष प्रवृत्ति ही करवाती है।

ओघदृष्टि में संवेग की मधुरता नहीं होती है। क्योंकि, मिथ्यात्व का प्रगाढ़ उदय होने के कारण प्रगाढ़ भवाभिष्वंग होता है और मुक्ति के प्रति द्वेष होता है। जिससे संसार सुख की असारता-भयंकरता व कषाय की घातकता उसे ज्ञात ही नहीं होती है तथा संवेग से रहित और मुक्ति के द्वेष से युक्त बोध, मार्ग में प्रवृत्ति नहीं करवाता है। - शास्त्र सापेक्ष प्रवृत्ति नहीं करवाता है। बल्कि शास्त्र विरोधी प्रवृत्ति ही करवाता है।

योगदृष्टिवाली आत्मा कदाचित् अज्ञान के कारण शास्त्र विरोधी प्रवृत्ति करती हो, तो भी उसे उससे वापस लाया जा सकता है, वह ऐसी प्रज्ञापनीय होती है। क्योंकि उसका आग्रह अत्यंत निवर्तनीय होता है। जबकि ओघ दृष्टिवाली आत्मा को शास्त्र विरोधी प्रवृत्ति से वापस नहीं लाया जा सकता है। क्योंकि उसका कदाग्रह अनिवर्तनीय कोटि का होने से वह प्रज्ञापनीय नहीं होती है।

ओघदृष्टिवाली आत्मा की अतत्त्व में तत्त्व बुद्धि होती है। योगदृष्टिवाली आत्मा की अतत्त्व में तत्त्व बुद्धि नहीं होती है। परन्तु कदाचित अनाभोग से कई बार तत्त्वाभास में तत्त्व बुद्धि हो सकती है, तो भी वह निवर्तनीय कोटि की होती है। (किसी मिलती-जुलती वस्तु को (घटादि को) सर्प मानना, यह अतत्त्व में तत्त्व बुद्धि स्वरूप है और रस्सी में सर्प मानना, तत्त्वाभास में तत्त्व बुद्धि स्वरूप है।) **इसलिये योग दृष्टि से असत् प्रवृत्ति (शास्त्र विरोधी प्रवृत्ति) का नाश होता है और सत् प्रवृत्ति की (शास्त्र सापेक्ष प्रवृत्ति की) प्राप्ति होती है।**

जब तक आत्मा ओघदृष्टि की छाया में होती है तब तक उसके जीवनपथ पर अंधकार छाया रहता है। जिससे 'मैं कौन हूं ? मैं कौन नहीं हूं ? क्या मेरा है और क्या मेरा नहीं है ? जीवन में क्या प्राप्तव्य (प्राप्त करने योग्य) है और क्या प्राप्तव्य नहीं है ? तथा जीवन का क्या कर्तव्य है और क्या कर्तव्य नहीं है? ऐसे आत्मोन्मुखी विषयों का उसे सच्चा बोध नहीं होता है।

आत्मा योगदृष्टि के प्रकाश में आती है, तो उसके जीवनपथ पर प्रकाश फैल जाता है। उसे पूर्वोक्त आत्मोन्मुखी विषयों का सच्चा बोध हो जाता है। जिससे जीवन की दिशा बदल जाती है। अनादिकाल से जिस संसारमार्ग पर आत्मा चलती आ रही थी, वह अब उसे भयंकर लगने लगता है और भगवान द्वारा प्ररूपित मोक्षमार्ग उसे सुखकर लगने लगता है।

प्रश्न : हम योगदृष्टि में आए या नहीं, यह कैसे जान सकते हैं ?

उत्तर : पूर्व में जो वर्णन किया है, उसके आधार पर तथा आगे प्रत्येक दृष्टियों के स्वरूप का तथा उनमें प्राप्त होनेवाले गुणवैभव का जो वर्णन किया जाएगा, उसके आधार पर हम कहां हैं, यह सुनिश्चित किया जा सकता है।

प्रश्न : योगदृष्टियां कितनी हैं ?

उत्तर : योग दृष्टियां (सद् दृष्टियां) कुल आठ हैं। (१) मित्रा, (२) तारा, (३) बला, (४) दीप्रा, (५) स्थिरा, (६) कांता, (७) प्रभा और (८) परा।

प्रश्न : योगदृष्टि अर्थात् सद्दृष्टि। पूर्व में सद्दृष्टियां आठ दर्शाई हैं। मिथ्यात्व की मंदता से मित्रादि चार दृष्टियां प्राप्त होती हैं, ऐसा पूर्व में कहा है। यहां प्रश्न यह उपस्थित होता है कि, सद्दृष्टि तो ग्रंथिभेद होने के बाद सम्यग्दर्शन की उपस्थिति में आ सकती है ना ? ग्रंथिभेद से पूर्व मिथ्यात्व की उपस्थिति में मित्रादि चार दृष्टियां सद्दृष्टियां कैसे बन सकती हैं ? इसलिये सद् दृष्टियां आठ कैसे कही जा सकती हैं ?

उत्तर : ग्रंथिभेद होने के बाद ही सद्दृष्टि प्राप्त होती है, यह आपकी बात सही है। परन्तु जो सद् दृष्टि का कारण बनती हैं, उन मित्रादि दृष्टियों को भी सद्दृष्टि कहने में कोई दोष नहीं है। मित्रादि दृष्टियों का सेवन करते हुए साधक ग्रंथि का भेद करके स्थिरा नामक सद् दृष्टि प्राप्त करता है। इसलिये मित्रादि दृष्टियां सद् दृष्टि का कारण होने से वे भी सद् दृष्टियां ही हैं। (ओघदृष्टि सद्दृष्टि का कारण

नहीं बनती है, इसलिये उसे सद्दृष्टि नहीं कहा जाता है।)

जैसे गन्ने में मिठास है, वही क्रमशः मिश्री, चीनी, मत्स्यन्डी तथा वर्षोलक में आती है। इक्षु (गन्ना) में मिठास है, इसीलिये वह वर्षोलक आदि में आती है। वैसे ही मित्रादि चार दृष्टियों में (क्रमशः विकसित होनेवाली) निहित संवेग की मधुरता स्थिरा आदि दृष्टियों में आती है। मित्रादि दृष्टियों में संवेग की मधुरता है, इसीलिये वह स्थिरादि दृष्टियों में आती है।

यद्यपि मित्रादि दृष्टियों में धर्म के प्रति जो रुचि है, वही रुचि स्थिरादि दृष्टियों में विकसित और स्थिर होती है। इसलिये मित्रादि दृष्टियों को सद् दृष्टि मानने में कोई दोष नहीं है। (इक्षु, इक्षुरस, कक्कब, गुड़, मिश्री, चीनी, मत्स्यंडी तथा वर्षोलक, इन आठ में क्रमशः मिठास बढ़ती जाती है। इक्षु में निहित मिठास इक्षुरस में बढ़ती है, इक्षुरस में निहित मिठास कक्कब में बढ़ती है, इस प्रकार मिठास क्रमशः बढ़ते हुए वर्षोलक में उत्कृष्ट स्तर पर पहुंच जाती है। इसी प्रकार मित्रा, तारा, बला, दीप्रा, स्थिरा, कांता, प्रभा और परा : इन आठ सद् दृष्टियों में क्रमशः बोध तीव्र बनता है, धर्म के प्रति रुचि बढ़ती है और संवेग की मधुरता बढ़ती है। मित्रादृष्टि में संप्राप्त सम्यग्बोध, धर्मरुचि व संवेग की मधुरता प्रत्येक दृष्टि में क्रमशः बढ़ती हैं और 'परा' नामक आठवीं दृष्टि में उनकी चरमसीमा होती है।

प्रश्न : मित्रादि आठों दृष्टियां प्रतिपाती हैं या अप्रतिपाती हैं ?

उत्तर : योगदृष्टिसमुच्चय ग्रंथ में मित्रादि चार दृष्टियों को प्रतिपाती कहा गया है और स्थिरादि चार दृष्टियों को अप्रतिपाती कहा गया है।[7]

मिथ्यादृष्टि की मंदता से प्राप्त होनेवाली मित्रादि चार दृष्टियां अपाय सहित होती हैं। क्योंकि, दुर्गति के कारण कर्म का बल उनमें विद्यमान होने के कारण ऐसा कर्म उदय में आए तो दृष्टियों का घात भी हो सकता है और आत्मा दुर्गति में जा सकती है। **परन्तु यह स्मरण रखना चाहिये कि,** मित्रादि चार दृष्टियों का पात (घात) होगा ही, ऐसा नियम नहीं है। क्योंकि, (नष्ट न होनेवाली) मित्रादि चार दृष्टियों से उत्तर की स्थिरादि दृष्टि की प्राप्ति होती है।[8] **इसलिये फलितार्थ**

यह है कि, *दुर्गति के कारण बलवान कर्म का उदय हो जाएं तो मित्रादि दृष्टियों* का घात भी हो सकता है और ऐसा कर्म अवरोधक न बने तो स्थिरादि दृष्टियों की प्राप्ति भी हो सकती है।

अब प्रथम गुण स्थानक में क्रमशः प्राप्त होनेवाली चार दृष्टियों का क्रमशः वर्णन करेंगे। **प्रत्येक दृष्टि में मुख्यतया पांच वस्तुओं का विचार किया जाएगा। (१) प्राप्त होनेवाला बोध, (२) प्राप्त होनेवाला योग का अंग, (३) नष्ट होनेवाला दोष, (४) प्राप्त होनेवाला गुण तथा (५) अवांतर गुण वैभव।** इसके अलावा विविध दृष्टियों का साधक आगे की दृष्टि का विकास किन आलंबनों से प्राप्त करता है। इसके बारे में भी विचार किया जाएगा।

➞ **टिप्पणकम् :- 1.** तृणादीनां च भावानां, योग्यानामपि नो यथा। तदा घृतादिभावः स्यात्, तद्वद् योगोऽपि नान्यदा ।।९५।। नवनीतादिकल्पस्तत्तद् भावेऽत्र निबन्धनम्। पुद्गलानां परावर्त्तश्चरमो न्यायसङ्गतम् ।।९६।। **(यो. बि.) 2.** चरमे पुद्गलावर्ते, तथाभव्यत्वपाकतः। संशुद्धमेतन्नियमान्नान्यदापीति तद्विदः ।।२४।।(योगदृष्टिसमु.) **3.** एभिस्तत्तथास्वाभाव्यात्साध्यव्याधिवत्तथाभव्यत्वं परिपाच्यते। **(पंचसूत्र-टीका) 4.** तस्य पुण विवागसाहणाणि चउसरणगमणं दुक्कडगरिहा सुकडाणसेवणं अओ कायव्वमिणं होउकामेणं सया सुप्पणिहाणं भुज्जो भुज्जो संकिलेसे तिकालमसंकिलेसे। **(पंचसूत्र-१) 5.** तत्क्रियायोगहेतुत्वाद्योग इत्युचितं वचः। मोक्षेऽतिदृढचित्तस्य भिन्नग्रन्थेस्तु भावतः ।।१६।। टीका -**XXXX** सम्यग्दृष्टेर्हि मोक्षाकाङ्क्षाक्षणिकचित्तस्य या या चेष्टा सा सा मोक्षप्राप्तिपर्यवसानफलिकेति तस्यैव भावतोऽयम्, अपुनर्बन्धकस्य तु न सार्वदिकस्तथापरिणाम इति द्रव्यत एवेति। तदुक्तं "भिन्नग्रन्थेस्तु यत्प्रायो मोक्षे चित्तं भवे तनुः। तस्य तत्सर्व एवेह योगो योगो हि भावतः" **(यो.बि.-२०३) (अपुनर्बन्धकद्वात्रिंशिका-१६ टीका) 6.** समेघाऽमेघरात्र्यादौ, सग्रहाद्यर्भकादिवत्। ओघदृष्टिरिह ज्ञेया, मिथ्यादृष्टीतराश्रया ।।१४।। टीका-इहौघदृष्टिर्ज्ञानावरणीयादिकर्मक्षयोपशमवैचित्र्याच्चित्रा। **XXXX** 'ओघदृष्टिः' - सामान्यदर्शनं भवाभिनन्दिसत्त्वविषया, मिथ्यादृष्टिश्चेतरश्च मिथ्यादृष्टीतरौ, तदाश्रया, काचाद्युपहतो मिथ्यादृष्टिः, तदनुपहतस्त्वितर इत्यक्षरगमनिका। **7.** प्रतिपातयुताश्चाद्याश्चतस्रो नोत्तरास्तथा। सापाया अपि चैतास्ताः प्रतिपातेन नेतराः ।।१९।। **(योग. समु.) 8.** आद्याश्चतस्रो - मित्राद्या - दृष्टय इह - जगति मिथ्यादृशां भवन्ति, सापायपाता - दुर्गतिहेतुकर्मबलेन तन्निमित्तभावादपायसहितः कर्मवैचित्र्याद् भ्रंशयोगेन सपाताश्च, न तु सपाता एव, ताभ्यस्तदुत्तरभावादिति। **(योगावतार द्वात्रिंशिका - २८ टीका)**

✣✣✣

प्रकरण - ६/१
प्रथम योगदृष्टि : मित्रादृष्टि

➠ प्रथम योगदृष्टि : मित्रा दृष्टि :-

मित्रादृष्टि में प्राप्त होनेवाले अंगों को दर्शाते हुए योगदृष्टिसमुच्चय ग्रंथ में कहा गया है कि,

मित्रायां दर्शनं मन्दं, यम इच्छादिकस्तथा।
अखेदो देवकार्यादावद्वेषश्चापरत्र तु।।२१।।

- मित्रादृष्टि में (१) बोध (दर्शन) मंद होता है। (२) इच्छादि भेदवाला योग का '**यम**' नामक अंग प्राप्त होता है। (३) देव-गुरु आदि के कार्य में '**अखेद**' होता है और (४) अदेव कार्यादि में अद्वेष होता है। अब क्रमशः पूर्वोक्त चारों विषयों की चर्चा करेंगे।

(१) मित्रादृष्टि में प्राप्त होनेवाला बोध :- मित्रा दृष्टि में प्राप्त होनेवाले बोध का स्वरूप दर्शाते हुए योग-दृष्टिसमुच्चय श्लोक १५ की टीका में कहा गया है कि,

मित्रायां बोधस्तृणाग्निकणसदृशो भवति, न तत्त्वतोऽभीष्टकार्यक्षमः, सम्यक्प्रयोगकालं यावदनवस्थानादल्पवीर्यतया पटुस्मृतिबीजसंस्काराधानानुपपत्तेः, ततश्च विकलप्रयोगभावाद्भावतो वन्दनादिकार्यायोगादिति।

मित्रादृष्टि का बोध... (१) यह बोध तिनके की अग्नि की चिनगारी जैसा अल्प शक्तिवाला और अल्प समय टिकनेवाला होता है। (२) यह बोध अल्प शक्तिवाला होने के कारण धर्म क्रिया के समय नहीं टिकता है और (३) अल्प शक्तिवाला होने के कारण उससे शीघ्र स्मृति में कारण संस्कारों का आधान नहीं होता है। (४) इस प्रकार के संस्कारों का आधान नहीं होने से धर्मक्रिया के

दौरान बोध की शीघ्र स्मृति नहीं होने के कारण धर्मक्रिया विकल हो जाती है और (५) धर्मक्रिया विकल हो जाने से वह धर्म भावधर्म नहीं बन पाता है।

अब तक आत्मा पर ओघदृष्टि का जो अंधकार छाया था, वह मित्रादृष्टि के सामान्य प्रकाश के (बोध के) कारण नष्ट हो जाता है। योगदृष्टि का सामान्य प्रकाश आत्मा पर पड़ने से जीवनपथ भी प्रकाशित हो जाता है। इस प्रकाश में आत्मा अपने हित-अहित को देखने में समर्थ हो जाती है। मेरे लिये क्या हितकारी है ? और क्या अहितकारी है ? इसका उसे आध्यात्मिक विवेक प्राप्त हो जाता है। इस विवेक के बल पर उसमें आत्म-अहित का मार्ग त्यागकर आध्यात्मिक विकास करने की इच्छा जागृत होती है। अब तक गंतव्य का ज्ञान न होने से आत्मा संसार में इधर-उधर भटक रही थी। योगदृष्टि के बोध से गंतव्य का बोध होने से उसके जीवन की दिशा बदल जाती है। **यह बोध निःस्वार्थ मित्र का काम करता है। इसलिये इस प्रथम दृष्टि का 'मित्रा' नाम सार्थक है।**

प्रथम दृष्टि का बोध सच्चे सुख का मार्ग बताता है, इसलिये वह परम कल्याणमित्र बन जाता है। ओघदृष्टि के अंधकार में फंसी आत्मा को सद्गुरु का संसर्ग प्राप्त हो जाए और वे सच्चे सुख का मार्ग बता दें तो भी उसमें उस मार्ग के प्रति श्रद्धा जागृत नहीं होती है। क्योंकि, प्रगाढ़ मिथ्यात्व के कारण उसका तात्त्विक बोध दब जाता है। प्रथम दृष्टि में मिथ्यात्व मंद पड़ने के कारण तात्त्विक बोध उजागर होता है। यह बोध ही उसे सच्चे मार्ग का ज्ञान कराता है। कोई व्यक्ति मार्ग बताये किन्तु यदि मार्ग को समझने की योग्यता ही प्रकट न हो, तो उसे मार्ग का बोध नहीं हो सकता। इसीलिये पर्याप्त योग्यता प्रकट होने के बाद ही मार्ग का बोध हो सकता है।

प्रथम दृष्टि का बोध तिनके की अग्नि की चिनगारी के समान अल्प-शक्तिवाला और अल्प-समय टिकनेवाला होने के बावजूद गंतव्य दिशा तो बता ही देता है। जैसे घने जंगल में रात्रि के समय घोर अंधकार हो और उसमें

फंसा व्यक्ति दुविधा में हो - इधर-उधर भटकता हो, उसी समय नगर की दिशा में सामान्य प्रकाश उत्पन्न होकर बुझ जाए, तो भी वह व्यक्ति उसके आधार पर गंतव्य की दिशा सुनिश्चित कर सकता है, वैसे ही संसार के जंगल में फंसे व्यक्ति को प्रथम दृष्टि का बोध सच्चे सुख के धाम की दिशा बताने का काम करता है। इसीलिये यह बोध कल्याणमित्र जैसा है।

बोध अपना है। फिर भी वह सद्गुरु के माध्यम से जिनवचन के सहारे प्रकट हुआ है। इसलिये प्रथम दृष्टि के साधक को श्री जिनेश्वर परमात्मा व सद्गुरु भगवंत परमोपकारी लगने लगते हैं और इस प्रथम दृष्टि के बोध के बल से उनके प्रति संशुद्ध भक्ति (इस दृष्टि में) प्रकट होती है। (इस विषय को आगे विस्तार से बताएंगे।) **यह बोध अल्प है। इसके बावजूद विषयों में असारता और कषायों की भयंकरता-संक्लेश बताने का काम करता है।** संसार सुख में दुःख के दर्शन कराता है। इसलिये संसार के प्रति वैराग्य भाव उत्पन्न होता है।

इस दृष्टि में आत्मा की चेतना व्यक्त और अंशतः निर्मल होती है। जिससे ज्ञानादि-क्षमादि गुण अंशतः प्रकट होते हैं। गुणों में शांति-विश्रांति दिखाई देने लगती है। पुद्गल सुख में अशांति-आकुलता दिखने लगती है। इसलिये आत्मा में गुणों की अभिरुचि पैदा होती है। पुद्गल का तीव्र आकर्षण टूटता है। जिससे संवेग की मधुरता का अनुभव होता है अर्थात् इस दृष्टि में जहां संपूर्ण गुण प्रकट होते हैं, ऐसे संपूर्ण गुण के धाम मोक्ष की अभिलाषा व उसकी मधुरता का आंशिक अनुभव होता है।

इस दृष्टि का बोध संवेग की मधुरतावाला होने के कारण मोक्ष के उपाय रूपी धर्म की वास्तविक रुचि जगाता है। (अधर्म की अरुचिपूर्वक की धर्म की रुचि तात्त्विक है। वास्तविक है।) **धर्म की रुचि के कारण खेद दोष यहां नष्ट हो जाता है।**

ओघ दृष्टि में ज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम से चेतना का विकास हो

सकता है। परन्तु चेतना का जागरण (शुद्ध स्वरूप का प्रकटीकरण) तो मोहनीय कर्म के क्षयोपशम से ही होता है। चेतना का यह जागरण इस दृष्टि में ही होता है। चेतना का विकास हुआ हो, तो ऐसा कोई नियम नहीं कि चेतना निर्मल भी हो जाए। मोहनीय कर्म का क्षयोपशम हो, तो ही चेतना निर्मल बनती है। इस दृष्टि में मिथ्यात्व की तीव्रता निवृत्त होने के कारण चेतना निर्मल होती है और इसीलिये इस दृष्टि में आत्मा को आत्म ज्ञान होता है। **मैं कौन हूं ? मैं कौन नहीं हूं ? क्या मेरा है ? क्या मेरा नहीं है ? मेरा स्वरूप क्या है ? क्या मेरा स्वरूप नहीं है ? क्या प्राप्तव्य है और क्या प्राप्तव्य नहीं है ? क्या कर्तव्य है और क्या अकर्तव्य है ? इत्यादि विषयों के प्रति आत्मा जागृत होती है। गुणवैभव में अपनी वास्तविक रमणता की योग्यता का बोध होने से उसे वर्तमान दोषबहुल भिखारीअवस्था खटकने लगती है।**

जैसे मित्र निरंतर हमसे अपने हित की चिंता करवाता है, वैसे ही यह बोध भी आत्मा के हित की चिंता करवाता है। इसके अलावा **इस दृष्टि का बोध अल्प-शक्तिवाला और अल्पकाल टिकनेवाला होने के बावजूद सत्क्रिया का प्रयोजक बनता है,** पाप का परिचय कराता है, मात्र संवेग का परिणाम अल्प होने के कारण भाव से क्रिया प्राप्त नहीं होती है। (पूर्व में दर्शाए अनुसार क्रिया के समय निरंतर संवेग का तीव्र परिणाम रमता हो तो ही क्रिया भावक्रिया बनती है अर्थात् अच्छी तरह से मोक्ष के साथ योजन कराने का कार्य करती है। समकिति आत्मा में संवेग का परिणाम निरंतर विद्यमान होने से उसे भावक्रिया की प्राप्ति होती है।)

संक्षेप में, मित्रा दृष्टि के बोध ने... आत्मा में अधर्म की अरुचि व धर्म की रुचि प्रकट की है... संसार से विमुख करके उसे मोक्ष के अभिमुख बनाया है... उसमें मोक्ष का राग प्रकट किया है। संवेग के परिणाम की भेंट दी है...संसार सुख में दुःख के दर्शन करवाए हैं...आध्यात्मिक विकास की शुरुआत कराई है... विषयों में असारता व कषायों की संक्लिष्टता का बोध कराया है... पाप

का परिचय कराया है और उसका त्याग करने का परिणाम जगाया है...आत्मा के हित-अहित की चिंता करने की प्रेरणा दी है...भवसागर पार करने के उचित विचार की शुरुआत कराई है...संसार-कर्म व संसार सुख के प्रति टेढ़ी-अप्रिय नजर करवाई है...श्री जिनेश्वर परमात्मा व श्री भावाचार्यों के प्रति संशुद्ध भक्ति प्रकट की है... शास्त्रों के प्रति सन्मान भाव प्रकट किया है...(यहां कुछ मुद्दों की स्पष्टता की है। कुछ मुद्दों की स्पष्टता आगे की जाएगी।)

➠ योग का प्रथम अंग 'यम' :-

मित्रा दृष्टि के साधक को संप्राप्त बोध से पूरा संसार पापमय-दुःखमय दिखाई देता है। संसार का कोई भी सुख उसे पाप की नींव पर ही खड़ा दिखाई देता है और पाप के फल के रूप में दुर्गति गमन-दुःखद भवभ्रमण भी दिखाई देता है। इस कारण हिंसादि पापों के प्रति अरुचि पैदा होती है। हिंसादि पाप भवभ्रमण के कारण व उनका त्याग आत्म कल्याण के कारण के रूप में दिखाई देता है। **जिससे उसके जीवन में हिंसादि पांच महापापों का त्याग रूपी 'यम' नामक प्रथम योगांग प्राप्त होता है।**

अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य व अपरिग्रह : ये पांच प्रकार के **यम** हैं। जीवात्माओं के प्राणों के वियोग की क्रिया को **हिंसा** कहा जाता है। इसके अभाव को **अहिंसा** कहा जाता है। वाणी व मन की यथार्थता को **सत्य** कहा जाता है। वाणी से झूठ न बोलना और मन से विपरीत विचार न करने को **सत्य** कहा जाता है। जैसा मन में सोचे, वैसा ही बोले तो उसे भी **सत्य** कहा जाता है। अन्य के धनादि का हरण करने को **चोरी** कहते हैं। इसके अभाव को **अचौर्य** कहते हैं। अब्रह्म (काम-वासना) पर संयम रखने को **ब्रह्मचर्य** कहते हैं। (पर में रमण करने के स्थान पर आत्मा में रमण करने को भी **ब्रह्मचर्य** कहते हैं।) भोग के साधनों को स्वीकार न करने को **अकिंचनता** (अपरिग्रह) कहा जाता है। इन हिंसादि पापों का सर्व प्रकार से यावज्जीव (आजीवन) त्याग करना और

अहिंसादि को आजीवन स्वीकार करना, (अर्थात् देश-काल आदि की मर्यादा रहित स्वीकार करना) इसे **महाव्रत** कहा जाता है।[1] निश्चित देश में तथा सीमित समय के लिये अहिंसादि को स्वीकार करने को **अणुव्रत** कहा जाता है। इस दृष्टि का साधक शक्ति हो तो महाव्रतों को स्वीकार करता है और शक्ति न हो तो अणुव्रतों को स्वीकार करता है। **महाव्रत अथवा अणुव्रत के पालन से इस दृष्टि के साधक को (पुण्य के अनुबंधवाला) पुण्य का बंध होता है और सकाम निर्जरा होती है।**

इस अहिंसादि पंच प्रकार के यम का इच्छायम, प्रवृत्तियम, स्थैर्ययम तथा सिद्धियम, ऐसे चार प्रकार है अर्थात् किसी साधक का अहिंसादि का पालन इच्छायम के स्तर का होता है, तो किसी साधक का प्रवृत्तियम के स्तर का होता है। किसी साधक का स्थैर्ययम तथा किसी साधक का सिद्धियम के स्तर का होता है। **तथेच्छादिचतुर्विधाः प्रत्येकमिच्छायमाः प्रवृत्तियमाः स्थिरयमाः सिद्धियमा इति। [यो. दृ. - २१४/टीका]** 'इच्छा' आदि चार का स्वरूप **'व्यवहार-निश्चय से योगमार्ग'** प्रकरण में दिया गया है। वहां स्थानादि पांच योग में इन चार स्वरूपों का योजन किया गया है। यहां अहिंसादि पांच यम में उनका योजन करें।

➠ खेद दोष का नाश :-

चित्त के आठ दोष हैं। इनमें से प्रथम 'खेद' नामक दोष मित्रा दृष्टि में नष्ट हो जाता है और अखेद भाव उत्पन्न होता है। इस कारण देव-गुरु की भक्ति आदि धर्म कार्यों में उसे खेद नहीं होता है।[2]

खेद दोष बहुत खतरनाक है। वह मूल से धर्म प्रवृत्ति नहीं करने देता है। कदाचित् उसकी विद्यमानता में धर्मप्रवृत्ति हो तो भी धर्मप्रवृत्ति का जो मूलभूत आशय है, उस आशयपूर्वक धर्मप्रवृत्ति में स्थिर नहीं होने देता है। बल्कि गलत उद्देश्य से ही धर्म करवाता है। अचरमावर्ती दुर्भव्य आदि ने अनंत

बार धर्म किया है, ऐसा शास्त्र में सुनने को मिलता है। वे तो ओघ दृष्टि के अंधकार में ही फंसे होने से उनका खेद दोष उच्च कोटि का ही होता है। फिर भी उन्होंने धर्मप्रवृत्ति की है, यह बात स्पष्ट है। **तो प्रश्न यह उठता है कि,** खेद दोष की उपस्थिति में धर्मप्रवृत्ति कैसे हो सकती है ? **इसका उत्तर यह है कि,** उन्होंने संसार सुख के लिये जगत में सर्वत्र प्रयत्न कर देखे हैं, परन्तु सफलता नहीं मिली, इसलिये उन्होंने धर्म प्रवृत्ति से पुण्य पाने और उससे संसार सुख प्राप्त करने का प्रयत्न किया है। वास्तव में उनके अंदर अधर्म के प्रति अरुचि और धर्म के प्रति रुचि प्रकट ही नहीं हुई। **धर्म की रुचि प्रकट होने के साथ अधर्म की अरुचि प्रकट हो और अधर्म से मुक्ति की इच्छा हो तो ही समझना चाहिये कि खेद दोष नष्ट हो गया है।**

मित्रा दृष्टि में अधर्म की अरुचिपूर्वक धर्म रुचि प्रकट होती है। इसलिये वास्तव में खेद दोष नष्ट हो जाता है। जिससे उसे देव-गुरु की भक्ति आदि धर्म कार्यों में खेद नहीं होता, व्याकुलता नहीं होती। अरुचिकर कार्य किया जाए तो व्याकुलता होती है। मित्रा दृष्टि के साधक के लिये तो धर्म प्रवृत्ति रुचिकर कार्य बन जाती है। इसलिये जब-जब धर्म प्रवृत्ति का अवसर आता है, तो उसे आनंद होता है। अखेद भाव से धर्म प्रवृत्ति का त्याग नहीं होता, बल्कि धर्म प्रवृत्ति ही होती है।

जैसे भोग के इच्छुक भवाभिनंदी में शारीरिक प्रतिकूलताओं में भयंकर वेदना होने के बावजूद भोग की प्रवृत्ति के अवसर पर वह प्रवृत्ति होती है, वैसे ही कल्याण के इच्छुक मित्रा दृष्टि के साधक को धर्म प्रवृत्ति करने में कितना भी त्याग करना पड़े अथवा कितने भी कष्ट सहन करने पड़ें तो भी धर्म प्रवृत्ति करने के अवसर पर वह प्रवृत्ति करता ही है। इसमें उसे आनंद आता है, व्याकुलता का अनुभव नहीं होता है।

यहां याद रखना चाहिये कि, प्रथम दृष्टि में खेद दोष दूर होकर अखेद भाव प्राप्त

होता है। परन्तु उसकी शक्ति आत्मा में निहित है, इसलिये वह कभी भी पुनः उछल सकती है। क्योंकि, मिथ्यात्व मौजूद है। मिथ्यात्व की कटुता पूर्णतः नष्ट नहीं हुई है। **समग्र दोषों का मूल मिथ्यात्व है। वह मिथ्यात्व पूरी तरह से नष्ट न हो तब तक कोई भी दोष पुनः उत्पन्न हो सकता है।** प्रथम दृष्टि में मिथ्यात्व की मंदता होने से आत्म गुणों का उत्कर्ष प्राप्त होता है। इसीलिये जीवन में आत्मगुणों के अनुकूल धर्म प्रवृत्ति आती है। यदि मिथ्यात्व तीव्र हो तो दोषों का उत्कर्ष होने से आत्मगुणों के अनुकूल प्रवृत्तियों के प्रति खेद प्रकट हो सकता है।

➠ तत्त्व-अद्वेष गुण की प्राप्ति :-

योगमार्ग का साधक आगे की दृष्टियों में जो तत्त्व प्रतिपत्ति एवं तत्त्व प्रवृत्ति प्राप्त करके अतत्त्व की परिणति व अतत्त्व में प्रवृत्ति करने की शक्ति का समूल उन्मूलन करके वेग से मोक्षमार्ग की दूरी तय करनेवाला है, उसकी शुरुआत तत्त्व-सन्मुखता-तत्त्व रुचि से होती है और उसमें बाधक होता है तत्त्व के प्रति द्वेष। तत्त्व का यह द्वेष मित्रा दृष्टि में नष्ट हो जाता है और उसे तत्त्व का अद्वेषभाव प्राप्त होता है। अभी तक आत्मा पर रहा हुआ भावमल का तीव्र साम्राज्य अतत्त्व में ही रमण करवाता था। प्रथम दृष्टि में भावमल का तीव्र साम्राज्य हटने से उसका अधिकतम क्षय होने के कारण उसे अतत्त्व की रमणता में आत्मा की बरबादी दिखाई देती है। इससे अतत्त्व के प्रति घृणा जागृत होती है और तत्त्व के प्रति अरुचि नष्ट होती है। तत्त्व के प्रति अनुकूल भाव प्रकट होता है अर्थात् तत्त्व-अतत्त्व के यथार्थ स्वरूप को जानने की दिशा में आगे बढ़ानेवाला अनुकूल भाव प्राप्त करता है।

मित्रादृष्टि का साधक आध्यात्मिक विकास का इच्छुक बन जाता है। इसलिये आध्यात्मिक विकास में कौन-से तत्त्व बाधक हैं और कौन-से तत्त्व साधक हैं, यह जानने की दिशा में उसका झुकाव होता है। सद्गुरु का संसर्ग होने से उनके उपदेश श्रवण से जैसे-जैसे बोध बढ़ता है, वैसे-वैसे तत्त्व के प्रति उसकी

अभिरुचि बढ़ती है। इससे क्रमशः आगे की दृष्टियों में तत्त्व-जिज्ञासा, तत्त्व शुश्रूषा, तत्त्व श्रवण आदि गुण प्राप्त होते हैं। **षोडशक ग्रंथ में 'तत्त्व-अद्वेष' का स्वरूप दर्शाते हुए कहा गया है कि,**

अद्वेषः पक्षपातकृताऽप्रीतिपरिहारः तत्त्वविषयः। (षोडशक १६/१४ टीका) -

किसी पक्षपात के कारण उत्पन्न तत्त्व संबंधी अप्रीति के परिहार को **'तत्त्व-अद्वेष'** कहते हैं।

ओघ दृष्टि में आत्मा पर भावमल का तीव्र साम्राज्य प्रवर्तमान होता है। इसलिये आत्मा में प्रगाढ़ भवाभिष्वंग होता है। इससे संसार के उपाय रूपी भोग तथा (भोग जिस बुनियाद पर भोगे जाते हों उन) पापों व दोषों के प्रति उसमें तीव्र पक्षपात होता है। **भोगादि अतत्त्व के प्रति का पक्षपात उससे तत्त्व के प्रति अरुचि करवाता है - द्वेष करवाता है।** इसलिये ओघ दृष्टि में तत्त्व के प्रति द्वेष होता है। **योग दृष्टि में भावमल का तीव्र साम्राज्य हट जाता है, इसलिये प्रगाढ़ भवाभिष्वंग की निवृत्ति होने से उसके उपाय रूपी भोगादि के प्रति उसके अंदर से पक्षपात चला जाता है और इससे तत्त्व के प्रति प्रगाढ़ अरुचि भी दूर हो जाती है** और आत्मा को तत्त्व के प्रति अद्वेषभाव प्राप्त होता है।

➠ अदेव कार्यादि में अद्वेष :-

अद्वेषश्च अमत्सरश्च अपरत्र त्वदेवकार्यादौ, तथा तत्त्वावेदितया मात्सर्यवीर्यबीजसद्भावेऽपि तद्भावांकुरानुदयात्तथाविधानुष्ठानमधिकृत्यात्र स्थितस्य हि करुणांशबीजस्यैवेषत्स्फुरणमिति।। (मित्राद्वात्रिंशिका-१ टीका)

- मित्रा दृष्टि के साधक को अदेव कार्यादि में अद्वेष होता है अर्थात् द्वेष नहीं होता। अर्थात् योग मार्ग में किसी की अनुचित प्रवृत्ति देखता है तो भी उसके प्रति द्वेष नहीं होता। कोई व्यक्ति अदेवादि-कुदेवादि की पूजा करता हो तो भी उसे उसके प्रति द्वेष नहीं होता। **"हीन गुणवालों के प्रति द्वेष नहीं करना चाहिये।"** इस प्रकार तत्त्व को जानने के कारण मात्सर्य (द्वेष) की शक्ति के बीज का

सद्भाव होने के बावजूद (अर्थात् ऐसी स्थिति में दूसरे के प्रति द्वेष हो, ऐसी शक्ति के बीज आत्मा में होने के बावजूद) तत्त्व को जानने के कारण उसमें द्वेष भावों के अंकुर नहीं फूटते हैं। इसलिये इस प्रकार के अनुष्ठान करनेंवालों के प्रति (अर्थात् अधर्म में धर्म बुद्धि धारण करके किये जानेवाले अनुष्ठानो प्रति और, अनुष्ठान करनेवालों के प्रति) द्वेष नहीं होता है। परन्तु यहां स्थित मित्रा दृष्टि के साधक में उन जीवात्माओं के प्रति करुणा के बीज प्रस्फुटित होते हैं अर्थात् उन जीवात्माओं के प्रति उसमें करुणा भाव उत्पन्न होता है। संक्षेप में, मित्रा दृष्टि का साधक स्वयं के अंदर दूसरों के प्रति द्वेष करनेवाले बीज होने के बावजूद भी भव स्थिति-कर्म स्थिति को अच्छे से जानने के कारण और अन्य पर द्वेष करने से मेरी ही मनोवृत्ति मलीन होगी, यह जानने के कारण दूसरों की अनुचित प्रवृत्ति देखकर भी उनके प्रति द्वेष नहीं करता है। बल्कि उनके प्रति उसमें करुणा ही होती है।

मित्रा दृष्टि के साधक में देव-गुरु के प्रति राग होता है। जो लोग देव-गुरु की उपासना करते हैं। धर्म क्रियाएं करते हैं, उनके प्रति उसमें बहुमान भाव होता है। साथ ही जो देव-गुरु की उपासना नहीं करते हैं और धर्म क्रियाएं नहीं करते हैं अथवा स्वयं से हीन स्तर पर हैं, उनके प्रति वह द्वेष भी नहीं करता है। क्योंकि वह तत्त्व को जानता है। दूसरे के प्रति द्वेष की शक्ति आत्मा में निहित होने के बावजूद भी वह तत्त्व को जानता है, इसलिये उसके द्वेष रूपी बीज से अंकुर प्रस्फुटित नहीं होते हैं। **दूसरा कारण यह है कि,** मित्रा दृष्टि का साधक अपनी धर्म क्रियाओं में रत रहता है। इसलिये उसे दूसरों की चिंता नहीं होती है। कदाचित् मन बाहर भटके और दूसरों के जीवन में झांके तो भी दूसरों की जीवन-धर्म क्रिया अपने से श्रेष्ठ होने पर उसके प्रति ईर्ष्या नहीं होती है, बल्कि गुणानुराग होता है और दूसरों की जीवन-धर्म क्रिया स्वयं से हीन स्तर की हो तो द्वेष नहीं होता है, बल्कि उनके प्रति करुणा भाव ही पैदा होता है।[3]

मित्रा दृष्टि में गुण की इच्छा पैदा होती है। जिससे उसमें गुणानुराग पैदा होता

है। गुण दृष्टि पैदा होती है। किसी भी व्यक्ति में छोटे से छोटा गुण देखकर भी उसका हृदय उसके समक्ष नत-मस्तक हो जाता है। साथ ही दोष दृष्टि नष्ट हो जाती है। इसलिये दूसरों के दोष देखने के बावजूदभी उसे उनके प्रति द्वेष नहीं होता है। गुणानुराग के बिना योग मार्ग में प्रवेश नहीं हो सकता है। प्रथम दृष्टि में गुणानुराग प्राप्त हो जाता है। इसलिये कम गुणवाले के प्रति कभी द्वेष नहीं होता है। क्योंकि, साधक सोचता है कि, कम तो कम लेकिन उसमें गुण तो हैं न !।

➠ पांच योग बीजों का स्वीकार :-

करोति योगबीजानामुपादानमिह स्थितः।
अवन्ध्यमोक्षहेतूनामिति योगविदो विदुः।।२२।।

- मित्रा दृष्टि का साधक मोक्ष के अवन्ध्य (सफल) कारणभूत योग के बीजों को कर्तव्य मानकर स्वीकार करता है, ऐसा योग के जानकारों का कहना है।

मित्रा दृष्टि में असद् आग्रह निवृत्त होने के कारण सद्गुरु का संसर्ग हो जाए और उनके श्रीमुख से जिनवचन सुनने को मिले तो (इस दृष्टि का साधक) सुने हुए योग बीजों को ग्रहण करता है। क्योंकि, इस दृष्टि के साधक का ऐसा ही स्वभाव होता है।[4] अर्थात् सद्गुरु से भेंट हो जाए और सद्गुरु वीतराग तथा सद्गुरु के स्वरूप आदि को बताएं तो साधक में उनके प्रति संशुद्ध भक्तिभाव जागृत होता है और संसार का स्वरूप समझाएं तो संसार के प्रति उद्वेगभाव प्रकट होता है, इस प्रकार का मित्रा दृष्टि के साधक का (मिथ्यात्व मोहनीय कर्म के क्षयोपशम के कारण उत्पन्न) स्वभाव होता है।

पांच योग बीज इस प्रकार हैं -

(१) श्री जिनेश्वर परमात्माओं के विषय में **संशुद्ध कुशलचित्त** (मन-वचन-काया से संशुद्ध भक्ति।),

(२) भावाचार्य भगवंतों की **संशुद्ध वैयावच्च,**

(३) **सहज भव वैराग्य,**

(४) द्रव्य से **अभिग्रह का पालन** और

(५) विधिपूर्वक शास्त्रों का **लेखनादि।**

अब योग दृष्टि समुच्चय ग्रंथ के आधार पर क्रमशः इन प्रत्येक योग बीज के विषय में चर्चा करेंगे।[5]

(१) प्रथम योग बीज-श्री जिनेश्वरों के विषय में संशुद्ध कुशलचित्त :

जिनेषु कुशलं चित्तं, तन्नमस्कार एव च।
प्रणामादि च संशुद्धं, योगबीजमनुत्तमम्।।२३।।

- श्री जिनेश्वर परमात्मा के प्रति मन से प्रेम, भक्ति और बहुमान-भाव रखना चाहिये। मन की प्रीति आदिपूर्वक उनकी स्तवना करनी चाहिये और काया से पंचांग प्रणिपात-प्रणाम करना चाहिये, उनकी प्रदक्षिणा करनी चाहिये। मन-वचन-काया की कुशल प्रवृत्ति, यदि संशुद्ध हो तो **योग बीज** (मोक्ष से जोड़नेवाले अनुष्ठान (योग) का कारण) कहलाता है।

जो मोक्ष से जोड़े उसे योग कहा जाता है और योग के कारण को **योग बीज** कहा जाता है। श्री जिनेश्वर के विषय में संशुद्ध मन-वचन-काया की प्रवृत्ति को **योगबीज** कहा जाता है। **यहां याद रखना चाहिये कि,** मित्रादृष्टि के किसी साधक में श्री जिनेश्वर परमात्मा के प्रति मन, वचन, काया, ये तीनों प्रकार से संशुद्ध भक्ति होती है। जबकि किसी साधक में मात्र मन से परमात्मा के प्रति प्रेम, बहुमान-भाव, उनकी मानसिक स्तवना आदि हो सकती है। उनमें वाग्योग व काययोग की कुशल प्रवृत्ति न हो तो भी योगबीज होता है। हां, मन से परमात्मा के प्रति प्रीति आदि न हो तथा मात्र वचन से अथवा काया से ही भक्ति की जाती हो तो वह योगबीज नहीं बन पाती है।

प्रश्न :

वह कुशल प्रवृत्ति को यहां 'संशुद्ध' विशेषण क्यों दिया गया है ?

उत्तर : असंशुद्ध कुशल प्रवृत्ति की बादबाकी करने के लिये दिया गया है। असंशुद्ध कुशल प्रवृत्ति (मोक्ष के कारण) योग का कारण नहीं बन सकती है और इसलिये वह योग बीज नहीं है, यह दर्शाने के लिये ही **'संशुद्ध'** विशेषण प्रयोग किया गया है। यद्यपि असंशुद्ध कुशल चित्त यथाप्रवृत्तिकरण के सामर्थ्य से ग्रंथि देश में आकर आत्मा ने अनंत बार प्राप्त किया है। फिर भी इससे आत्मा को मिथ्यात्वसंसार से छुटकारा नहीं मिल पाया है। क्योंकि, उस समय तथाभव्यत्व का परिपाक न होने से आत्मा में मिथ्यात्व की तीव्र कड़वाहट (तीव्रता) व्याप्त थी। इसलिये शुद्ध परिणाम प्रकट ही नहीं हो सके।

प्रश्न : संशुद्ध कुशल चित्तादि कैसा होता है ?

उत्तर : इसका उत्तर देते हुए योगदृष्टिसमुच्चय ग्रंथ में कहा गया है कि,

उपादेयधियात्यन्तं संज्ञाविष्कम्भणान्वितम्।
फलाभिसन्धिरहितं, संशुद्धं ह्येतदीदृशम्।।२५।।

- अत्यंत उपादेय बुद्धिपूर्वक संज्ञा के उदय (आवेग) के अभाव से युक्त, फलाभिसंधी से रहित कुशल चित्तादि **संशुद्ध** कहा जाता है।

यहां संशुद्ध के तीन विशेषण दिये गये हैं। (१) श्री जिनेश्वरों के प्रति अत्यंत उपादेय बुद्धि, (२) संज्ञा के उदय (आवेग) का अभाव (आलोक के सुख की आशंसा अथवा गतानुगतिकता का अभाव) तथा (३) फलाभिसंधि से रहित। (परलोक के सुख की आशंसा से रहित)।

इस जगत में देव-गुरु-धर्म ही एकमात्र हितकारी हैं और विषय-कषाय आदि पूर्णतः अहितकारी हैं। जब ऐसा सम्यग्ज्ञान प्राप्त होता है, तब आत्मा में देव-गुरु-धर्म के प्रति उपादेय भाव पैदा होता है और विषय सुखादि के प्रति सहज हेय भावना पैदा होती है। सम्यग्ज्ञान के कारण श्री जिनेश्वरों के प्रति जो उपादेय भाव पैदा होता है, वह संशुद्ध चित्त का लक्षण है।

यहां **'उपादेय भाव'** के आगे **'अत्यंत'** पद रखा है। **इसका फलितार्थ यह है**

कि, दुःखों अथवा दुर्गति के भय से श्री जिनेश्वरों के प्रति उपादेय भाव पैदा हो, तो वह संशुद्ध नहीं होता है। बल्कि विषय-कषाय रूपी संसार सारहीन लगे और यह संसार अब चाहिये ही नहीं, ऐसे भावपूर्वक उपादेय भाव पैदा हो तो वही संशुद्ध होता है।[5] मित्रा दृष्टि के साधक के पास आंशिक ज्ञान गर्भित वैराग्य होता है। क्योंकि, उसमें सम्यग्ज्ञान का प्रादुर्भाव होता है। विषय-कषाय व रागादि दोष बुरे लगने लगें और ज्ञानादि गुण उपादेय लगने लगें तो ही समझना चाहिये कि प्राप्त सम्यग्ज्ञान सच्चा है। सम्यग्ज्ञान हमारे ज्ञानादि गुणों के कारण-प्रापक श्री जिनेश्वरों के प्रति उपादेय भाव पैदा करवाता है।

आत्मा में व्याप्त अनादिकालीन पौद्गलिक वासना के बल को संज्ञा कहा जाता है। वह नाम की तरह आत्मा में आरूढ़ होती है। इस पौद्गलिक वासना के बल का उदय होने से संसार सुख, सुख के साधन तथा धन-संपत्ति (परिग्रह) की तृष्णा पैदा होती है। इस तृष्णा की पुष्टि के लिये की जानेवाली भगवान की भक्ति संशुद्ध नहीं होती है। मित्रादृष्टि का साधक संसार-संसार सुख की भयंकरता को अच्छे से समझता है, इसलिये धर्म करते समय संज्ञा के उदय को टालकर धर्म करता है। **उसे संप्राप्त हेय-उपादेय का विवेक ही संज्ञा के आवेग को टालने में सहायक बनता है।**

योगदृष्टिसमुच्चय में संज्ञा दस प्रकार की बताई गई है। (१) आहार संज्ञा, (२) भय संज्ञा, (३) मैथुन संज्ञा, (४) परिग्रह संज्ञा, (५) क्रोध संज्ञा, (६) अभिमान संज्ञा, (७) माया संज्ञा, (८) लोभ संज्ञा, (९) ओघ संज्ञा और (१०) लोक संज्ञा।

मिथ्याज्ञान जनित असद् संस्कारों के कारण आत्मा में पौद्गलिक वासना का बल डेरा जमाए हुए है। मिथ्याज्ञान आत्मा से सर्वथा भिन्न पदार्थों में सुख का आभास कराता है और मन से उसमें निरंतर रमण कराता है। इससे आत्मा में असद् संस्कारों का सिंचन होता है। इन संस्कारों का उदय होने से पौद्गलिक

वासनाएं उत्पन्न होती हैं। इनके बल से आहारादि की तीव्र आशंसा पैदा होती है। मित्रा दृष्टि के साधक को संप्राप्त बोध से संसार सुख में अनिष्टता के दर्शन होने के कारण वह संसार सुख के लिये (आहारादि की आशंसा की पुष्टि के लिये) धर्म नहीं करता है। संज्ञा के उदय में संसार सुख की इच्छा होती है, परन्तु धर्म करते समय मित्रा दृष्टि के साधक का ध्येय भौतिक इच्छाओं को मारकर आध्यात्मिक विकास करना होता है। इसलिये वह संज्ञा के उदय को अच्छी तरह से टालने के बाद ही धर्म करता है।

इसीलिये मित्रा दृष्टि का साधक आहारादि की लालसा को पोषण देने के लिये, भयादि को दूर करने के लिये, वैषयिक-सुखों की प्राप्ति और परिग्रह की मूर्च्छा के पोषण के लिये धर्म नहीं करता है। इसी प्रकार क्रोध, अभिमान, माया और लोभ यह कषायों की पुष्टि के लिये भी धर्म नहीं करता है। इसके अतिरिक्त लोक संज्ञा अथवा ओघ संज्ञा के अधीन होकर गतानुगतिकता या लोकरंजन के लिये भी धर्म नहीं करता है। मित्रा दृष्टि के साधक को आध्यात्मिक विकास करना होता है (इसके लिये ही श्री जिनेश्वर की भक्ति आदि करता है।) इसमें उसे संज्ञा के उदय से उत्पन्न हुई पौद्गलिक आशंसाएं बाधक लगती हैं। इसलिये वह उन आशंसाओं को मारकर ही धर्म करता है।

मित्रा दृष्टि का साधक जैसे आलोक के सुख के लिये धर्म नहीं करता है, वैसे ही परलोक के सुख के लिये भी धर्म नहीं करता है। क्योंकि, उसे भौतिक सुखों में दुःख के दर्शन होते हैं और वे भौतिक सुख घातक लगते हैं। इसलिये उसे जैसे आलोक के भौतिक सुखों में अनिष्टता के दर्शन होते हैं, वैसे ही परलोक के देवलोकादि के सुखों में भी अनिष्टता के ही दर्शन होते हैं और देवलोकादि के सुख उसे और अधिक घातक लगते हैं। इसलिये धर्म करते समय मित्रा दृष्टि का साधक आलोक अथवा परलोक के सुखों की इच्छा नहीं रखता है।

आलोक अथवा परलोक के सुखों की स्पृहा से किये जानेवाले धर्म में परिशुद्धता का अभाव होता है। इसलिये ऐसा धर्म साक्षात् अथवा परम्परा से भी मोक्ष प्राप्ति का कारण नहीं बन पाता है। भवभोग की निःस्पृहतापूर्वक मोक्ष के आशय से ही धर्म किया जाए तो वही परिशुद्ध होने के कारण साक्षात् और परम्परा से मोक्ष का कारण बनता है।[6] यद्यपि भौतिक सुखों की आशंसा से किया जानेवाला धर्म अच्छा नहीं होता है - खराब होता है। क्योंकि, इस प्रकार के धर्म से प्राप्त होनेवाले सुख बहुत आसक्तियां कराते हैं।[15] इससे आत्मा अनेक पापों में पड़ती है। यद्यपि आसक्तियां आत्मा को रोककर रखती है, आगे नहीं बढ़ने देती हैं। इसलिये आलोक-परलोक की आशंसा से रहित धर्म ही मोक्ष का कारण होता है। **भवभोग की निःस्पृहतापूर्वक धर्म ही योग का निष्पादक बनता है।**[7]

प्रश्न : आपने धर्म करते समय ही परिशुद्धता की बात की है, ऐसी परिशुद्धता अभिन्न ग्रंथिक मिथ्यात्वी आत्मा को कैसे प्राप्त हो सकती है ?

उत्तर : मित्रा दृष्टि का साधक (ग्रंथिभेद रहित) अभिन्न ग्रंथिक मिथ्यात्वी होने के बावजूद भी चरम यथाप्रवृत्तिकरण के सामर्थ्य से विशिष्ट कोटि के मिथ्यात्व मोहनीय कर्म का क्षयोपशम करता है और सम्यग्दर्शन के अभिमुख होता है। इसलिये सम्यग्दर्शन की उपस्थिति में जैसे भाव उत्पन्न होते हैं, ऐसे भाव सम्यग्दर्शन के अभिमुख साधक को भी प्रथम दृष्टि में चरम यथाप्रवृत्तिकरण के सामर्थ्य से प्राप्त होते हैं। जैसे सराग संयमी मुनि साधना करते हुए अप्रमत्त भाव को स्पर्श करते हैं, तब (सत्ता में रागादि विद्यमान होने के बावजूद भी रागादि का सर्वथा उच्छेद न होने के बावजूद भी) जैसे वीतराग की समान अनुभूति करते हैं, वैसे ही चरम यथाप्रवृत्तिकरण के सामर्थ्य से आत्मा को सम्यग्दृष्टि की भांति परिशुद्धि प्राप्त होती है और श्री जिनेश्वरों के विषय में संशुद्ध कुशलचित्त प्राप्त होता है।[8] **यहां स्मरण रहे कि, सम्यग्दृष्टि के परिशुद्ध परिणाम तीव्र** और **स्थिर कोटि के होते हैं। क्योंकि, उसमें तीव्र संवेगभाव**

होता है। जबकि मित्रा दृष्टि के साधक में परिशुद्ध परिणाम मंद कोटि के होते हैं, क्योंकि, उसमें सम्यग्दृष्टि जितना तीव्र संवेगभाव नहीं होता है।

दूसरी एक बात स्मरण रखनी चाहिये कि, आत्मा ने यथाप्रवृत्तिकरण के सामर्थ्य से ग्रंथि देश में आकर प्रायः अनंत बार श्री जिनेश्वर परमात्माओं की विविध प्रकार से भक्ति की होगी और उस समय शुभ भाव भी प्रवर्तमान होंगे। परन्तु वे शुद्ध भाव नहीं होंगे। क्योंकि, आत्मा के मिथ्यात्व का प्रगाढ़ उदय प्रवर्तमान होने से संसार के प्रति विमुखता और मोक्ष मार्ग की सन्मुखता प्राप्त नहीं होती है।

मोक्ष मार्ग की दिशा में अवक्र परिणाम ही महत्त्वपूर्ण शुद्ध भाव है। जब चरम यथाप्रवृत्तिकरण के सामर्थ्य से आत्मा का योगदृष्टि में प्रवेश होता है तब उसे मोक्षमार्ग की दिशा में अवक्र परिणाम प्राप्त होता है। (मोक्षमार्ग का अनुसरण करनेवाले परिणाम को अवक्र कहते हैं।) इस शुद्धभाव के कारण वीतराग परमात्मा की पूजा करते समय वीतराग भाव प्राप्त करने का यत्न (पुरुषार्थ) स्फुरित होता है। इससे भक्ति संशुद्ध होती है।

मात्र शुभ परिणामों से किया जानेवाला धर्म पुण्य का कारण बनता है, परन्तु मोक्ष का कारण नहीं बनता है। जबकि शुद्ध परिणामपूर्वक किया जानेवाला धर्म ही मोक्ष का कारण बनता है। हालांकि उत्तम कोटि के शुद्ध परिणाम तो ग्रंथिभेद करने के बाद सम्यग्दर्शन की उपस्थिति में होते हैं। तो भी प्रथम दृष्टि में प्राप्त होनेवाले शुद्ध परिणामों ने आत्मा को सम्यग्दर्शन के अभिमुख बनाया है। **कषायों की जैसे-जैसे हानि होती है, वैसे-वैसे परिणाम शुद्ध होते हैं। शुद्ध परिणामपूर्वक धर्म से कुशलानुबंधी पुण्य का बंध और सानुबंध निर्जरा होती है।**

➞ प्रथम योग बीज की प्राप्ति होती है तब मन के परिणाम कैसे होते हैं, यह दर्शाते हुए अन्य योगाचार्यों ने कहा है कि,

यथाहुर्योगाचार्याः-''योगबीजचित्तं भवसमुद्रमग्नस्येषदुन्मज्जनाभोगः तत्सक्त्यतिशयशैथिल्यकारी प्रकृतेः प्रथमविप्रियेक्षा तदाकूतकारिणीमुज्जा-समागमोपायनचेतस्तदुचितचिन्तासमावेशकृद् ग्रन्थिपर्वतपरमवज्रं नियमात्तद्भेदकारी भवचारकपलायनकालघण्टा तदपसारकारिणी समासेनेत्यादि'' । (यो. दृ. समु. - २५ / टीका)

(१) योगबीज संसारसमुद्र में डूबी आत्मा को अंशतः ऊपर आने का यत्न स्वरूप है। अभी तक आत्मा संसार-संसार सुख, संसार सुख के साधनों को ही सार मानती थी। तथाभव्यत्व के परिपाक से मिथ्यात्व मंद होने के कारण एक तरफ संसार के अंग तथा दूसरी तरफ आत्मा, आत्मा के गुण आदि को वह तत्त्व की दृष्टि से देखने लगता है। इससे उसे सार और सारहीनता का विवेक प्राप्त होता है। संसार सारहीन लगता है और आत्मा के गुण सारभूत लगने लगते हैं। इसलिये सारभूत को प्राप्त करने का प्रयत्न प्राप्त होता है और यही भवसागर में डूबी आत्मा के लिये अंशतः ऊपर आने का प्रयत्न स्वरूप है। जो वस्तु अभिलषित वस्तु देने में समर्थ है, वही सारभूत है और जो वस्तु अभिलषित वस्तु देने में असमर्थ है, वह सारहीन है। **आत्मा को जनम-जनम से स्थिरता और विश्रांति की तलाश है। मिथ्यात्व के प्रगाढ़ उदय में प्रवर्तमान आत्मा को अपनी अभिलाषा की पहचान नहीं होती है। वह तो मोह के आवेग में बहती है। जिससे (आत्मा को अभिलषित) स्थिरता एवं विश्रांति मिलना दुष्कर हो जाए, ऐसे भोगों में सर्वस्व के दर्शन करती है और उनसे ही सुख प्राप्ति के लिये प्रयत्न करती है।** मिथ्यात्व मंद होने से आत्मा को अपने आत्म स्वरूप, उसकी सच्ची अभिलाषा और इच्छापूर्ति का सच्चा मार्ग, इन सबका ज्ञान हो जाता है तथा सार-सारहीन तत्त्वों का विवेक प्रकट हो जाता है और सारहीनता से मुक्त होकर सार को पाने का प्रयत्न स्वरूप योग बीज प्राप्त होता है।

(२) संसार की शक्तियां अतिशय शिथिल हो जाती हैं। योग बीज संसार

की शक्ति को अतिशय शिथिल करता है। **भवशक्ति अर्थात् संसार की आसक्तियां।** मिथ्यात्व के प्रगाढ़ उदय में भवशक्ति अतिशय उल्लसित होती है। मिथ्यात्व मंद होने से यह भवशक्ति अतिशय शिथिल हो जाती है। पूर्व में आत्मा में संसार की तीव्र आसक्ति थी। यहां तक पहुंची आत्मा की आसक्तियां अत्यंत शिथिल हो जाती हैं। (भवशक्ति का कर्मशक्ति भी अर्थघटन किया जा सकता है -) पूर्व में कर्मशक्ति अत्यंत मजबूत थी। इसलिये वह जबरदस्ती आत्मा को असद्मार्ग पर ले जाती थी। यहां कर्मशक्ति शिथिल हो गई है। इसलिये आत्म स्वरूप का अंशतः प्रकटीकरण होने से आत्म स्वरूप के अनुकूल आत्मा में आंतरिक प्रयत्न प्रवृत्त होता है, जो भविष्य में योग की प्राप्ति करवाकर मोक्ष से योजन कराता है।

(३) पहली बार प्रकृति (भव शक्ति का सर्जन करनेवाले कर्म) के प्रति घृणित दृष्टि पैदा होती है। अभी तक आत्मा की दृष्टि संसार, संसार सुख व पुण्य कर्म के प्रति मधुर थी। परन्तु यहां पहुंचने के बाद आत्मा को ज्ञात हो जाता है कि, मुझे विभाव दशा में ले जाकर जन्म-मृत्यु की दुःखद परम्परा का सर्जन करनेवाले यही हैं। इसलिये उनके प्रति उसकी दृष्टि घृणित हो जाती है।

(४) योग बीज प्रकृति (कर्म) के अभिप्राय का अनुसरण करनेवाली सांसारिक प्रवृत्तियों का नाश स्वरूप है अर्थात् अभी तक आत्मा कर्म के सामर्थ्य तले प्रवृत्ति करके स्वयं को मलीन करती थी अर्थात् मोह के अधिकार तले प्रवृत्ति करके स्वयं को कर्ममल से लिप्त करती थी। यहां पहुंचने के बाद आत्मा से उसका अधिकार हट जाने से उसके बल तले प्रवृत्ति करने की आवश्यकता नहीं रहती है। बल्कि आत्मा मोह के अधिकार तले की प्रवृत्ति का नाश करके आत्म वीर्य के आंशिक शुद्ध प्रवर्तनपूर्वक योग की प्रवृत्ति करने के लिये समर्थ बनता है।

(५) योग बीज का चित्त-मन आगम वचन का अनुसरण करनेवाला

अवक्र परिणामवाला बन जाता है। आत्मा को यहां भवसागर से पार करनेवाले आगम वचन का अनुसरण करनेवाला अवक्र परिणामवाला चित्त प्राप्त होता है।

(६) यहां आत्मा को भवसागर से कैसे पार लगाया जाए और इसके लिये आगम का बोध कैसे प्राप्त किया जाए, इस प्रकार का उचित विचार प्राप्त होता है। यहां पहुंचे साधक में संसार के कारण, फल व स्वरूप तथा संसार नाश के कारण, फल व स्वरूप को जानने के उचित विचार प्रकट होते हैं और इस जिज्ञासा को शांत करने के लिये आगम का बोध प्राप्त करने का विचार भी प्रकट होता है।

(७) संसार व कर्म पर घृणित दृष्टि, संसार की प्रवृत्तियों का नाश करने का सामर्थ्य, संसार से बाहर निकलने का प्रयत्न, मन का अवक्र परिणाम, उचित विचार, मन के ये सभी परिणाम ग्रंथि रूपी पर्वत को भेदनेवाले वज्र के समान हैं। (ग्रंथि का स्वरूप आगे दर्शाया गया है।)

(८) ये परिणाम नियम से ग्रंथिभेद करते हैं और सम्यग्दर्शन की प्राप्ति *करवाते हैं।*

(९) इस प्रकार का मन भव रूपी जेल से मुक्ति के लिये काल घंट समान है अर्थात् यह सुभग अवस्था भव रूपी जेल से मुक्ति का समय दर्शानेवाला घंट समान है।

(१०) यह काल घंट भव से मुक्त करता है अर्थात् अब आत्मा जल्द से जल्द संसार से मुक्त होनेवाली है, यह दर्शाता है।

इस प्रकार प्रथम योगबीज मोक्ष रूपी फल को पकाने का प्रारम्भ समान है। भविष्य में जिस मोक्ष रूपी फल की प्राप्ति होनेवाली है, उसकी शुरुआत प्रथम योगबीज को प्राप्त करने से होती है। **प्रथम योगबीज श्रेष्ठतम है।** क्योंकि, इसमें भक्ति का विषय स्वयं तीर्थंकर परमात्मा हैं। तीर्थंकर परमात्मा की भक्ति मुक्ति की दूत है। यह संशुद्ध भक्ति प्राप्त होने से यह सुनिश्चित हो जाता है कि

अब अल्प काल में आत्मा की मुक्ति होनेवाली है।

➠ दूसरा योगबीज - भावाचार्यादि की संशुद्ध वैयावच्च :-

आचार्यादिष्वपि ह्येतद्विशुद्धं भावयोगिषु।
वैयावृत्त्यं च विधिवच्छुद्धाशयविशेषतः।।२६।।

- (मित्रा दृष्टि के साधक को) भावयोगी आचार्य भगवंतादि के विषय में भी संशुद्ध कुशल चित्त आदि प्राप्त होता है और इन भावयोगियों की विधिपूर्वक शुद्ध चित्त से (अर्थात् भौतिक आशंसा रहित शुद्ध चित्त के परिणामो से) वैयावच्च प्राप्त होती है।

प्रथम दृष्टि में जैसे श्री जिनेश्वरों के प्रति संशुद्ध प्रेम, भक्ति, बहुमानभाव आदि प्राप्त होते हैं, वैसे ही सद्गुरु भगवंतों के प्रति भी प्रेम, भक्ति और बहुमान भाव आदि प्राप्त होते हैं। इससे साधक को भावयोगी पू. आचार्य भगवंतादि की वैयावच्च करने का मन होता है और वे वैयावच्च करते भी हैं।

मित्रादृष्टि के साधक में आध्यात्मिक विकास की तीव्र इच्छा जागृत होती है, इसलिये जैसे आध्यात्मिक विकास का मार्ग दर्शानेवाले तथा आध्यात्मिक विकास की पूर्णता को प्राप्त करनेवाले श्री जिनेश्वरों के प्रति संशुद्ध भक्ति प्रकट होती है, वैसे ही आध्यात्मिक विकास के मार्ग पर काफी प्रगति करनेवाले और उस मार्ग के गहन रहस्यों को समझानेवाले भावयोगी पू. आचार्य भगवंतादि के प्रति भी संशुद्ध भक्ति प्रकट होती है और भावयोगियों के पास जो गुण वैभव, अभिग्रह, नियम, महाव्रतादि आध्यात्मिक विकास के अंग हैं, वे स्वयं को भी संप्राप्त हों, ऐसे शुद्ध आशय से वे उनकी विधिपूर्वक वैयावच्च करते हैं।

ग्रंथकार ने 'भाव योगी' पद लिखकर स्पष्ट किया है कि, भाव योगी पू. आचार्य भगवंतादि के प्रति कुशल चित्तादि व उनकी वैयावच्च योग बीज है। द्रव्याचार्यादि की वैयावच्च योगबीज नहीं है। क्योंकि, अधर्मों से युक्त द्रव्याचार्यादि की वैयावच्च आध्यात्मिक विकास की कारण नहीं बनती है, बल्कि आध्यात्मिक

विकास में अवरोधक कर्मबन्ध की कारण बनती है। **नकली में असली की बुद्धि अच्छी नहीं है और विपरीत बुद्धि अनिष्ट फल ही देती है।** इसलिये पू. भावाचार्यादि की वैयावच्च ही योगबीज है, यद्यपि वृद्ध, युवा, अधेड़, बाल आदि पुरुषों को ध्यान में रखकर उन्हें प्रायोग्य वैयावच्च करनी है। इसके अलावा यह वैयावच्च शुद्ध मन के प्रबंधपूर्वक करनी है अर्थात् भौतिक आशंसा के बिना बहुमान भावपूर्वक मन के उत्साह से करनी है। **(श्लाघनाद्यसदाशंसापरिहारपुरस्सरम् । वैयावृत्त्यं च विधिना तेष्वाशयविशेषतः ।।१४।। (मित्रा द्वात्रिंशिका))**

→ (३) तीसरा योग बीज - सहज भववैराग्य[9] :-

मित्रा दृष्टि के साधक को सहज भववैराग्य प्राप्त होता है। संसार की निर्गुणता के ज्ञानपूर्वक संसार से जो सहज वैराग्य होता है वह **"सहज भव वैराग्य"** नामक तीसरा **योग बीज** है।

संसार जन्म-मृत्यु की परम्परा से व्याप्त है। संयोग वियोगवाला है। संपत्ति चंचल है। परिवारजन स्वार्थ परायण हैं। विषय दुःख के कारण हैं। मृत्यु प्रतिक्षण निकट आ रही है। कर्म के दुष्परिणाम दारुण हैं। कषायों की पराधीनता घातक है। संसार की कोई अवस्था स्थिरता और विश्रांति प्रदान करने में सक्षम नहीं है। विषय-कषाय आत्मा के स्वरूप को लूटते हैं - इस प्रकार की संसार की निर्गुणता के बोधपूर्वक संसार के प्रति जो वैराग्य पैदा होता है वह योगबीज है। यहां स्मरण रखना चाहिये कि, वर्तमान में आ पड़े दुःखों के द्वेष से संसार के प्रति जो उद्वेग भाव पैदा होता है, वह सच्चा वैराग्य नहीं है और ऐसा वैराग्य योगबीज भी नहीं होता है।

प्रथम दृष्टि में ही अंशतः ज्ञानगर्भितवैराग्य का प्रारम्भ होता है। (जिसके गर्भ में ज्ञान है, ऐसे वैराग्य को **ज्ञानगर्भित वैराग्य** कहा जाता है।) साधक जैसे-जैसे तत्त्व चिंतन करता है, वैसे-वैसे उसका वैराग्य दृढ़ होता है। इसके बाद उसे संसार के सुहाने संयोग भी दुःखदायी लगते हैं और संसार सुख विष समान

अनुभव होते हैं।

→ (४) चौथा योग बीज - द्रव्य अभिग्रहों का पालन[10] :-

मित्रा दृष्टि का साधक जीवन में यथाशक्ति छोटे-बड़े अभिग्रहों को स्वीकार करता है और उनका सुंदर ढंग से पालन करता है। इस दृष्टि में अभी मिथ्यात्व उपस्थित होने के कारण भावपूर्वक अभिग्रहों का पालन नहीं होता है। भावाभिग्रहों के पालन के लिये मोहनीयादि कर्मों का विशिष्ट क्षयोपशम होना चाहिये। ऐसा विशिष्ट क्षयोपशम यहां पर न होने से द्रव्य अभिग्रहों का पालन होता है। मित्रा दृष्टि के साधक को सहज भववैराग्य प्राप्त हुआ है, जिससे आध्यात्मिक विकास सिद्ध करके मुक्ति प्राप्त करने की अभिलाषा होती है। इसलिये वह संसार में बांधे रखनेवाले विषय-कषाय के बंधनों को तोड़ने के लिये छोटे-बड़े अभिग्रह स्वीकार करता है।

मित्रा दृष्टि के साधक को द्रव्य अभिग्रहों का पालन करके भावाभिग्रहों को प्राप्त करना होता है और भावाभिग्रहों के पालन से संसार के बंधनों को काटना होता है। इसलिये अपने जीवन में जल्दी से अभिग्रहों के पालन का सामर्थ्य-योग्यता प्रकट करने के लिये वह भावाभिग्रहों के स्वामी भावयोगियों को औषधादि दान करता है। इसी बात को **योग दृष्टि की सज्झाय** में इस प्रकार कहा गया है -

"द्रव्य अभिग्रह पालवा औषध प्रमुखने दाने रे।"

→ (५) पांचवां योग बीज - विधिपूर्वक शास्त्रों का लेखनादि[11] :-

मित्रा दृष्टि का साधक सत्शास्त्रों का लेखनादि करता है, यह योग बीज है। मित्रा दृष्टि के साधक में जैसे देव-गुरु-धर्म के प्रति भक्ति प्रकट होती है, वैसे ही श्री जिनेश्वरों के वचन स्वरूप जिनागमादि सत्शास्त्रों के प्रति भी भक्ति प्रकट होती है। जैसे श्री जिनेश्वर कल्याणकारी लगते हैं, वैसे ही शास्त्र भी कल्याणकारी लगते हैं। इससे लेखनादि की प्रवृत्ति होती है।

यह योग बीज भी प्रथम योग बीज की भांति सर्वोत्तम - सर्वश्रेष्ठ है। क्योंकि, शास्त्रों में भी श्री जिनेश्वर जितनी ही तारने की शक्ति होती है। वास्तव में तरने का परम आलंबन जिनवचन ही है। जिन के प्रति भक्ति हो और जिनवचन के प्रति भक्ति न हो तो तरना असंभव है। इसलिये आध्यात्मिक विकास के इच्छुक को शास्त्र परम आधार प्रतीत होते हैं और ये शास्त्र स्वयं को प्राप्त हों तथा जगत के जीवात्माओं को भी प्राप्त हों, ऐसे उदात्त आशय से वह लेखनादि की प्रवृत्ति करता है। लेखनादि में किसका संग्रह करना है, यह दर्शाते हुए कहा गया है कि,

लेखना पूजना दानं, श्रवणं वाचनोद्ग्रहः।
प्रकाशनाथ स्वाध्यायश्चिन्तना भावनेति च ।।२८।।

(१) शास्त्रों का लेखन :- शास्त्र लिखना, **(२) शास्त्रों की पूजा :-** पुष्प आदि से शास्त्रों की पूजा करना, **(३) शास्त्रों का दान करना, (४) शास्त्रों का श्रवण करना -** व्याख्यान का श्रवण करना, **(५) शास्त्रों का वाचन करना, (६) शास्त्रों का उद्ग्रह -** सत्शास्त्रों के अर्थों को विधिपूर्वक ग्रहण करना, **(७) शास्त्रों का प्रकाशन :-** ग्रहण किये हुए अर्थों का भव्य जीवात्माओं के समक्ष प्रकाशन करना, **(८) शास्त्रों का स्वाध्याय :-** वाचना, पृच्छना, परावर्तना, धर्मकथा, अनुप्रेक्षा - ये पांच प्रकार का स्वाध्याय करना, **(९) शास्त्रों के अर्थों का चिंतन करना** और **(१०) शास्त्रों के भावों से आत्मा को भावित करना:-** ये सभी योग बीज हैं।

यहां स्मरण रखना चाहिये कि, शास्त्रों का लेखनादि एक मात्र आध्यात्मिक विकास करने के लिये ही हो, तो ही वह योग बीज बनता है। अन्यथा नहीं। मानकषायादि की पुष्टि के लिये किया जानेवाला लेखनादि योगबीज नहीं बनता है। यद्यपि पूर्वोक्त कार्यों में लेखनादि प्रवृत्ति न्याय से प्राप्त धन से ही करानी चाहिये। मित्रा दृष्टि का साधक विवेकशील होने के कारण उसे यह ज्ञात हो जाता है। इसके अलावा सत्शास्त्रों का लेखनादि ही योगबीज है, लेकिन काम शास्त्र अथवा अन्य किसी शास्त्र को लिखवाने की प्रवृत्ति

योगबीज नहीं होती है।

मित्रादृष्टि के साधक को पूर्वोक्त पांच बीज सामान्यतः प्राप्त होते हैं। हालांकि इस अवस्था को प्राप्त करनेवाले सभी जीवात्मा सभी योग बीजों का सेवन करते हों, ऐसा कोई नियम नहीं है। संयोग विशेष के कारण कम-ज्यादा बीजों का भी सेवन करते हो सकते हैं। इसके बावजूद यहां पहुंचनेवाले साधक को पांच योग बीजों की आंतरिक परिणति तो अवश्य प्राप्त हो जाती है। इसलिये जब भी सद्गुरु से योगबीज सुनने को मिलता है, तब उनके प्रति आदर-उपादेय भाव प्राप्त होता है। इसी बात को दर्शाते हुए **योगदृष्टि समुच्चय** ग्रंथ में कहा गया है कि,

बीजश्रुतौ च संवेगात् प्रतिपत्तिः स्थिराशया ।
तदुपादेयभावश्च परिशुद्धो महोदयः ।।२९।।

- सद्गुरु के श्रीमुख से योगबीजों की कथा सुनने से **संवेग** प्राप्त होता है। **"योगबीज मेरे आत्म कल्याण के परमकारण हैं और इसलिये उनका सेवन करना चाहिये।"** - इस प्रकार की **श्रद्धा** प्राप्त होती है और इस प्रकार की श्रद्धा से **"परमात्मा जिस प्रकार (आत्म कल्याण का मार्ग) दिखा रहे हैं, वह सब उसी प्रकार ही है।"** - इस प्रकार की **प्रतिपत्ति** (स्वीकार) होती है और इससे मन में स्थिर आशय प्रकट होता है। (इससे मन का प्रभु के मार्ग पर अवक्र गमन होता है और इन स्थिर परिणामों का पतन नहीं होता है।) तथा योग बीजों के प्रति **उपादेय भाव** उत्पन्न होता है और इससे **परिशुद्ध महोदय** होता है अर्थात् भौतिक फलों की आशंसा व त्वरा स्वरूप फल की उत्सुकता से रहित आत्मा का महोदय होता है - आत्मा की सद्गति की परम्परापूर्वक मुक्ति होती है। **संक्षेप में योगबीजों के श्रवण से...**संवेग-श्रद्धा की प्राप्ति होती है। योग बीज ही आध्यात्मिक विकास के कारण हैं, ऐसी श्रद्धा पैदा होती है...श्रद्धा से योगबीज स्वीकार होते हैं और मन में योग बीजों का सेवन कल्याणकारी है, ऐसा

स्थिर आशय पैदा होता है...योग बीजों के प्रति उपादेय भाव पैदा होता है... योग बीजों के प्रति उपादेय भाव से आत्मा का परिशुद्ध अभ्युदय होता है।

➠ योगावंचक योग की प्राप्ति[12] :-

इस प्रकार के मित्रा दृष्टि के साधक का देव-गुरु-धर्म से होनेवाला योग सफल होता है। देव-गुरु-धर्म की भक्ति सफल होती है। आत्मोत्थान का कारण बनती है। मित्रा दृष्टि के साधक को योगावंचक योग की प्राप्ति होती है। इससे उत्तम निमित्तों का संयोग प्राप्त होता है और इससे धर्म के प्रति स्नेह दिन-प्रतिदिन बढ़ता है। इसी बात को सुंदर शब्दों में पिरोकर योगदृष्टि की सज्झाय में कहा गया है -

''बीजकथा भली सांभली, रोमांचित हुवे देह रे,
एह अवंचक योगथी, लहिये धर्म सनेह रे। ।।१।।''

मित्रा दृष्टि के साधक को उत्कृष्ट कोटि का धर्मस्नेह प्राप्त होता है। यह धर्मस्नेह कैसा होता है और उसके प्रभाव से साधक क्या प्राप्त करता है, यह दर्शाते हुए आगे कहा गया है कि,

''चाहे चकोर ते चंद्रने, मधुकर मालती भोगी रे,
तिम भवि सहज गुणे होये, उत्तमनिमित्त संयोगी रे। ।।१३।।''

मित्रा दृष्टि के साधक को सद्गुरु के श्रीमुख से योग बीजों की कथा सुनकर अपना आत्मकल्याण का मार्ग स्पष्ट दिखाई देने लगता है। इसलिये साधक का सद्गुरु से योग सफल होता है और इसके साथ ही साधक के हृदय में कल्याणमूर्ति पावनकारी सद्गुरु के प्रति आंतरिक अहोभाव-बहुमान भाव पैदा होता है। **यही योगावंचक योग है। अभी तक सद्गुरु अनेक बार मिले थे। परन्तु उनके प्रति अहोभाव उत्पन्न नहीं होता था और उनके द्वारा निर्दिष्ट कल्याण मार्ग का बोध नहीं होता था। सद्गुरु तो कल्याण मार्ग ही बताते थे। परन्तु साधक को इसकी प्रतीति श्रद्धा नहीं होती थी। प्रथम दृष्टि में यह**

प्रतीति हो जाती है और साधक को योगावंचक योग की प्राप्ति हो जाती है।

सद्गुरु का योग जैसे सफल होता है, वैसे ही उन्हें किया जानेवाला वंदन-प्रणाम आदि भी सफल होने के कारण साधक को **क्रियावंचक योग** की प्राप्ति होती है। साथ ही सद्गुरु के सदुपदेशादि से धर्म सिद्धि के विषय में सानुबंध फल की प्राप्ति होने से **फलावंचक योग** की प्राप्ति होती है।

संक्षेप में, साधक को सद्गुरु से कल्याण मार्ग (अध्यात्म मार्ग) का सच्चा बोध प्राप्त होता है और उस पर चलकर विकास करने की अभिलाषा जागृत होती है। इसका कारण योगावंचक योग होता है। कल्याण मार्ग पर प्रगति करने के लिये सद्गुरु को वंदन-प्रणाम आदि करने की क्रियाएं करने की अभिलाषा जागृत होती है और ये क्रियाएं होती हैं, इसमें क्रियावंचक योग कारण होता है। सद्गुरु के उपदेश से गुणवान साधुओं के योग के परिणामस्वरूप सानुबंध धर्म की प्राप्ति होती है अर्थात् धर्म का स्नेह प्राप्त होता है और बढ़ता है, इसमें फलावंचक योग कारण होता है। (इन योगावंचक योग आदि तीनों योगों को अव्यक्त समाधि भी कहा जाता है - इस विषय में योग दृष्टि समुच्चय ग्रंथ में विस्तार से वर्णन किया गया है।)

पूर्वोक्त तीनों योग चरमावर्त काल में आत्मा को भावमल क्षीण हो जाने पर प्राप्त होता है। जब भावमल प्रगाढ़ होता है तब कदापि सत्प्रतीति नहीं होती है। भावमल क्षीण हो जाने के पश्चात् ही सत्प्रतीति होती है। जैसे मंद दृष्टिवाले व्यक्ति को सामनेवाला दृश्य (पदार्थ) स्पष्ट दिखाई नहीं देता है। वैसे ही भावमल की प्रगाढ़ता होती है तब पारलौकिक प्रमेय (आत्मा का कल्याण मार्ग) स्पष्ट दिखाई नहीं देता है। जैसे दृष्टि साफ होने पर दृश्य स्पष्ट दिखाई देने लगता है, वैसे ही भावमल क्षीण होने पर आत्मा को अपना कल्याण मार्ग स्पष्ट दिखाई देने लगता है।[13]

योगदृष्टि ग्रंथ में (गाथा-३७ में) अन्य उदाहरण देकर इस बात को समझाया गया है कि, जैसे शरीर की व्याधि तीव्र हो तो व्यक्ति अपने जीवन के व्यवसाय आदि कोई व्यवहार नहीं कर पाता है। क्योंकि, तीव्र व्याधि से शरीर का सामर्थ्य क्षीण हो जाता है। वही व्यक्ति व्याधि की तीव्रता घटने पर अपने जीवन के व्यवहार करने लगता है, इसी प्रकार भावमल की प्रगाढ़ता होती है, तब आत्मा आत्महितकारी कोई कार्य नहीं कर पाती है। क्योंकि, आत्मा पर मोह का आधिपत्य होने से मोह पुद्गल में ही रमण करवाता है। जब भावमल क्षीण हो जाता है, तब आत्मा पर मोह की पकड़ ढीली पड़ जाती है और आत्म स्वरूप प्रकट हो जाता है, जिससे आत्मा आत्महितकारी कार्य करने के लिये समर्थ हो जाती है।[14]

➞ **इसके अलावा भावमल क्षीण हो जाने के कारण मित्रा दृष्टि के साधक को पांच धर्म योनियों में से प्रथम धृति नामक धर्म योनि प्राप्त होती है। धर्म योनियां पांच होती हैं... धृति, श्रद्धा, सुखा, विविदिषा व विज्ञप्ति (सम्यग्दर्शन)।** ललित विस्तरा ग्रंथ में अभय, चक्षु, मार्ग, शरण तथा बोधि- ये पांच भूमिकाएं जो आत्मा को क्रमशः प्राप्त होती हैं, उनके बारे में बताया गया है। इसमें अभय को धृति के तौर पर ग्रहण करना है। प्रथम दृष्टि में खेद दोष नष्ट होने से मन की स्वस्थता प्राप्त होती है। इससे आत्म हितकारी धार्मिक प्रवृत्तियां करने का परिणाम पैदा होता है। एक मात्र धर्म ही करने योग्य है, ऐसी मन में धारणा उत्पन्न होती है और यह धारणा आत्मा को निर्भय बनाती है। इसलिये प्रथम दृष्टि में आत्मा को "मैं जल्द से जल्द मोक्ष में पहुंचनेवाला हूं।" ऐसी निर्भयता-निश्चिंतता की प्राप्ति होती है। (आगे की दृष्टि में क्रमशः एक-एक धर्म योनि प्राप्त होती है। पांचवीं दृष्टि में विज्ञप्ति (सम्यग्दर्शन) प्राप्त होती है।

उपसंहार :- संक्षेप में देखें तो.....

➞ अपुनर्बंधक अवस्था में तथाभव्यत्व के परिपाक से मिथ्यात्व मंद होने से आत्मा को प्रथम मित्रा दृष्टि की प्राप्ति होती है। अनादिकाल से आत्मा में

प्रवर्तमान ओघ दृष्टि का अंधकार नष्ट होता है और योग दृष्टि का प्रकाश प्राप्त होता है।

➞ सत्श्रद्धा से युक्त बोध को **योग दृष्टि** कहा जाता है। मिथ्यात्व मोहनीय कर्म के क्षयोपशम से संवलित ज्ञानावरणीयादि कर्मों के क्षयोपशम से प्राप्त विशेष दर्शन को **योग दृष्टि** कहा जाता है।

➞ **योग दृष्टियां आठ हैं। मित्रा, तारा, बला, दीप्रा, स्थिरा, कांता, प्रभा और परा।** प्रत्येक दृष्टि में संवेग की मधुरता बढ़ती जाती है। प्रथम चार दृष्टियां प्रतिपाती हैं। अंतिम चार दृष्टि अप्रतिपाती हैं।

➞ मित्रा दृष्टि में तिनके की अग्नि की चिनगारी जैसा बोध प्राप्त होता है। मन का **खेद** दोष नष्ट होता है। तत्त्व-अद्वेष तथा अदेव कार्यादिक में अद्वेष गुण प्राप्त होता है। योग का **'यम'** नामक अंग प्राप्त होता है। साधक पांच योग के बीज उपादेय भावपूर्वक ग्रहण करता है।

➞ मित्रा दृष्टि में खेद दोष का नाश, तत्त्व-अद्वेष गुण की प्राप्ति और यम योगांग की प्राप्ति होती है। **इन तीनों के बीच प्रगाढ़ संबंध है।** क्योंकि, जब तक खेद दोष विद्यमान होता है, तब तक तत्त्व के प्रति द्वेष भाव ही रहता है और जब तक तत्त्व के प्रति द्वेष भाव होता है, तब तक यम नामक योगांग प्राप्त नहीं होता है। खेद जाता है तो तत्त्व का द्वेष जाता है और तत्त्व का द्वेष जाता है तो यम की प्राप्ति होती है।

➞ **प्रथम दृष्टि के साधक को योगावंचक, क्रियावंचक तथा फलावंचक योग की प्राप्ति होती है। (यहां स्मरण रखना चाहिये कि परमार्थ से तो योगावंचक योग प्रथम गुण स्थानक में (प्रथम दृष्टि में) प्राप्त होता है, क्रियावंचक योग पांचवें गुण स्थानक में प्राप्त होता है। (विरति के परिणाम के बिना तात्त्विक क्रिया प्राप्त नहीं होती है।) और सातवें गुणस्थानक में फलावंचक योग की प्राप्ति होती है।)**

प्रथम दृष्टि में कारण में कार्य का उपचार करके तीनों योग के सद्भाव का व्यपदेश किया गया है।

➞ **तदुपरांत, प्रथम दृष्टि में....** तात्त्विक बोध, सत्श्रद्धा, तात्त्विक विवेक, तात्त्विक वैराग्य प्राप्त हुआ है, संसार की आसक्तियां शिथिल हो गई हैं, संसार-कर्म पर दृष्टि घृणित हो गई है, आगम का अनुसरण करनेवाला अवक्रगामी परिणाम प्राप्त हुआ है, **चरम यथाप्रवृत्तिकरण के सामर्थ्य से ग्रंथि की पहचान हुई है और ग्रंथि को भेदने का पुरुषार्थ का प्रारम्भ हुआ है, संसार से बाहर निकलने का आंतरिक पुरुषार्थ का प्रारम्भ हुआ है और भव निस्तारक विचारणा का प्रादुर्भाव हुआ है।**

➞ प्रथम दृष्टि में जिस गुणवैभव का वर्णन किया गया है, वह गुणवैभव चरम यथाप्रवृत्तिकरण में भावमल क्षीण होने से ग्रंथि भेद के निकट आई आत्मा को प्राप्त होता है।[15]

➞ **शास्त्रों में जिस गुण सम्पन्न प्रथम गुण स्थानक की विवक्षा की गई है, वह विवक्षा यहीं पर सुसंगत होती है।[24]**

➞ जैसे स्फटिक लाल व श्याम पुष्प के कारण (निर्मल होने के बावजूद भी) लाल व श्याम रूप धारण कर लेती है, वैसे ही मित्रा दृष्टि का साधक अकल्याण मित्र का संसर्ग हो जाए तो दोष को धारण कर लेता है और कल्याण मित्र समान सत्पुरुषों का संसर्ग हो जाए तो गुणों को धारण कर लेता है। इसलिये मित्रा दृष्टि के साधक को कल्याण मित्रों का ही संसर्ग करना चाहिये। जैसे औषधियों में अमृत, वृक्षों में कल्पवृक्ष मुख्य माना जाता है, वैसे ही सत्पुरुषों का संसर्ग गुणों में मुख्य माना जाता है। (मित्रा बत्तीसी-३०) **इसीलिये मित्रा बत्तीसी में कहा गया है कि,** सत्पुरुषों के संसर्ग के बिना जिन उत्तम योगों की प्राप्ति की स्पृहा करते हैं, वे नौका के बिना समुद्र को पार करने की इच्छा रखते हैं। इसलिये मित्रा दृष्टि के साधक के लिये सत्पुरुषों का संसर्ग इच्छनीय है।[17]

● **मित्रा दृष्टिवाले को प्राप्त अहिंसादि यम, यदि सत्पुरुषों के योग (संगपूर्वक) सहित सेवित हों तो शुक्लपक्ष के चंद्र की भांति योगमार्ग के अनुकूल तत्त्व की रुचि बढ़ानेवाले हैं।**[18]

● मित्रादृष्टि का साधक श्रेष्ठ सद्योग द्वारा गुणस्थानक पर आरूढ़ होकर परमानंद प्राप्त करता है।[19]

→ **टिप्पणकम्:- 1.** अहिंसासूनृतास्तेयब्रह्माकिञ्चनता यमाः । दिक्कालाद्यनवच्छिन्नाः सार्वभौमा महाव्रतम् ।।२।। **(मित्रादृष्टिद्वात्रिंशिका) 2.** अखेदोऽव्याकुलतालक्षणो देवकार्यादावादिशब्दाद् गुरुकार्यादिपरिग्रहः, तथातथोपनतेऽस्मिंस्तथापरितोषान्न खेदः, अपि तु प्रवृत्तिरेव, शिरोगुरुत्वादिदोषभाक्त्वेऽपि भवाभिनन्दिनो भोगकार्यवत् । **(मित्रादृष्टिद्वात्रिंशिका) 3.** अतोऽस्यापरत्र न चिन्ता, तद्भावेऽपि करुणांशबीजस्यैवेषत्स्फुरणमिति **(यो.दृ.समु.- २१। टीका)4.** अत्र मित्रायां दृष्टौ निवृत्तासद्ग्रहतया सद्गुरुयोगे श्रुतात् जिनप्रवचनात् श्रुतमपि योगबीजमुपादत्ते तथास्वाभाव्यात् ।।७।। **(मित्रादृष्टिद्वात्रिंशिका-टीका) 5.** उंपादेयधिया-उपादेयबुद्ध्या अत्यन्तं सर्वान्यापोहेन तथापरिपाकात् सम्यग्ज्ञानपूर्वरुपत्वेन...। **(यो.दृ.समु. - २५। टीका) 6.** एतत्समग्रयुक्ताशयानुष्ठानं सुन्दरमप्यभ्युदयाय, न निःश्रेयसावाप्तये परिशुद्ध्यभावाद्भवभोग-निःस्पृहाशयप्रभवमेतदिति । **(यो.दृ.समु. श्लो-२५ टीका) 7.** तदभिसन्धेरसुन्दरत्वात्तदुपात्तस्यास्य स्वतः प्रतिबन्धसारत्वतः । एतद्रहितं चेदमपवर्गसाधनं, स्वप्रतिबन्धसारं तु तत्स्थानस्थितिकार्यव तथास्वभावत्वात्, गौतमभगवद्बहुमानवत्, एवम्भूतस्यैव योगनिष्पादकत्वात् । **(यो.दृ.समु. श्लो - २५ टीका) 8.** एतत्त्वभिन्नग्रन्थेरपि तदैवं भवति चरमयथाप्रवृत्तिकरणसामर्थ्येन तथाविधक्षयोपशमसारत्वादप्रमत्तयतेः सरागस्यैव वीतरागभावकल्पम् । **(यो.दृ.समु. श्लो -२५ टीका) 9.** 'भवोद्वेगश्च' संसारोद्वेगश्च जन्मादिरुपतया भवत्यस्य, 'सहजो' नेष्टयोगादिनिमित्तः, तस्यार्त्तध्यानरुपत्वात् । उक्तं च - प्रत्युत्पन्नात्तु दुःखान्निर्वेदो द्वेष ईदृशः । **(यो. दृ. समु. २७ टीका) 10.** तथा द्रव्याभिग्रहपालनं औषधादिसमादानमधिकृत्य, भावाभिग्रहस्य विशिष्टक्षयोपशम-भावरुपस्याभिन्नग्रन्थेरसम्भवाद् द्रव्याभिग्रहग्रहणम् । **(यो.दृ. समु. २७ टीका) 11.** तथा सिद्धान्तमाश्रित्यार्षं न तु कामादिशास्त्राणि, किमित्याह 'विधिना' न्यायात्तधनसत्प्रयोगादिलक्षणेन किमित्याह - लेखनादि च योगबीजमनुत्तममिति ।। **(यो. दृ. समु. २७ टीका) 12.** एवंविधस्य जीवस्य, भद्रमूर्तेर्महात्मनः । शुभो निमित्तसंयोगो जायतेऽवञ्चकोदयात् ।।३३।। **(यो. दृ. समु.)**

13. एतच्च सत्प्रणामादि-निमित्तं समये स्थितम् । अस्य हेतुश्च परमस्तथा भावमलाल्पता ।।३५।। नास्मिन् धने यतः सत्सु, तत्प्रतीतिर्महोदया । किं सम्यग् रुपमादत्ते, कदाचित् मन्दलोचनः ।।३६।। **(यो.दृ.समु.) 14.** अल्पव्याधिर्यथा लोके तद्विकारैर्न बाध्यते । चेष्टते चेष्टसिद्ध्यर्थं, वृ (धृ)त्त्यैवायं तथा हिते ।।३७।। **15.** यथाप्रवृत्तकरणे, चरमेऽल्पमलत्वतः । आसन्नग्रन्थिभेदस्य, समस्तं जायते ह्यदः ।।३८।। अपूर्वासन्नभावेन व्यभिचारवियोगतः । तत्त्वतोऽपूर्वमेवेदमिति योगविदो विदुः ।।३९।। **16.** प्रथमं यद् गुणस्थानं, सामान्येनोपवर्णितम् । अस्यां तु तदवस्थायां, मुख्यमन्वर्थयोगतः ।।४०।। **(यो. दृ. समु.) 17.** मुग्धः सद्योगतो धत्ते गुणं दोषं विपर्ययात् । स्फटिको नु विधत्ते हि शोणश्यामसुमत्विषम् ।।२९।। यथौषधीषु पीयूषं द्रुमेषु स्वर्द्रुमो यथा । गुणेष्वपि सतां योगस्तथा मुख्य इहेष्यते । ।३०।। विनैनं मतिमूढानां येषां योगोत्तमस्पृहा । तेषां हन्त विना नावमुत्तितीर्षा महोदधेः ।।३१।। **(मित्रादृष्टिद्वात्रिं.) 18.** यमः सद्योगमूलस्तु रुचिवृद्धिनिबन्धनम् । शुक्लपक्षद्वितीयाया योगश्चन्द्रमसो यथा ।।२६।। **(मित्रादृष्टिद्वात्रिं.) 19.** तन्मित्रायां स्थितो दृष्टौ सद्योगेन गरीयसा । समारुह्य गुणस्थानं परमानन्दमश्नुते ।।३२।। **(मित्रादृष्टिद्वात्रिं.)**

✚✚✚

प्रकरण - ६/२ : द्वितीय तारा दृष्टि

➠ तारादृष्टि में प्रवेश :-

मित्रादृष्टि के साधक को सद्गुरु का तात्त्विक समागम होता है। उसे सद्गुरु के वचन कल्याणकारी लगते हैं। जिससे सद्गुरु का समागम फलित होता है। संप्राप्त जिनवचन के सहारे बोध थोड़ा और स्पष्ट होता है और मित्रादृष्टि का साधक तारादृष्टि में प्रवेश करता है।

➠ तारादृष्टि में बोध :-

तारायां तु बोधो गोमयाग्निकणसद्दशः, अयमप्येवंकल्प एव, तत्त्वतो विशिष्टस्थितिवीर्यविकलत्वात्, अतोऽपि प्रयोगकाले स्मृतिपाटवासिद्धेः तदभावे प्रयोगवैकल्यात्, ततस्तथा तत्कार्याभावादिति। (यो. दृ. श्लो.-१५ टीका)

- तारा दृष्टि में गोमय (गोबर) की **अग्नि की चिनगारी** समान **बोध** होता है। यह बोध भी (मित्रा दृष्टि के बोध की भांति) इच्छित कार्य करने में समर्थ नहीं। अर्थात् यह बोध अकर्तव्य से विमुख करके कर्तव्य के सन्मुख लाकर कर्तव्य में एकाग्र करने में समर्थ नहीं होता है। इसके बावजूद यह बोध साधक को कर्तव्य के सन्मुख तो लाता ही है। परन्तु अकर्तव्य से सर्वथा विमुख होकर कर्तव्य में एकाग्र होना इष्ट है, इस बोध से उस इष्ट कार्य की सिद्धि नहीं होती है।

- तारा दृष्टि का बोध परमार्थ से विशिष्ट स्थिति व विशिष्ट वीर्य (शक्ति) से विकल है अर्थात् यह बोध अधिक समय तक नहीं टिकता है और उसकी शक्ति भी अल्प है। इसलिये धर्म क्रिया के समय उसकी स्मृति जीवित नहीं रहती है। क्योंकि, आत्मा पर इस बोध के प्रगाढ़ संस्कार नहीं होते हैं। इसलिये धर्म क्रिया विकल बनती है और इससे धर्म क्रिया भावरूप नहीं बनती है। बल्कि द्रव्य रूप बनती है।

- इस बोध में धर्मक्रिया भावरूप न होने के बावजूद प्रधान द्रव्यक्रिया होती

है। जो क्रिया भाव का कारण बननेवाली होती है, उस क्रिया को **प्रधान द्रव्य क्रिया** कहते हैं। इसलिये मित्रा दृष्टि व तारा दृष्टि में जो द्रव्य क्रिया प्राप्त होती है, वह भविष्य में भावक्रिया की कारण होने से मार्ग की ही क्रिया कहलाती है। जबकि भवाभिनंदी आदि की धर्मक्रिया भावक्रिया का कारण बननेवाली नहीं होती है, इसलिये वह **अप्रधान द्रव्य क्रिया** कहलाती है।

- प्रधानद्रव्य क्रिया से अनुबंधों में कुछ परिवर्तन होते हैं, कुछ धार्मिक संस्कारों का सिंचन होता है, संप्राप्त बोध तथा धर्मक्रिया के संस्कारों का कम लेकिन आधान होता है, अंशतः सकाम (सानुबंध) निर्जरा भी होती है और पुण्य के अनुबंधवाला कर्म भी होता है। जबकि अप्रधान द्रव्यक्रिया से पूर्वोक्त कोई लाभ नहीं होता है। अकाम निर्जरा होती है और कोरा पुण्यबंध होता है। पापानुबंधी पुण्य तो आत्मा को संसार में भटकानेवाला होता है। क्योंकि, ऐसे पुण्य के उदय में आत्मा अत्यंत आसक्त होकर अपार पाप ही करती है।

- तारादृष्टि का बोध, मित्रादृष्टि के बोध जैसा ही अल्प स्थिति और अल्प शक्तिवाला होता है, इसके बावजूद भी मित्रा दृष्टि से थोड़ा अधिक स्पष्ट बोध होता है। इसीलिये स्वीकृत महाव्रत या अणुव्रतों की सुरक्षा का परिणाम उत्पन्न होने पर महाव्रतादि की बाड़ स्वरूप 'नियम' नामक योग का अंग प्राप्त होता है। तत्त्व अद्वेष तत्त्व-जिज्ञासा में परिवर्तित होता है और मन से उद्वेग दोष नष्ट होता है।

● संस्कृत **'तार'** शब्द से 'तारा' शब्द बना है। तारा शब्द का प्रयोग उच्च, तीव्र, देदीप्यमान, चमकदार, पारदर्शक आदि के लिये होता है। मित्रादृष्टि के बोध से तारादृष्टि का बोध थोड़ा अधिक स्पष्ट (तीव्र-देदीप्यमान) होने के कारण उसका **'तारा'** नाम सार्थक है। **मित्रादृष्टि के बोध ने मित्र की भांति योगमार्ग (सद् मार्ग) की सीढ़ी पर चढ़ाया था। तारा दृष्टि के बोध ने योगमार्ग की सीढ़ी पर प्रयाण करने (गति करने) में तीव्रता प्रदान की है।** मित्रादृष्टि में संसार खराब लगता है और त्याज्य भी लगता है। तारादृष्टि में संसार का नाश

करने की इच्छा प्रकट होती है और मित्रादृष्टि की तुलना में संवेग की मात्रा बढ़ती है। यहां विशिष्ट विकास नहीं होता है, इसके बावजूद आंशिक विकास अवश्य होता है।

➞ तारा दृष्टि में प्राप्त होनेवाले बोधादि को दर्शाते हुए योगदृष्टिसमुच्चय ग्रंथ में कहा गया है कि,

तारायां तु मनाक्स्पष्टं, नियमश्च तथाविधः ।
अनुद्वेगो हितारम्भे, जिज्ञासा तत्त्वगोचरा ।।४१।।

- 'तारा' दृष्टि में आंशिक स्पष्ट बोध प्राप्त होता है, इच्छादि रूप **'नियम'** नामक द्वितीय योगांग प्राप्त होता है, हित की प्रवृत्ति में **अनुद्वेग** प्राप्त होता है। (चित का **उद्वेग** दोष नष्ट होता है,) और तत्त्व संबंधी **जिज्ञासा** उत्पन्न होती है।

➠ उद्वेग दोष का नाश :-

तारा दृष्टि में उद्वेग दोष नष्ट होता है और हित की प्रवृत्ति में अखेद सहित अनुद्वेग प्राप्त होता है।[1] **प्रथम दृष्टि में खेद दोष नष्ट हुआ था। इसलिये धर्म प्रवृत्ति की अरुचि नष्ट हुई थी और धर्म प्रवृत्ति की रुचि प्रकट हुई थी। इसके बावजूद प्रथम दृष्टि में धर्म प्रवृत्तियों का प्रारम्भ करने के बाद अधिक कष्ट पड़े, वृत्तियों का दमन करना पड़े, अधिक परिश्रम करना पड़े, जिससे धर्मप्रवृत्ति करने में उत्साह न आए और धर्म प्रवृत्ति करे तो भी आनंद न आए, ऐसा भी होता था।**

षोडशक ग्रंथ में 'उद्वेग' की परिभाषा देते हुए कहा गया है कि, 'यह धर्म प्रवृत्ति कष्टपूर्वक साध्य है' इस ज्ञान से धर्म प्रवृत्ति करने में आलस्य आए तो उसे उद्वेग कहा जाता है। इस आलस्य के कारण काया में कोई खेद (पीड़ा) न होने के बावजूद स्थान पर रहकर भी धर्म क्रिया करने में उत्साह पैदा नहीं होता है और धर्म क्रिया करे तो भी उससे सुख (आनंद) प्राप्त नहीं होता है।[2]

तारा दृष्टि में यह उद्वेग दोष नष्ट होने से साधक उल्लासपूर्वक धर्म क्रिया में प्रवृत्त होता है। मित्रा दृष्टि में आध्यात्मिक विकास की कारण धर्म क्रिया

करने का अवसर आए तो आनंद आता था। इसके बावजूद धर्म क्रिया प्रारम्भ होने के बाद ऊब जाने की संभावना रहती थी। जबकि तारा दृष्टि में धर्मक्रिया की अवसर प्राप्ति में आनंद व धर्मक्रिया के दौरान उत्साह पैदा होता है। **उद्वेगदोष धर्मप्रवृत्ति को सातत्यपूर्वक सम्पन्न नहीं होने देता है। सातत्यपूर्ण व आत्मस्पर्शी धर्मप्रवृत्ति ही रागादि विभाव को दूर करने में समर्थ है।**

➞ **खेददोष व उद्वेगदोष में अंतर है।** खेद दोष मूल से ही धर्म प्रवृत्ति में रुचि पैदा नहीं होने देता है और उद्वेग दोष क्रिया से पूर्व अथवा क्रिया के दौरान ऊबन लाता है। **यहां स्मरण रखना चाहिये कि,** धर्म प्रवृत्ति बंद होने में इन दोनों दोषों में से किस दोष की भूमिका रही है, यह पता लगाने के लिये जांच करनी चाहिये कि धर्म प्रवृत्ति क्यों बंद हुई ? क्या धर्म के प्रति अरुचि पैदा हो गई है ? या धर्म के प्रति रुचि होने के बावजूद उसमें प्रवृत्त होने का फिलहाल उल्लास पैदा नहीं हो रहा है ? यदि धर्म के प्रति अरुचि पैदा हो गई हो तो उसमें खेद दोष की भूमिका समझनी चाहिये और यदि धर्म के प्रति रुचि होने के बावजूद किसी कारण से उल्लास पैदा नहीं हो रहा है तो उसमें उद्वेग दोष की भूमिका समझनी चाहिये।

➞ **यहां उल्लेखनीय है कि,** खेद दोष की विद्यमानता में भी कई बार धर्म प्रवृत्ति में उल्लासपूर्वक प्रवृत्ति देखने को मिलती है। तो वहां उद्वेग दोष का तात्त्विक नाश नहीं हुआ है, यह समझना चाहिये और इस प्रकार का अनुद्वेग तारा दृष्टि की छाया को सूचित नहीं करता है। **परन्तु खेद के अभाव सहित अनुद्वेग हो तो तारा दृष्टि की छाया समझनी चाहिये।** खेद दोष के नष्ट हुए बिना तात्त्विक उल्लास प्रकट नहीं होता है और इसके बिना धर्म प्रवृत्ति में तात्त्विक अनुद्वेग प्रकट नहीं होता है। अभव्यात्मा उल्लासपूर्वक प्रवर्तमान होती है। इसके बावजूद उसमें खेद दोष विद्यमान होने से वह उल्लास तात्त्विक (सच्चा) नहीं होता है।

➠ **तत्त्व-जिज्ञासा गुण की प्राप्ति :-**

तारादृष्टि में तत्त्व की जिज्ञासा प्राप्त होती है। मित्रादृष्टि में तत्त्व का जो सामान्य बोध होता है, उस तत्त्व बोध को तारादृष्टि में सविशेष जानने की इच्छा होती है। तत्त्व-अद्वेष गुण के कारण प्रथम दृष्टि में तत्त्व के प्रति अनुकूल भाव प्रकट होता था और **यहां अद्वेषपूर्वक तत्त्व की जिज्ञासा प्रकट होती है। यह तत्त्व-जिज्ञासा तत्त्व को स्वीकार करने की अभिमुखतावाली होती है[3] अर्थात् अतत्त्व का त्याग व तत्त्व को स्वीकार करने की दिशा में ले जाती है।** तत्त्व को जानने की इच्छा से भविष्य में तत्त्व शुश्रुषा व तत्त्व श्रवण की इच्छा प्रकट होती है और तत्त्व के श्रवण से प्राप्त बोध द्वारा विवेक के खिलने से जीवन में वास्तविक रूप से अतत्त्व का त्याग और तत्त्व को स्वीकार करने की प्रवृत्ति आती है। तत्त्व-जिज्ञासा में ऐसी प्रवृत्ति के अनुकूल परिणाम होता है। अतत्त्व का त्याग करने और तत्त्व को स्वीकार करने के अनुकूल परिणाम रहित जिज्ञासा गुणरूप नहीं होती है। **इसीलिये तत्त्व के प्रति द्वेष जाने के बाद तत्त्व के प्रति अनुकूल भाव प्रकट होता है और उससे अतत्त्व का त्याग व तत्त्व को स्वीकार करने के अनुकूल परिणामवाली जो जिज्ञासा प्रकट होती है, वही तात्त्विक है और वही साधक के दूसरी दृष्टि में प्रवेश को सूचित करती है।**

मात्र नई-नई जानकारियां प्राप्त करने का शौक पूरा करना, विद्वत्ता प्राप्त करके अभिमान आदि का पोषण करना अथवा अन्य असत् उद्देश्य से तत्त्व की जिज्ञासा पैदा हो तो वह तात्त्विक नहीं होती है। भावमल की तीव्रता होती है तब अतत्त्व का तीव्र आग्रह होता है और तत्त्व का द्वेष होता है। प्रगाढ़ भवाभिष्वंग के कारण तत्त्व को स्वीकार करने का कोई अनुकूल भाव नहीं होता है। इसलिये तब कदाचित तत्त्व-जिज्ञासा देखने को मिले तो भी वह पूर्वोक्त उद्देश्यों की सिद्धि के लिये ही होती है।

यद्यपि दूसरी दृष्टि में बोध बढ़ने से हेय-उपादेय का विवेक भी थोड़ा अधिक स्पष्ट होता है। जिससे हेय की निवृत्ति और उपादेय की प्रवृत्ति में आनंद आता है। साधक ऊबता नहीं है। इसलिये निवृत्ति-प्रवृत्ति को अधिक परिणामदायी बनाने के लिये तत्त्व को जानने की जिज्ञासा प्राप्त होती है।

➠ द्वितीय योगांग नियम की प्राप्ति :-

मित्रा दृष्टि में खेद दोष के नष्ट होने से धर्म के प्रति रुचि जागृत होती है। जिससे यम (व्रत) नामक प्रथम योगांग की प्राप्ति होती है। दूसरी दृष्टि में उद्वेग दोष के नष्ट होने से व्रतों के पालन में आनंद आता है और बोध की वृद्धि होने से स्वीकृत महाव्रत-अणुव्रतों का महत्त्व भी हृदय में सुस्थिर होता है। आध्यात्मिक विकास के लिये महाव्रतादि की रक्षा-निर्मलता आवश्यक है, यह भी साधक को ज्ञात हो जाता है। इससे व्रतों की रक्षा हेतु बाड़-समान पांच नियम ग्रहण करता है।[4] मित्रा दृष्टि में महाव्रतादि स्वीकार होते हैं किन्तु विशिष्ट क्षयोपशम न होने से महाव्रतादि की रक्षा हेतु नियम ग्रहण नहीं होते हैं। जबकि तारा दृष्टि में विशिष्ट क्षयोपशम प्राप्त होने से नियम स्वीकार होते हैं।

➞ **पांच नियम :- (१) शौच** (बाह्य-आंतरिक पवित्रता), **(२) संतोष, (३) तप, (४) स्वाध्याय** और **(५) ईश्वर प्रणिधान** (ध्यान)।

(१) शौच :- शौच अर्थात् पवित्रता । यह दो प्रकार की होती है। (१) बाह्य पवित्रता और (२) आंतरिक पवित्रता। काया को पवित्र रखना प्रथम **बाह्य पवित्रता** है और मैत्री आदि भावनाओं से मन के मलों का प्रक्षालन करना **आंतरिक पवित्रता** है।[5]

मोक्ष मार्ग में बाह्य शौच का मूल्य नहीं है। शरीर को कितना भी शुद्ध किया जाए तो भी वह मलीन होने के स्वभाववाला ही है। शरीर को पाप रहित किया जाए (अप्रशस्त कार्यों में न जोड़ा जाए) यही उसकी सच्ची पवित्रता है। ऐसी पवित्रता से अप्रशस्त योगों में रमने की योग्यता नष्ट होती है और शुद्ध योगों में प्रवृत्त होने की आदत पड़ती है।

आत्मा को सदैव मैत्री आदि भावनाओं से सुवासित करते रहना चाहिये। इससे उसमें किसी भी जीवात्मा के प्रति द्वेष-प्रद्वेष नहीं होगा, ईर्ष्या नहीं होगी और निंदादि दोष जीवन में नहीं आएंगे। इससे मनःशुद्धि प्राप्त होती है। दोनों प्रकार की पवित्रता से अहिंसा तथा ब्रह्मचर्य व्रत का निर्मल पालन होता है।

इसलिये 'शौच' नियम व्रतों का उत्तर गुण है। (मूलव्रत-मूलगुण के उपष्टंभक गुण को **उत्तर गुण** कहा जाता है।)

दूसरी दृष्टि में प्राप्त होनेवाला बोध संसार के त्याग की भावना पैदा करता है। साधक को संसार की अच्छे से पहचान हो जाती है। संसार के स्त्री आदि अंगों में कोई सार नहीं तथा जीवात्मा विचित्र कर्मों के वशीभूत होकर विभिन्न प्रकार का आचरण करते हैं, यह ज्ञात हो जाता है। **इसलिये संसार के सुख हेतु काया को पापों से लिप्त करने की और कर्माधीन जीवात्माओं के आचरण का असद् चिंतन करके मन को मलीन करने की इच्छा नहीं होती है।** इससे जीवात्मा को सहज रूप से दोनों प्रकार की पवित्रता प्राप्त होती है। **शौच भावना से** (अर्थात् काया को पाप-रहित और मन को मैत्र्यादि भावों से सुवासित रखने की भावना से) **साधक को जो गुण प्राप्त होते हैं, उन्हें दर्शाते हुए बाईसवीं 'तारादित्रय' बत्तीसी में कहा गया है कि,**

शौचभावनया स्वांगजुगुप्साऽन्यैरसंगमः ।
सत्त्वशुद्धिः सौमनस्यैकाग्र्याक्षजययोग्यता ।।३।।

➞ **शौच भावना से** (१) स्वकाया के प्रति जुगुप्सा, (२) अन्य शरीरों के साथ असंगम (असंसर्ग), (३) सत्त्व की शुद्धि, (४) सौमनस्य (मानसिक प्रीति), (५) एकाग्रता, (६) इन्द्रियों की जय तथा (७) शुद्ध आत्म दर्शन की योग्यता प्राप्त होती है।

(१) स्वकाया के प्रति जुगुप्सा :- तारा दृष्टि के साधक में शौच-भावना से अपनी काया के प्रति जुगुप्सा होती है। वह सोचता है कि..."यह काया अशुचिमय है, रक्त, मांस, हड्डियों का ढांचा है, इसके चक्षु आदि नव व बारह द्वारों से निरंतर अशुचि बह रही है। इसलिये ऐसी बिभत्स काया से ममत्व क्या करना !"

(२) दूसरों की काया से असंग :- काया का जुगुप्सनीय स्वरूप देखकर उसे अन्य की काया से संग करने की इच्छा नहीं होती है। क्योंकि, दूसरों की काया भी वैसी ही अशुचिमय है। **उसका बोध कहता है कि अशुचि को**

कुचलने (मसलने) में सार नहीं है और उसमें कोई बुद्धिमत्ता नहीं है ।

(३) सत्त्व शुद्धि :- काया के स्वरूप के बोध से काया के प्रति राग-द्वेष घट जाने से सत्त्व भाव की शुद्धि-वृद्धि होती है। शरीर की आसक्तियों के कारण उत्पन्न विषयों के प्रति आकर्षण जीवात्मा को निःसत्त्व बना देता है। काया की अशुचिमयता के बोध से उसकी आसक्ति टूट जाती है। जिससे विषयों का आकर्षण भी टूट जाता है। इससे सत्त्व भाव उल्लसित होता है।

(४) सौमनस्य :- खेद का अनुभव न होने के कारण जो मानसिक प्रीति होती है वह सौमनस्य कहलाती है। शौच भावना के कारण शरीर की पुष्टि करने की मनोवृत्ति घटती है, जिससे शरीर की पुष्टि में जो मानसिक श्रम होता था और जो खेद होता था, वह दूर होने से मानसिक आनंद प्राप्त होता है।

(५) एकाग्रता :- शौच भावना से काया का ममत्व घटने से काया के विषयों के प्रति ममत्व घटता है। इससे काया की स्थिरता प्राप्त होती है और परिणामस्वरूप योग साधना में एकाग्रता आती है।

(६) इन्द्रियों पर विजय :- शौच भावना से काया के प्रति ममत्व घटने से उसके विषयों के प्रति भी ममत्व घटता है। जिससे इन्द्रियों पर नियंत्रण प्राप्त होता है और इन्द्रियां उन विषयों की तरफ नहीं दौड़ पाती हैं। इन्द्रियों की विषयाभिमुखता टूटने से इन्द्रियों पर विजय प्राप्त होता है।

(७) आत्मदर्शन की योग्यता :- शौच भावना से काया की प्रीति-आसक्ति टूटने से भोग वृत्तियों का ह्रास होता है और विषयों से विमुख होने के कारण आत्मस्थैर्य प्राप्त होता है - आत्मा में स्थिर होने की योग्यता प्रकट होती है। **आत्मा व शरीर भिन्न हैं, ऐसा विवेक प्राप्त होने से सच्चा आत्म दर्शन होता है।**

(२) संतोष :- संतुष्टि को संतोष कहते हैं। जो मिला उसे ही पर्याप्त समझना तथा अधिक प्राप्त करने की इच्छा न करना संतोष नामक गुण है। यह नियम अपरिग्रह व्रत का उत्तर गुण है।

(३) तप :- इच्छा निरोध को **तप** कहते हैं। पांचों महाव्रतों की रक्षा के लिये 'तप' नियम अत्यावश्यक है। (तप के स्वरूपादि का योगपूर्वसेवा प्रकरण में वर्णन किया गया है।)

(४) स्वाध्याय :- जिससे स्व (आत्मा का) अध्ययन हो उसे **स्वाध्याय** कहा जाता है। जिससे आत्मा की पहचान होती है, आत्मा की ओर गति होती है, आत्मा में स्थिरता होती है और आत्मा में रमणता प्राप्त होती है उसे **स्वाध्याय** कहा जाता है। स्वाध्याय पांचों महाव्रतों की रक्षा के लिये आवश्यक है। स्वाध्याय के बिना महाव्रतों का ज्ञान और उनके पालन के रहस्यों को नहीं समझा जा सकता है। **हालांकि स्वाध्याय का तप में समावेश होता है। इसके बावजूद 'स्वाध्याय' की अत्यावश्यकता तथा महत्ता दर्शाने के लिये स्वाध्याय को अलग नियम के तौर पर दर्शाया गया है।**

(५) ईश्वर प्रणिधान :- जगत का सच्चा दर्शन करानेवाले, आत्म हितकारी मार्ग के प्ररूपक श्री तीर्थंकर परमात्मा का ध्यान करना। परमात्मा की पूजा भी एक प्रकार का ध्यान ही है। **ईश्वर प्रणिधान से ...** उनका अनुग्रह प्राप्त होता है, इससे महाव्रत-अणुव्रत के पालन की शक्ति प्राप्त होती है और स्वीकृत व्रतों का योग्य निर्वाह होता है। मोह से लड़ने की अपार योग्यता प्रकट होती है। श्रेष्ठ वस्तु के ध्यान से श्रेष्ठता प्राप्त होती है।

इस प्रकार योग मार्ग में उपकारी शौचादि नियमों का ज्ञान प्राप्त करके तारा दृष्टि का साधक इच्छादिक नियमों में रत होता है अर्थात् इच्छा नियम, प्रवृत्ति नियम आदि में रत होता है।[6] जैसे 'यम' के इच्छा यम आदि चार भेद हैं, वैसे ही 'नियम' के भी इच्छा नियम आदि चार भेद समझने चाहिये।

➠ तारा दृष्टि में प्राप्त होनेवाले अन्य गुण[7] :-

→ योग कथा में अखंड प्रीति :-

तारा दृष्टि के साधक को योगकथा में भावपूर्ण अखंड प्रीति प्राप्त होती है और शुद्ध योगों से संपन्न भावयोगियों के प्रति सन्मान प्राप्त होता है। तारादृष्टि

के साधक में शुद्ध योगमार्ग की इच्छा बढ़ती है। इससे योगमार्ग की प्रगति में कारण योगकथाओं में भावपूर्वक अखंड प्रीति प्राप्त होती है और योगकथा के श्रवण से योगमार्ग की प्राप्ति की दुर्लभता व मूल्य दृढ़ बनते हैं। **इससे योगमार्ग पर जिन्होंने प्रगति की है, ऐसे भावयोगियों के प्रति सन्मानभाव प्राप्त होता है।** यहां साधक के मन में एक मंथन होता है कि, मुझे जिन देव-गुरु-धर्म की सामग्री प्राप्त हुई है, वही सामग्री भावयोगियों को प्राप्त हुई है। वे आगे हैं। मैं पीछे हूं। वे जल्दी जागृत हुए। मैं क्यों देरी से जागा ? उन्होंने किस प्रकार की साधना की और विघ्नों से कैसे लड़कर प्रगति की ? इत्यादि जानने की उसकी उत्कंठा होती है और इससे योगकथा में उसे अखंड प्रीति प्राप्त होती है।

→ भावयोगियों की भक्ति :-

तारा दृष्टि के साधक में भावयोगियों के प्रति अत्यंत सन्मान होता है। इससे उनकी भक्ति करने का भाव उल्लसित होता है और साधक "मेरे आहारादि दान से इन योगियों का गुण वैभव मुझे भी प्राप्त होगा।" ऐसे विवेक के साथ यथाशक्ति भक्ति करता है।

→ भावयोगियों के प्रति शुद्ध पक्षपात :-

योगकथा में प्रीति, योगियों के प्रति सन्मान भाव और उनकी भक्ति : ये तीनों भाव इन भावयोगियों के प्रति शुद्ध पक्षपात हैं और शुद्ध पक्षपात से तारा दृष्टि के साधक पुण्यानुबंधी पुण्य का उपार्जन करते हैं।[8] यह पुण्यानुबंधी पुण्य जब फलित होता है तो साधक को निम्नलिखित फल प्राप्त होते हैं।

→ योगवृद्धि :-

साधक में योग की वृद्धि होती है। भावयोगी के प्रति शुद्ध पक्षपात से उत्पन्न पुण्यानुबंधी पुण्य से शुभ भावों में वृद्धि होती है और शुभ भावों की वृद्धि के कारणो की प्राप्ति होती है। इससे विशेष प्रकार के योगों में पुरुषार्थ उल्लसित होता है। इस प्रकार के पुरुषार्थ से योग वृद्धि होती है।

→ लाभान्तर की प्राप्ति :-

योगवृद्धि की भांति उसमें सहायक बननेवाले अन्य लाभ भी प्राप्त होते हैं। आत्म हितकर सामग्री प्राप्त होती है और साधनामार्ग में आनेवाले विघ्न नष्ट होते हैं।

→ क्षुद्रोपद्रव की हानि :-

ऐसे साधक में किसी कर्मोदय से रोगादि उत्पन्न हुए हों तो वे क्षुद्र उपद्रव नष्ट होते हैं।

→ शिष्ट संमतता :- तारा दृष्टि के साधक सभी जगह उचित प्रवृत्ति करते होने से शिष्ट पुरुषों के संमत बनते हैं - यह सब भावयोगियों के प्रति सन्मानभाव से प्राप्त होता है। अब अन्य गुण दर्शाते हैं।

→ संसार का तीव्र भय नहीं होता है :-

संसार का तीव्र राग हो और संसार का आनंद लेने के लिये, उसे सजाने के लिए और संभालने के लिये जो अनुचित प्रवृत्तियां - रच-पचकर पाप किये जाते हैं, उसे पाप कर्मों के फलस्वरूप संसार में भटकने का भय होता है। आलोक व परलोक में होनेवाली आत्मा की दुर्दशा की चिंता होती है। तारा दृष्टि के साधक में संसार का राग नहीं होता है, बल्कि संसार के प्रति वैराग्य होता है और उसे अपना संसार नाश करना होता है। इसलिये वह अपने जीवन में सभी जगह धर्म का आदर करता है, कर्तव्यपालन नहीं चूकता है। साथ ही अनाभोग से भी अनुचित क्रिया नहीं करता है।

→ अधिक धर्म योगों की जिज्ञासा :-

तारा दृष्टि के साधक अपनी भूमिका से उच्च भूमिका में स्थित योगियों के धर्म योग को देखता है, तो उसे वह योग प्राप्त करने की इच्छा होती है और वे योगी इस प्रकार के धर्म-योग कैसे पा सके, यह जानने की भी जिज्ञासा उत्पन्न होती है।

→ स्व के प्रति संत्रास :-

भावयोगियों के प्रति सन्मान और उनके धर्मयोग को पाने की लालसा तथा उन्हें जानने की जिज्ञासा उत्पन्न होने के बाद साधक को अपने विकल धर्मयोगों के प्रति संत्रास उत्पन्न होता है। उसे विचार आता है कि, "मुझे व उन्हें (उच्च भूमिकावाले भाव योगियों का) संयोग तो समान ही प्राप्त हुए हैं। इसके बावजूद मैं पीछे हूं और वे आगे हैं। वास्तव में मैं विराधक तो नहीं होगा न! मेरा क्या होगा ! मेरी आध्यात्मिक प्रगति कब होगी !" - इस प्रकार का विलाप होता है। **इसके अलावा इस दृष्टि के (बोध के) सामर्थ्य से साधक को उच्च भूमिकावालों के प्रति द्वेष-ईर्ष्या नहीं होती है। परन्तु सन्मान भाव अखंड रहता है और वे भूमिकाएं प्राप्त करने की लालसा बढ़ती है।...**

→ संसार-विच्छेद का परिणाम तथा उसके उपायों की जिज्ञासा :-

तारा दृष्टि का साधक संसार को दुःखों की खान मानता है और इसलिये उसमें दुःख रूपी संसार का विच्छेद करने की भावना जागृत होती है। साथ ही संसार का नाश करने के उपाय जानने की जिज्ञासा प्रकट होती है और संसार विच्छेदक सत्पुरुषों की प्रवृत्तियां जानने की भी जिज्ञासा उत्पन्न होती है। इसके अलावा स्वयं अपनी अल्पज्ञता जानता है और संसार नाश के उपाय दर्शानेवाले शास्त्रों का विस्तार (शास्त्र अनेक हैं) भी जानता है। इसमें उसकी चौंच नहीं डूब सकती और उनके रहस्यों को समझने का क्षयोपशम नहीं है, यह भी अच्छे से जानता है। इसलिये शास्त्र ज्ञाता शिष्ट पुरुषों का अनुसरण करने का निर्णय करता है।

→ **संक्षेप में ...** तारा दृष्टि के साधक को गोबर की अग्नि की चिनगारी समान अल्प शक्ति व अल्प कालवाला बोध प्राप्त होता है। इसके प्रभाव से प्रधान द्रव्यक्रिया की प्राप्ति होती है।

→ दूसरे योगांग (शौचादि पांच) नियम की प्राप्ति होती है।

→ मन का उद्वेग दोष नष्ट होता है और इससे धर्म प्रवृत्ति में आनंद आता है।

→ तत्त्व जिज्ञासा गुण की प्राप्ति होती है।

➞ इसके अतिरिक्त तारा दृष्टि के साधक को योगकथा से अखंड प्रीति होती है... भावयोगी के प्रति सन्मान भाव होता है... भावयोगी के प्रति भक्ति प्रकट होती है... योग साधना की वृद्धि होती है... आध्यात्मिक विकास में सहायक अन्य लाभों की प्राप्ति होती है... क्षुद्र उपद्रवों की हानि होती है... शिष्ट पुरुषों से सम्मत होता है... संसार का भय नहीं सताता है... अधिक से अधिक धर्म योगों की जिज्ञासा उत्पन्न होती है... अपने विकल योगों के लिये स्वयं के प्रति पीड़ा होती है... संसार-उच्छेद का परिणाम प्राप्त होता है और उसके उपायों की जिज्ञासा उत्पन्न होती है... शास्त्रों के प्रति सन्मान प्रकट होता है और जीवन में शिष्ट पुरुषों का अनुसरण करने की प्रेरणा मिलती है।

➞ **टिप्पणकम् : 1.** तथानुद्वेगो हितारम्भे पारलौकिकेऽखेदसहितः अत एव तत्सिद्धिः **(यो० दृ०) 2.** उद्वेगः कष्टसाध्यताज्ञानजनितमालस्यं, यद्वशात् कायखेदाभावेऽपि स्थानस्थितस्यैव क्रियां कर्तुमनुत्साहो जायते, कुर्वाणोऽपि ततो न सुखं लभते। **(षोडशक, ३४१३, टीका) 3.** तथा 'जिज्ञासा तत्त्वगोचरा' अद्वेषत एव तत्प्रतिपत्त्यानुगुण्यमिति।। **(यो० दृ०) 4.** अतः 'नियमश्च' तथाविधः शौचादिरिच्छादिरुप एव शौचसन्तोषतपः - स्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः **(यो० सू० २-३२)** इति वचनात्। तदत्र द्वितीययोगात्प्रतिपत्तिरपि मित्रायां त्वेतदभाव एव तथाविधक्षयोपशमाभावात्। **(यो० दृ० समु-४१। टीका) 5.** शौचं-शुचित्वं, तद्द्विविधं, बाह्यमाभ्यन्तरं च, बाह्यं मृज्जलादिभिः कायप्रक्षालनं, आभ्यन्तरं मैत्र्यादिभिश्चित्तप्रक्षालनम्। **(तारादित्रयद्वात्रिंशिका) 6.** विज्ञाय नियमानेतानेवं योगोपकारिणः । अत्रैतेषु रतो दृष्टौ भवेदिच्छादिकेषु हि ।।५।। **(तारादित्रयद्वात्रिंशिका) 7.** भवत्यस्यां तथाऽछिन्ना, प्रीतिर्योगकथास्वलम्। शुद्धयोगेषु नियमाद्, बहुमानश्च योगिषु ।।४२।। यथाशक्त्युपचारश्च, योगवृद्धिफलप्रदः। योगिनां नियमादेव, तदनुग्रहधीयुतः ।।४३।। लाभान्तरफलश्चास्य, श्रद्धायुक्तो हितोदयः। क्षुद्रोपद्रवहानिश्च, शिष्टसम्मतता तथा ।।४४।। भयं नातीवं भवजं, कृत्यहानिर्न चोचिते। तथानाऽभोगतोऽप्युच्चैर्न चाप्यनुचितक्रिया ।।४५।। कृत्येऽधिकेऽधिकगते, जिज्ञासा लालसान्विता। तुल्ये निजे तु विकले, सन्त्रासो द्वेषवर्जितः ।।४६।। दुःखरुपो भवः सर्व उच्छेदोऽस्य कुतः कथम्। चित्रा सतां प्रवृत्तिश्च, साऽशेषा ज्ञायते कथम्।।४७।। नास्माकं महती प्रज्ञा, सुमहान् शास्त्रविस्तरः। शिष्टाः प्रमाणमिह तदित्यस्यां मन्यते सदा ।।४८।। **(यो० दृ० समु०) 8.** शुद्धपक्षपातपुण्यविपाकाद्योगवृद्धिलाभान्तरशिष्टसम्मतत्वक्षुद्रोपद्रवहान्यादिफल इति ध्येयम् ।। **(तारादित्रयद्वात्रिंशिका / ६ / टीका)**

✦✦✦

प्रकरण - ६/३ : तीसरी बला दृष्टि

बोध के बढ़ने से तारा दृष्टि का साधक तीसरी बला दृष्टि में प्रवेश करता है। सद्गुरु का सफल योग तथा उनके सदुपदेश से और यम-नियम योग के अंगों के सेवन से मोहनीयादि कर्मों का ज्यादा क्षयोपशम होने से बोध में वृद्धि होती है तथा साधक तीसरी दृष्टि में प्रवेश करता है। **पूर्वोक्त दो दृष्टियों से बोध बलवान हुआ है, इसलिये तीसरी दृष्टि का 'बला' नाम सार्थक है।**

➠ काष्ठाग्नि की चिनगारी समान बोध :-

बलायामप्येष काष्ठाग्निकणकल्पो विशिष्ट ईषदुक्तबोधद्वयात्, तद्भवतोऽत्र मनाक्स्थितिवीर्ये, अतः पटुप्राया स्मृतिरिह प्रयोगसमये तद्भावे चार्थप्रयोगमात्रप्रीत्या यत्नलेशभावादिति । (यो. दृ. १५/ टीका)

➞ बला दृष्टि में काष्ठ की अग्नि की चिनगारी समान बोध होता है। पूर्व की दो दृष्टियों के बोध से इस तीसरी दृष्टि में थोड़ा विशिष्ट बोध होता है। इसलिये यहां बला दृष्टि में बोध की स्थिति व शक्ति (वीर्य) भी (पूर्व की दो दृष्टियों की तुलना में थोड़ी) अधिक होती है अर्थात् इस दृष्टि का बोध अधिक काल तक टिकता है और विशिष्ट शक्तिवाला होता है।

- इसीलिये पटुप्रायः स्मृति है अर्थात् बला दृष्टि के बोध से होनेवाली धर्म क्रिया के सेवनकाल में बोध की स्मृति अच्छी होती है।

➞ इसके अतिरिक्त विशिष्ट बोध से होनेवाली क्रिया के सेवनकाल में तथा बोध के सद्भाव में अर्थ प्रयोग मात्र की प्रीति होने से (अर्थात् अपनी धर्मक्रिया को भावयोगियों की भांति भावक्रिया बनाने की प्रीति होने से) वास्तव में आंतरिक यत्न (पुरुषार्थ) का उसमें अंश मिश्रित होता है अर्थात् यत्नलेश की विद्यमानता होती हैं। **मित्रा दृष्टि के बोध ने मित्रका काम करके साधक को**

योगमार्ग की सीढ़ी चढ़ाने का काम किया था। तारा दृष्टि के बोध में थोड़ी तेजस्विता मिश्रित होने से योगमार्ग की आगे की भूमिका प्राप्त करने में वह साधक के लिये सहभागी बनी। बला दृष्टि का बोध उससे भी अधिक दृढ़ है। इसके सहारे साधक धर्मक्रिया में आनंदपूर्वक प्रवृत्त होता है। साथ ही मोक्ष का लक्ष्य स्मृति पथ में लगातार जीवित रहने से धर्मक्रिया में आनंद आता है और वंदनीय पुरुषों के गुणों को प्राप्त करने की प्रीतिपूर्वक अनुष्ठान का सेवन होता है। हालांकि पूर्व की दो दृष्टियों में भी लक्ष्य शुद्धि होने के बावजूद यहां विशिष्ट दृढ़ बोध की विद्यमानता के कारण लक्ष्य की ओर विशिष्ट अभिमुखता होती है।

पूर्व की दृष्टियों में उपादेय की प्रवृत्ति में प्रवर्तन होने के बावजूद हृदय में हेय (विषय-कषाय) की ओर झुकाव हो सकता है, जबकि बला दृष्टि में उपादेय की प्रवृत्ति के दौरान रवैया हेय की ओर नहीं होता है। क्योंकि, बोध के संस्कार दृढ़ होने के कारण धर्म प्रवृत्ति के समय बोध स्मृतिपथ में जीवित होता है। इसलिये हेय की विमुखता जीवित रहती है।

➞ अब बला दृष्टि में प्राप्त होनेवाले गुण वैभव को दर्शाते हुए **योगदृष्टिसमुच्चय** ग्रंथ में कहा गया है कि,

सुखासनसमायुक्तं, बलायां दर्शनं दृढम् ।
परा च तत्त्वशुश्रूषा, न क्षेपो योगगोचरः ।।४९।।

- बला दृष्टि में ... सुखकारी और स्थिर आसन से युक्त बोध दृढ़ है, श्रेष्ठ तत्त्वशश्रूषा है और योग विषयक क्षेप नहीं। **कहने का तात्पर्य यह है कि, बला दृष्टि में ...** (१) काष्ठ की अग्नि की चिनगारी समान (पूर्व की दो दृष्टियों की तुलना में) दृढ़ बोध प्राप्त होता है। (२) योग का तृतीय अंग **'आसन'** प्राप्त होता है। (३) श्रेष्ठ कोटि का **"तत्त्व शुश्रूषा"** नामक गुण प्राप्त होता है और (४) योगविषयक **'क्षेप'** नामक मन का दोष नष्ट होता है। (बोध संबंधी चर्चा

पूर्व में की जा चुकी है।)

➠ योगांग आसन की प्राप्ति[1] :-

इस दृष्टि में तीसरा योगांग **'आसन'** प्रकट होता है। योग की सिद्धि के लिये सुंदर मानसिक पुरुषार्थ करने हेतु निष्कंप व सुखकारी आसन आवश्यक होता है। क्योंकि, यदि आसन ही पीड़ा होने के कारण उद्वेग पैदा करता हो तो योगसाधना में सहायक नहीं बन सकता। इस दृष्टि के साधक को मानसिक पुरुषार्थ में सहायक **'आसन'** नामक योगांग की प्राप्ति होती है। इस दृष्टि में **'आसन'** कैसे प्रकट होता है ? यह दर्शाते हुए **योगदृष्टिसमुच्चय** ग्रंथ में कहा गया है कि,

नास्यां सत्यामसत्तृष्णा, प्रकृत्यैव प्रवर्त्तते ।

तदभावाच्च सर्वत्र, स्थितमेव सुखासनम् ।।५०।।

- यह बला दृष्टि विद्यमान होने के बावजूद (विशिष्ट शुद्धि के कारण) स्वभाव से ही असद् तृष्णा नहीं होती है और असद् तृष्णा के अभाव में सर्व प्रवृत्तियों में सुखासन अवस्थित होता है। (असद् तृष्णा के अभाव के कारण मन का परिभ्रमण नहीं होता है। मन स्थिर होता है। इसलिये काया पर नियंत्रण होता है। इससे सभी प्रवृत्तियों में स्थिर व सुखकारी आसन प्राप्त होता है।)

बला दृष्टि के साधक को मोहनीयादि कर्मों का विशिष्ट क्षयोपशम प्राप्त होता है, जिससे विशिष्ट आत्मीय शुद्धि प्राप्त होती है। इसी कारण सहज रूप से विषय सुख व उनके साधनों के प्रति उसकी असद् तृष्णा दूर हो जाती है। आत्मीय अशुद्धि, विषयाशक्ति व कषायाधीनता उत्पन्न करती है। इससे अनेक प्रकार की असद् तृष्णाएं पैदा होती हैं। इससे मन अस्थिर हो जाता है। मन की चंचलता के कारण काया भी चंचल हो जाती है। स्थिर नहीं हो पाती है। **असद् तृष्णा के नाश से मन की चंचलता दूर होने से काया भी स्थिर होती है।**

तृष्णा के अभाव से सभी जगह अवस्थित सुखासन प्राप्त होता है। यह दर्शाते हुए आगे कहा गया है कि,

अत्वरापूर्वकं सर्वं, गमनं कृत्यमेव वा ।
प्रणिधानसमायुक्तमपायपरिहारतः ।।५१।।

- अत्वरापूर्वक (शीघ्रता रहित) सर्व गमन (प्रवृत्ति) व अपाय परिहार से प्रणिधानयुक्त सर्व वंदनादि कृत्य ही होता है।

कहने का तात्पर्य यह है कि, असत् तृष्णा के विरह से सुखासन स्थिर होता है, जिससे किसी भी धर्म प्रवृत्ति में प्रवृत्ति करते समय शीघ्रता नहीं होती है। स्थिरतापूर्वक प्रवर्तन होता है और मन धर्मक्रिया व उसके आलंबन को छोड़कर कहीं भटकता नहीं है।

इस दृष्टि में (व्यवहार से) **'प्रणिधान'** आशय (भाव) प्राप्त होता है। यहां प्रणिधानपूर्वक धर्म प्रवृत्ति होती है। **मन को अस्थिर करनेवाले संक्लेश अपाय कहलाते हैं। ये अपाय मन को चंचल बनाकर यहां-वहां भटकाते हैं और प्रशस्त आलंबन पर स्थिर नहीं होने देता है।** इस संक्लेश रूपी अपाय का जन्म असत् तृष्णाओं से होता है। इस दृष्टि में असत् तृष्णाओं का नाश होने से मन इस प्रकार के संक्लेशों से मुक्त होता है, जिससे इस दृष्टि में अपाय रहित मन के प्रणिधानपूर्वक धर्म प्रवृत्ति होती है। **प्रणिधान में सर्वप्रथम हेय की विमुखता और उपादेय की सन्मुखता दृढ़ होनी चाहिये, जो इस दृष्टि में प्राप्त होती है।**

➠ "तत्त्व शुश्रूषा" गुण की प्राप्ति :-

परा प्रकृष्टा च तत्त्वशुश्रूषा - तत्त्वश्रवणेच्छा जिज्ञासासम्भवात् । - बला दृष्टि में तत्त्व जिज्ञासा से उत्पन्न श्रेष्ठ तत्त्व शुश्रूषा (तत्त्व को सुनने की इच्छा) होती है। यह तत्त्व शुश्रूषा कैसी होती है, यह दर्शाते हुए कहा गया है कि,

कान्तकान्तासमेतस्य, दिव्यगेयश्रुतौ यथा ।
यूनो भवति शुश्रूषा तथास्यां तत्त्वगोचरा ।।५२।। (योग दृ.)

- जैसे सुंदर स्त्री से युक्त पुरुष को दिव्यगेय (गीत) सुनने की शुश्रूषा होती है अर्थात् दिव्यगीत सुनने की विशेष रुचि होती है, वैसे ही तीसरी दृष्टिवाली आत्माओं में जो निर्मल बोध प्रकट हुआ है, उसके प्रभाव से तत्त्व को सुनने की विशेष रुचि प्रकट होती है।

यहां स्मरण रखना चाहिये कि, तत्त्व शुश्रूषा (तत्त्व को सुनने की इच्छा) भी तब ही तात्त्विक कहलाती है कि, जब वह तत्त्व जिज्ञासापूर्वक की हो और तत्त्व जिज्ञासा भी तब ही तात्त्विक होती है, जब वह तत्त्व के स्वीकार और अतत्त्व के त्याग के अभिमुख परिणामवाली हो। इसलिये तत्त्व जिज्ञासा से उत्पन्न तत्त्व शुश्रूषा तात्त्विक है - गुणरूप है। मात्र नया जानने का शौक पूरा करने अथवा कोरी विद्वत्ता प्राप्त करने के लिये जो शुश्रूषा होती है, वह तात्त्विक नहीं होती है। ऐसी तात्त्विक **'तत्त्व शुश्रूषा'** को भूगर्भीय **'जलस्त्रोत'** समान कहा गया है। योगदृष्टि में कहा गया है कि,

बोधाम्भस्त्रोतसश्चैषा, सिरातुल्या सतां मता ।
अभावेऽस्याः श्रुतं व्यर्थमसिरावनिकूपवत् ।।५३।।

- तत्त्व के बोध रूप में जो पानी है, ज्ञानियों ने **'शुश्रूषा'** को उस बोध रूपी पानी के प्रवाह का **'जल स्त्रोत'** समान कहा है। जैसे भूमि में **'जल स्त्रोत'** न हो तो कुंआ खोदने आदि की महेनत व्यर्थ हो जाती है। वैसे ही यदि तत्त्व शुश्रूषा न हो तो, तत्त्व का श्रवण भी व्यर्थ हो जाता है। शुश्रूषा न होने से तत्त्व श्रवण के बाद जो बोध होना चाहिये वह नहीं होता है और श्रवण का कार्य निरर्थक हो जाता है।

तत्त्व श्रवण के बाद जो बोध प्राप्त होता है, वह पानी के प्रवाह जैसा होता है। पानी का प्रवाह जैसे बीज का सिंचन करके उसे अंकुरित करता है, वैसे ही बोध भी आत्मस्थ धर्म बीजों को अंकुरित करता है। ऐसा बोध तत्त्वशुश्रूषापूर्वक तत्त्वश्रवण करने से प्राप्त होता है। तत्त्वशुश्रूषा न हो तो तत्त्वश्रवण से इस प्रकार का बोध प्राप्त नहीं होता है और तत्त्वश्रवण व्यर्थ हो जाता है। **यद्यपि तत्त्वशुश्रूषा**

हो और किसी संयोग विशेष के कारण तत्त्वश्रवण का अवसर प्राप्त न हुआ हो तो भी तत्त्वशुश्रूषा के प्रभाव से कर्म क्षय द्वारा श्रेष्ठ बोध प्राप्त हो जाता है।[2]

पंचाशक ग्रंथ में शुश्रूषा को सद्बोध की प्राप्ति का अवंध्य (सफल-अनिवार्य) कारण बताया गया है[3] **और षोडशक ग्रंथ में शुश्रूषा को तत्त्व श्रवण, तत्त्व ग्रहण, तत्त्व धारणादि की सिद्धि का अनन्य कारण बताया गया है**[4] अर्थात् भविष्य में तत्त्व की जो प्रवृत्ति करनी है, उसमें कारणभूत धारणादि की सिद्धि शुश्रूषा से ही संभव होती है। शुश्रूषा हो तो ही तत्त्व श्रवण के बाद तत्त्व ग्रहणादि संभव होता है, अन्यथा नहीं।

➠ क्षेप दोष का नाश :-

बला दृष्टि में **क्षेप** दोष का नाश होता है। धर्मक्रिया करते समय बीच-बीच में मन अन्य अप्रशस्त स्थलों पर चला जाता है, मन की इस अस्थिरता को **क्षेप दोष** कहा जाता है। **(अन्तरान्तरान्यत्र चित्तन्यासः)** । (षोडशक)) **धर्मक्रिया के दौरान उपयोग में विक्षेप डाले उनको क्षेप कहा जाता है।** मन की अस्थिरता एक स्थल के उपयोग का नाश करती है और उपयोग के बिना धर्म के उपाय करने की निपुणता-कुशलता प्राप्त नहीं होती है। **बला दृष्टि के दृढ़ बोध से क्षेप दोष का नाश होता है, जिससे शुभ कार्यों की प्रवृत्ति में कहीं कोई विक्षेप नहीं होता है और उपायों का सेवन कुशलता से होता है। योगदृष्टि में कहा गया है कि,**

शुभयोगसमारम्भे, न क्षेपोऽस्यां कदाचन ।
उपायकौशलं चापि, चारु तद्विषयं भवेत् ।।५५।।

➞ बला दृष्टि होने के बावजूद शुभ योग की प्रवृत्ति में कभी क्षेप दोष नहीं होता है और शुभ योग की प्रवृत्ति के विषय में सुंदर उपायकौशल्य होता है।

इस दृष्टि का बोध दृढ़ - बलवान है। इसलिये संसार-संसार सुख की

सारहीनता स्मृति पथ में लगातार जीवित रहती है। इससे धर्म क्रिया के दौरान मन सांसारिक भोगों की ओर नहीं जाता है। मन अस्थिर नहीं होता है। इसलिये धर्म क्रिया में विक्षेप उत्पन्न नहीं होता है।

तीसरी दृष्टि में खेद-उद्वेग-क्षेप, ये तीनों दोष नहीं होने से धर्मक्रिया में रुचि, उल्लासपूर्ण प्रवर्तन और उपयोग की स्थिरता-एकाग्रता होती है और किसी प्रकार का विक्षेप उत्पन्न नहीं होता है।

➞ **बला दृष्टि के साधक की जो आंतरिक स्थिति होती है,** उसका वर्णन करते हुए **योगदृष्टिसमुच्चय** ग्रंथ में कहा गया है कि,

परिष्कारगतः प्रायो, विघातोऽपि न विद्यते ।
अविघातश्च सावद्यपरिहारान्महोदयः ।।५६।।

- बला दृष्टि के साधक को योगमार्ग में सहायक उपकरणों के विषय में प्रायः विघात (इच्छा-प्रतिबंध अर्थात् ममत्व, मूर्च्छा, आसक्ति, गृद्धि) नहीं होता है और सावद्य के परित्याग से (ममत्वादि प्रतिषिद्ध के परित्याग से) महोदयवाला अविघात होता है।

बला दृष्टि के साधक का साध्य मोक्ष है। इसलिये साधनों से वह उस साध्य को सिद्ध करने की इच्छा रखता है। इसलिये साधन में (उपकरणादि में) वह ममत्वादि नहीं करता है। उपकरणों का उपयोग भी साध्य को सिद्ध करने के लिये ही करता है। इसलिये वस्त्रादि उपकरणों पर भी उसे कोई ममत्व नहीं होता है और इसलिये वह उपकरणों में नहीं फंसता है। इस प्रकार अविघात (निर्ममत्वभाव-निःस्पृहता) भाव जीवित रहता है। यह अविघात उसके अभ्युदय व निःश्रेयस का कारण बनता है। **(सद्गति की परम्परा अभ्युदय है और मोक्ष निःश्रेयस है।)**

संक्षेप में... **बला दृष्टि में** ... काष्ठ की अग्नि की चिनगारी समान बोध प्राप्त होता है... **तत्त्व की शुश्रूषा** प्राप्त होती है। **क्षेप** दोष का नाश होता है और तृतीय योगांग **'आसन'** की प्राप्ति होती है... असत् तृष्णा का नाश होता है तथा

धर्म क्रियाओं में त्वरा का अभाव होने से स्थिरता प्राप्त होती है... प्रणिधान आशय की प्राप्ति होती है और प्रणिधानपूर्वक दृष्टि में आनेवाले अपायों का (विघ्नों का) परिहार होता है... योग मार्ग के उपायों के सेवन में कुशलता प्राप्त होती है। रोपे गये पौधे में जैसे पानी के सिंचन से वह पुष्ट होता है, वैसे ही क्षेप दोष के अभाव से उपायों में कुशलता प्राप्त होती है। ... उपकरणादि साधन सामग्री के प्रति विघातभाव (आसक्ति भाव) नहीं होता है।

→ **टिप्पणकम्** :- **1.** सुखमिति-सुखम् - अनुद्वेजनीयं स्थिरं च - निष्कम्पं यदासनं तेनोपेतं - सहितम्, उक्तविशेषणविशिष्टस्यैवासनस्य योगाङ्गत्वात् यत्पतञ्जलिः - "स्थिर-सुखासनम्" **(पा० यो० सू० २-४६) तारादित्रयद्वात्रिंशिका श्लो-१० टीका 2.** श्रुताभावेऽपि भावेऽस्याः, शुभभावप्रवृत्तितः । फलं कर्मक्षयाख्यं स्यात् परबोधनिबन्धनम् ।।५४।। **(यो० दृ० समु०) 3.** शुश्रूषाः सद्बोधावन्ध्यनिबन्धनधर्मशास्त्रश्रवणवाञ्छा। **(पंचाशक - १/४) 4.** श्रवणग्रहणधारणादेः सिद्धिः फलं यस्याः सा तथा **(षोडशक-१२/२) 5.** योगारम्भ इहाक्षेपात् स्यादुपायेषु कौशलम्। उप्यमानं तरौ दृष्टा पयःसेकेन पीनता ।।१५।। (तारादित्रयद्वात्रिंशिका)

✦✦✦

प्रकरण - ६/४ : चौथी दीप्रा दृष्टि

बला दृष्टि का बोध बढ़ने से साधक दीप्रा दृष्टि को प्राप्त करता है। इस दृष्टि में दीपक की प्रभा जैसा देदीप्यमान (पूर्वोक्त तीनों दृष्टि से विशिष्ट) बोध प्राप्त होता है।

➠ दीपक की प्रभा समान बोध :-

इस दृष्टि के बोध का स्वरूप दर्शाते हुए योगदृष्टि में कहा गया है कि,

दीप्रायां त्वेष दीपप्रभातुल्यो विशिष्टतर उक्तबोधत्रयात्, अतोऽत्रोदग्रे स्थितिवीर्ये तत्पट्व्यपि प्रयोगसमये स्मृतिः । एवं भावतोऽप्यत्र द्रव्यप्रयोगो वन्दनादौ तथाभक्तितो यत्नभेदप्रवृत्तेरिति *प्रथमगुणस्थानप्रकर्ष एतावानिति* समयविदः ।

- चतुर्थ दीप्रादृष्टि में दीपक की प्रभा समान बोध होता है। यह बोध पूर्वोक्त तीन दृष्टि के बोध की तुलना में विशिष्टतर होता है।

- बोध विशिष्टतर होने के कारण (पूर्व की तीन दृष्टियों की तुलना में) बोध की स्थिति व शक्ति भी विशिष्ट होती है। इससे धर्मक्रिया के दौरान बोध की स्मृति अच्छी रहती है।

- (इसके बावजूद) यहां भावपूर्वक की वंदनादि धर्म क्रियाएं भी द्रव्य क्रियाएं होती हैं। क्योंकि, सम्यग्दर्शन की उपस्थिति नहीं होती है। पूर्व की दृष्टियों की तुलना में बोध बढ़ने से धर्म क्रियाओं के प्रति प्रीति बढ़ती है और वंदनादि क्रिया में भक्ति भाव भी बढ़ता है। इससे वंदनादि में भक्तिपूर्वक प्रयत्न विशेष प्राप्त होता है अर्थात् धर्म क्रियाओं में उल्लासपूर्वक प्रवर्तन वेगवान बनता है। (तीसरी दृष्टि में धर्म क्रियाओं में जो प्रयत्नलेश प्राप्त हुआ था, चतुर्थ दृष्टि में वह प्रयत्न विशेष प्राप्त होता है। इसलिये योगमार्ग में पुरुषार्थ अधिक परिणामदायी बनता है।)

→ **यह दृष्टि प्रथम गुणस्थानक की प्रकर्षपर्यन्त अवस्था है।** (अब अल्प काल में साधक **ग्रंथि का भेदन** करके सम्यग्दर्शन प्राप्त करके चतुर्थ गुणस्थानक में पहुंच जाएगा।)

दीप्रा दृष्टि में बोध विशिष्ट है। इसके बावजूद मिथ्यात्व की उपस्थिति होने के कारण कई स्थानों पर भ्रांतियां भी होती हैं। इसलिये निर्मल विवेक नहीं होता है। इसी कारण धर्मक्रियाएं भावपूर्ण होने के बावजूद द्रव्यक्रियाएं होती हैं और भावक्रियाएं नहीं बन पाती हैं। **बोध भ्रांतिरहित स्पष्ट और अनेकांतदृष्टि से संपन्न सूक्ष्म हो तो उपादेय की सन्मुखता और हेय की विमुखता तात्त्विक बनती है और तब ही धर्मसेवन भावक्रिया बनता है।** एक भी भ्रांति विद्यमान हो तब तक बोध स्पष्ट-सूक्ष्म नहीं बनता है। चौथी दृष्टि में मिथ्यात्व की उपस्थिति के कारण संसार-मोक्ष के कारणों के विषय में सूक्ष्म भ्रांतियां हो सकती हैं। **यहां प्राप्त होनेवाली द्रव्यक्रिया भी प्रधान द्रव्य क्रिया होती है। क्योंकि, वह भाव का कारण बनती है।**

प्रथम गुण स्थानक में बोध का जितना विकास संभव हो, उतना विकास इस चौथी दृष्टि में होता है। दीपक के प्रकाश जैसे इस दृष्टि के बोध में साधक पारलौकिक प्रमेय (आत्मा-मोक्ष आदि आत्म हितकारी पदार्थों) को अच्छी तरह से देख सकता है। हेय-उपादेय का अच्छा विवेक प्राप्त होता है। इसके बावजूद भ्रांति दोष के कारण कभी सूक्ष्म विषयों में हेय को उपादेय तथा उपादेय को हेय मानने की भूल कर बैठता है। फिर भी प्रज्ञापनीय व निराग्रही होने से यथार्थ तत्त्व को प्राप्त करने की परम योग्यता होती है। यथार्थ तत्त्व को प्राप्त करने का उपाय आगे बताया जाएगा। **दीप्रा दृष्टि में प्राप्त होनेवाले गुण वैभव को दर्शाते हुए योगदृष्टिसमुच्चय में कहा गया है कि,**

प्राणायामवती दीप्रा, न योगोत्थानवत्यलम् ।
तत्त्वश्रवणसंयुक्ता, सूक्ष्मबोधविवर्जिता ।।५७।।

- दीप्रा दृष्टि में दीपक की प्रभा समान बोध प्राप्त होता है। **'प्राणायाम'** नामक योगांग प्राप्त होता है। **'उत्थान'** नामक मन का दोष नष्ट होता है। **'तत्त्व श्रवण'** नामक गुण प्राप्त होता है। सूक्ष्म बोध इस दृष्टि में नहीं होता है।

➡ चतुर्थ योगांग भाव प्राणायाम :-

प्राणायाम के दो प्रकार हैं। (१) द्रव्य प्राणायाम तथा (२) भाव प्राणायाम। द्रव्य प्राणायाम श्वास-प्रश्वास के रोध स्वरूप है। **भाव प्राणायाम** रागादि-ममत्वादि बाह्य भावों के रेचन, ज्ञानादि-विवेकादि आंतरिक भावों के पूरण और आंतरिक भावों की स्थिरता स्वरूप है।

जैनशासन में द्रव्यप्राणायाम व्याकुलता आदि का कारण होने से निषिद्ध है। द्रव्यप्राणायाम से देहाध्यास का पोषण होने का भय रहता है और मृत्यु होने का भी भय रहता है। इसलिये प्रभु का शासन मन को योगमार्ग की आराधनाओं-भावनाओं से भावित करने के लिये कहता है। इस प्रकार द्रव्य प्राणायाम उपयोगी नहीं है।[1] भाव प्राणायाम का स्वरूप समझाते हुए **'तारादित्रय' बत्तीसी** ग्रंथ में कहा गया है कि -

रेचनाद् बाह्यभावानामन्तर्भावस्य पूरणात् ।
कुम्भानान्निश्चितार्थस्य प्राणायामश्च भावतः ।।१९।।

- परिवार-स्त्री आदि के ममत्व-रागादि बहिर्भावों के रेचन से, विवेक-ज्ञानादि आंतरिक भावों के पूरण से तथा निश्चित अर्थ के स्थिरीकरणसे भाव से प्राणायाम है।

➡ बाह्य भावों का रेचन :-

चौथी दृष्टि के साधक को तत्त्व जिज्ञासा-शुश्रूषापूर्वक तत्त्वश्रवण गुण प्राप्त होता है। इसलिये जिनवचन के श्रवण से उसे सारभूत और असारभूत तत्त्वों का बोध प्राप्त होता है। इससे सारहीन भोग-सुख, स्त्री-सुख, धन-संपत्ति, मान-

सन्मानादि के प्रति उसे ममत्व नहीं रहता है। इसलिये वह सभी बाह्य भावों के प्रति ममत्व-रागादि को दूर कर देता है - ममत्वादि मन को पीड़ा न पहुंचाएं - संतप्त न कर पाएं, ऐसे स्तर पर मन का रेचन करता है। सभी बाह्यभाव क्षणिकसुख देकर दीर्घकालीन दुःख देनेवाले होते हैं, यह उसे अच्छे से ज्ञात हो जाता है। इसलिये वह सब को दूर कर देता है। **इस दृष्टि का साधक बाह्य भावों को दूर करने के लिये भूतकाल में हुए हिंसादि पापों तथा उनके संस्कारों का नाश करने के लिये दुष्कृतों की गर्हा करता है। वर्तमान में ऐसे पापों से बचने का प्रयत्न करता है और भविष्य में ऐसे पाप जीवन में न आएं, इसका प्रणिधान करता है। इससे ममत्वादि, रागादि तथा हिंसादि बहिर्भावों के संस्कार क्रमशः शिथिल हो जाते हैं और साधक बाह्यभावों का रेचन करने के लिये समर्थ बन जाता है।**

➠ अंतर्भावों का पूरण :-

तत्त्व श्रवण के प्रभाव से प्राप्त हुए विवेक से साधक ज्ञानादि-अहिंसादि आंतरिक भावों को आत्मा में स्थापित करता है। उनकी आगे की भूमिकाओं का स्वरूप जैसे-जैसे ज्ञात होता है, वैसे-वैसे आगे की भूमिकाओं को प्राप्त करने का मनोरथ होता है और इससे आत्मा में वैराग्य, त्याग आदि को स्थापित करके ज्ञानादि रत्नत्रयी व अहिंसादि-क्षमादि धर्मों को आत्मा में स्थापित करने का पुरुषार्थ करता है।

➠ आंतरिक भावों का स्थिरीकरण (कुंभन) :-

आंतरिक भावों को हृदय में स्थापित करने के बाद उन भावों को स्थिर करने के प्रयत्न करने को **कुंभन** कहा जाता है। वैराग्यादि को हृदय में स्थापित कर उसे स्थिर करके साधक ज्ञानादि-अहिंसादि-क्षमादि आंतरिक भावों को भी स्थिर करने का प्रयत्न करता है। **यह भाव-प्राणायाम अव्यभिचारी योगांग है अर्थात् योग का नियत कारण है।**

➠ प्राण से भी अधिक है धर्म का महत्त्व :-

भाव प्राणायाम से जो गुण प्राप्त होता है, उसके बारे में बताते हुए योग० समु० ग्रंथ में कहा गया है कि,

प्राणेभ्योऽपि गुरुर्धर्मः, सत्यामस्यामसंशयम् ।
प्राणांस्त्यजति धर्मार्थं, न धर्मं प्राणसंकटे ।।५८।।

- भावप्राणायाम की प्राप्ति से दीप्रादृष्टि का साधक संशय बिना निश्चय से प्राण से अधिक धर्म को (वीतराग द्वारा प्ररूपित धर्म को) महान मानता है। एक तरफ प्राण का त्याग करने का अवसर आए और दूसरी तरफ धर्म का त्याग करने की बारी आए, तो वह (उत्सर्ग मार्ग पर) प्राण का त्याग करता है। परन्तु वह प्राण की रक्षा के लिये धर्म का त्याग नहीं करता है। धर्म के प्रति इस उत्कृष्ट प्रतिबंध का कारण दर्शाते हुए कहा गया है कि,

एक एव सुहृद्धर्मो, मृतमप्यनुयाति यः ।
शरीरेण समं नाशं, सर्वमन्यत्तु गच्छति ।।५९।।

- एक मात्र (सुंदर ढंग से आराधित) मित्र समान धर्म ही मृत्यु का अनुसरण करता है - मृत्यु के बाद साथ आता है। इसके अलावा परिवारजनादि सब अन्य पदार्थ शरीर के साथ ही नष्ट हो जाते हैं।

कुटुंब परिवार सुत दारा, सुपन सम देख जग सारा,
निकल जब हंस जाएगा, उसी दिन है सभी न्यारा ।

और स्पष्ट करते हुए योगदृष्टिसमुच्चय ग्रंथ में आगे कहा गया है कि,

इत्थं सदाशयोपेतस्तत्त्वश्रवणतत्परः ।
प्राणेभ्यः परमं धर्मं बलादेव प्रपद्यते ।।६०।।

(प्राण से भी अधिक धर्म को महान माननेवाला) सदाशय से युक्त, (धर्म के रहस्यों को समझने के लिये) तत्त्व श्रवण में तत्पर चौथी दृष्टि का साधक प्राण

से भी श्रेष्ठ धर्म को अत्यंत स्वीकार करता है।

चौथी दृष्टि के साधक को धर्म ही एक मात्र मित्रवत् लगता है। इसलिये धर्म की वृद्धि करने हेतु धर्म के रहस्य समझना चाहता है। इसके लिये तत्त्व श्रवण में तत्पर होता है। **अब चौथी दृष्टि में प्राप्त होनेवाले 'तत्त्व श्रवण' गुण के विषय में चर्चा करेंगे।**

➠ तत्त्वश्रवण :-

तीसरी दृष्टि में तत्त्व जिज्ञासा से 'तत्त्व शुश्रूषा' गुण प्राप्त हुआ था। चौथी दृष्टि में तत्त्व शुश्रूषा से फलित **'तत्त्व श्रवण'** गुण प्राप्त होता है। **(तत्त्व - श्रवणसंयुक्ता शुश्रूषा-फलभावेन... यो. दृ.)** तत्त्व को सुनने की तीव्र इच्छा तत्त्व श्रवण से सार्थक होती है। तत्त्व श्रवण से जो गुण (फल) प्राप्त होता है, उसे दर्शाते हुए **योगदृष्टि समुच्चय** ग्रंथ में कहा गया है कि,

क्षाराम्भस्त्यागतो यद्वन्मधुरोदकयोगतः ।
बीजं प्ररोहमादत्ते, तद्वत्तत्त्वश्रुतेर्नरः ।।६१।।

- खारे पानी के त्यागपूर्वक और मधुर पानी के संयोग से (जमीन में दबे) बीज का जैसे विकास होता है, वैसे ही तत्त्व श्रवण की क्रिया से जीव योगमार्ग का विकास प्राप्त करता है।

जैसे बीज को पानी की मधुरता का ज्ञान न होने के बावजूद उसके संपर्क मात्र से वह विकसित हो जाता है, वैसे ही आत्मा तत्त्व श्रवण से योगमार्ग में विकास करती है। क्योंकि, तत्त्व श्रवण में अचिंत्य सामर्थ्य होने से वह महाप्रभावशाली होता है। इसलिये उससे आत्मा गुण को धारण करती है। तत्त्व श्रवण से आत्मा हेय-उपादेय का विवेक प्राप्त करती है और हेय की घातकता एवं उपादेय की तारकता का बोध भी प्राप्त करती है। इससे हेय की निवृत्ति और उपादेय की प्रवृत्ति करने का भावोल्लास जागृत होता है और साधक गुण की प्राप्ति करता है।

समग्र भवयोग (अर्थात् अनादिकाल के परिभ्रमण के दौरान हुए सभी भवों का संबंध) खारे पानी जैसा है। क्योंकि, वे सभी जन्म अतत्त्व के श्रवण और अतत्त्व की प्रवृत्ति में ही गुजरे हैं। जिससे संसार की विषय-कषाय की प्रवृत्तियां करके आत्मा योगमार्ग से संपूर्ण विमुख रही और अपनी विभाव दशा को परिपुष्ट करके संसार का परिभ्रमण करती रही। जबकि तत्त्वश्रुति (तत्त्वश्रवण) मधुर पानी के संयोग समान है। क्योंकि, उससे योगमार्ग की भूमिका का विकास होता है। तत्त्वश्रवण से आत्मा योगमार्ग की अभिमुख बनकर योगमार्ग की भूमिकाओं को क्रमशः प्राप्त करती है।[2] **तत्त्वश्रवण से परोपकारादि गुण खिलते हैं। इससे आत्मा का नियमा कल्याण होता है। तत्त्वश्रवण से तत्त्वदाता गुरु भगवंत के प्रति भक्ति प्रकट होती है। यह गुरुभक्ति का सुख भी कल्याणकारी होता है। गुरु भगवंत की आज्ञा से अनुष्ठान का सेवन करने से आत्मा का कल्याण होता है।[3] गुरुभक्ति से आलोक व परलोक दोनों में हित होता है।**

➞ तत्त्वश्रवण का महिमा :-

बत्तीसी में कहा गया है कि, तत्त्व श्रवण रूपी मधुर पानी से सदाशय वाला (सुंदर आशय वाला) साधक भव रूपी खारे पानी के त्याग से पुण्य बीज की वृद्धि करता है।[4] (पुण्य बीज अर्थात् योगमार्ग में विकास करानेवाला बीज।) अतत्त्व श्रवण के त्याग से और तत्त्व श्रवण की प्रवृत्ति से आत्मा में योगमार्ग में विकास करने के, अनेक प्रकार के (हेय की निवृत्ति व उपादेय की प्रवृत्ति के) विशिष्ट मनोरथ होते हैं। सूक्ष्म विषयों की अज्ञानता उसे खटकती है। विवेक में कोई त्रुटि न रहे, इसकी सावधानी रहती है।

➠ उत्थान दोष का नाश :-

चौथी दृष्टि में उत्थान दोष का नाश होता है। **उत्थान अर्थात् मन की अप्रशांत वाहिता (उत्थानं चितस्याऽप्रशान्तवाहिता । षोडशक-१४।३)**

प्रशांत वाहिता अर्थात् मन की उपशांत अवस्था और अप्रशांत वाहिता अर्थात् मन की संतप्त अवस्था। चौथी दृष्टि के साधक का मन उपशांत हो जाता है। क्योंकि, बाह्य पदार्थों का आकर्षण न होने से अप्रशस्त कषायों का मन में स्फुरण नहीं होता है। तीसरी दृष्टि में क्षेप दोष चले जाने से योगमार्ग की क्रिया में आनंद व कुछ स्थिरता प्राप्त हुई, इसके बावजूद उत्थान दोष विद्यमान होने से विशेष स्थिरता प्राप्त नहीं होने के कारण योगमार्ग में विशेष उल्लासपूर्ण प्रवर्तन नहीं था। जबकि चौथी दृष्टि में उत्थान दोष नष्ट होने से विशेष स्थिरता होती है। जिससे योगमार्ग में विशेष उल्लासपूर्वक प्रवर्तन होता है।

योगदृष्टिसमुच्चयकार ने चौथी दृष्टि में अत्यंत योग उत्थान नहीं है, यह कहते हुए स्पष्टता की है कि, चौथी दृष्टि के साधक में योगमार्ग की साधना में अवरोधक बननेवाला उत्थान दोष तनिक भी नहीं होता है। **उत्थान दोष बहुत खतरनाक दोष है। क्योंकि, उत्थान दोष क्षेप, उद्वेग व खेद दोष को खींच लाता है।** साधक अप्रशस्त कषायों के फंदे में फंस जाए तो क्षेपादि दोष पुनः मन में सक्रिय हो सकते हैं। इसलिये ग्रंथि भेद करके सम्यग्दर्शन की प्राप्ति हेतु उत्थान सहित क्षेपादि तीनों दोष नष्ट होना अत्यावश्यक है। **योगमार्ग की प्रवृत्ति कितनी भी विशाल हो, फिर भी मन यदि उत्थान दोष से पीड़ित होगा तो योगमार्ग का विशेष विकास संभव नहीं होगा।**

चौथी दृष्टि के दीपक की प्रभा जैसे बोध से साधक को हेय-उपादेय का सुंदर विवेक प्राप्त होता है। इसलिये साधक की साधना हेय में ढलकर अप्रशस्त कषायों को उत्तेजित नहीं करती है। इस दृष्टि में उत्थान दोष का निवारण होने से साधक को छोटे से छोटे दोष के प्रति भी अरुचि होती है।

→ सूक्ष्म बोध का अभाव क्यों ? :-

दीप्रा दृष्टि में सूक्ष्म बोध नहीं होता है। क्योंकि, सूक्ष्म बोध वेद्यसंवेद्य पद से प्राप्त होता है, जो इस दृष्टि में नहीं होता है। सूक्ष्म बोध का लक्षण दर्शाते हुए योगदृष्टिसमुच्चय ग्रंथ में कहा गया है कि,

सम्यग्घेत्वादिभेदेन, लोके यस्तत्त्वनिर्णयः ।
वेद्यसंवेद्यपदतः, सूक्ष्मबोधः स उच्यते ।।६५।।

- हेतु-स्वरूप व फल के भेद से विद्वान लोगों में वेद्य-संवेद्य पद से जिस सम्यग् तत्त्व का निर्णय होता है, वह **सूक्ष्म बोध** कहलाता है।

हेतु-स्वरूप-फल से सभी तत्त्वों का निर्णय वेद्यसंवेद्य पद से होता है। हेतु आदि से सभी तत्त्वों का निर्णय हो, उसे **सूक्ष्म बोध** कहा जाता है। अवेद्यसंवेद्य पद के त्याग से वेद्यसंवेद्य पद की प्राप्ति होती है। चौथी दृष्टि में वेद्यसंवेद्य पद प्राप्त नहीं होने से सूक्ष्मबोध नहीं होता है।

➞ बोध की सूक्ष्मता :-

बोध में सूक्ष्मता किस कारण से आती है, यह दर्शाते हुए **योगदृष्टि समुच्चय** ग्रंथ में कहा गया है कि,

भवाम्भोधिसमुत्तारात्कर्मवज्रविभेदतः ।
ज्ञेयव्याप्तेश्च कात्स्र्येन, सूक्ष्मत्वं नायमत्र तु ।।६६।।

अर्थ :- भवसागर से पार उतारनेवाला होने से, कर्म रूपी वज्र को विशिष्ट ढंग से भंग (नष्ट) करनेवाला होने से और पूर्णतः ज्ञेय के साथ व्याप्त होने से बोध में सूक्ष्मता है और यह सूक्ष्मबोध चौथी दीप्रा दृष्टि में नहीं होता है।

सूक्ष्म बोध निपुण दृष्टि। सर्वज्ञ परमात्मा ने जिस तरह से हेय-उपादेय पदार्थों का प्रतिपादन किया है, उसी प्रकार उन पदार्थों को देखने की निपुण दृष्टि को **सूक्ष्म बोध** कहते हैं।

यह सूक्ष्मबोध आत्मा को भवसागर से पार उतारनेवाला है। क्योंकि, वह लोकोत्तर प्रवृत्ति का कारण होता है। लोकोत्तर प्रवृत्ति से भवसागर पार किया जाता है और सूक्ष्मबोध लोकोत्तर प्रवृत्ति का कारण होता है। जो प्रवृत्ति जिनवचन के अनुसार होती है वह लोकोत्तर प्रवृत्ति होती है और ऐसी प्रवृत्ति से आत्मा का

एकांत कल्याण होता है। जिनवचन के अनुसार हेय का बाह्य-आंतरिक निवर्तन और उपादेय का बाह्य-आंतरिक प्रवर्तन हो, तब प्रवृत्ति लोकोत्तर बनती है और भवसागर पार कराती है। श्री जिनेश्वर परमात्मा द्वारा निर्दिष्ट पाप की निवृत्ति और धर्म की प्रवृत्ति लोकोत्तर होती है। यह लोकोत्तर क्रिया परमात्मा द्वारा दर्शाए गये आशयपूर्वक विधिवत् की जाए तो वह लोकोत्तर होती है और भवसागर पार कराती है। **प्रवृत्ति लोकोत्तर हो, किन्तु आशय लोकोत्तर न हो, तो भी वह क्रिया संसार नाशक सिद्ध नहीं होती है। आशय लोकोत्तर हो, परन्तु प्रवृत्ति लोकोत्तर न हो, तो भी वह क्रिया संसार नाशक सिद्ध नहीं होती है।**

यह सूक्ष्मबोध कर्म रूपी वज्र को भेदने से प्राप्त होता है अर्थात् अनंतानुबंधी कषायों के नाश से (क्षयोपशम से) यह सूक्ष्मबोध प्राप्त होता है। अनंतानुबंधी कषाय वस्तु के वास्तविक स्वरूप को देखने में अवरोधक होते हैं, उनके क्षयोपशम से वस्तु का वास्तविक स्वरूप देखने की निपुण दृष्टि प्राप्त होती है। (जो कषाय मिथ्यात्व के उदय में (साथ में) प्रवर्तमान होते हैं और सम्यग्दर्शन को नहीं आने देते हैं, उन्हें अनंतानुबंधी कषाय कहते हैं।)

सूक्ष्म बोध की विद्यमानता में अनंत धर्मात्मक वस्तुओं का स्वीकार होता है। इसलिये साधक का ज्ञान सभी ज्ञेय पदार्थों में व्याप्त होता है। एक पदार्थ में (वस्तु में) भिन्न-भिन्न अपेक्षा से अनंत धर्म निहित होते हैं। सूक्ष्म बोध में ऐसी अनंत धर्मात्मक वस्तुओं का स्वीकार होता है। सूक्ष्म बोध में वस्तु का एकांत स्वीकार नहीं होता है, बल्कि (भिन्न-भिन्न दृष्टिकोण से उसमें निहित अनेक धर्मों का स्वीकार होने से) अनेकांत से स्वीकार होता है। इससे वस्तु का वास्तविक स्वरूप पकड़ में आता है, अवास्तविक स्वरूप पकड़ में नहीं आता है।

दीप्रा दृष्टि में सूक्ष्मबोध नहीं होता है। क्योंकि परमार्थ से ग्रंथि भेद नहीं होता है। स्थिरा दृष्टि (पांचवीं दृष्टि) में ग्रंथि भेद होने से तात्त्विक सूक्ष्मबोध

होता है। **यहां स्मरण रखना चाहिये कि, अनेकांत को जानना अलग बात है और अनेकांत की रुचि होना अलग बात है। जिसमें अनेकांत की रुचि होती है वह किसी वस्तु को एकांत से नहीं पकड़ता है और सर्वज्ञ के वचन से विरुद्ध जाकर भी नहीं पकड़ता है।** अनेकांत की वास्तविक रुचि ग्रंथि भेद होने के बाद सम्यग्दर्शन की उपस्थिति में ही प्रकट होती है। **सम्यग्दर्शन की उपस्थिति में कदाचित ऐसा संभव हो सकता है कि, अनेकांत का विस्तार से बोध न हो, संक्षिप्त बोध ही हो। परन्तु अनेकांत की रुचि तो तात्त्विक ही होती है। इस कारण सम्यग्दृष्टि का बोध लोकोत्तर प्रवृत्ति का कारण बनता है और भवसागर पार कराता है। पूर्व में कहा था कि,** वेद्यसंवेद्य पद से सूक्ष्मबोध प्राप्त होता है और अवेद्यसंवेद्य पद के त्याग से वेद्यसंवेद्य पद प्राप्त होता है। अब अवेद्यसंवेद्य पद और वेद्यसंवेद्य पद के स्वरूप की चर्चा करेंगे।

➡ अवेद्यसंवेद्य पद :-

अवेद्यसंवेद्य पद अर्थात् मिथ्यादृष्टि का आशय स्थान अर्थात् विपरीत बोध का स्थान, उसे अवेद्यसंवेद्य पद कहा जाता है अर्थात् अवेद्य का संवेदन करानेवाले आशय स्थान को अवेद्यसंवेद्य पद कहा जाता है अर्थात् सर्वज्ञ परमात्मा ने संसार तथा मोक्ष के जो कारण दर्शाए हैं, मिथ्यादृष्टि में उनसे विपरीत बोध होता है, वह संसार के कारणों को मोक्ष के कारण मानता है और मोक्ष के कारणों को संसार का कारण मानता है। **संक्षेप में, अवेद्य के संवेदन के आशय स्थान को अवेद्यसंवेद्यपद कहा जाता है** और इसीलिये अवेद्य संवेद्य पद परमार्थ से सच्चा पद नहीं है। क्योंकि, वस्तु तत्त्व को वह यथास्थित स्वीकार नहीं करता है।[5] **मिथ्यादृष्टि आत्मा वस्तु तत्त्व को यथावस्थित स्वीकार नहीं करता है, इसलिये उसका बोध विपरीत होता है।**

➡ वेद्यसंवेद्य पद :-

वेद्य अर्थात् जानने योग्य के संवेदन का आशय स्थान। इसे **वेद्य संवेद्य पद**

कहते हैं अर्थात् अपाय व अभ्युदय-निःश्रेयस के कारणों का जिसमें सच्चा संवेदन होता है उसे **वेद्य संवेद्य पद** कहा जाता है अर्थात् संसार के कारण व मोक्ष के कारण का जिसमें यथार्थ बोध होता है, उसे वेद्य संवेद्य पद कहा जाता है। वेद्यसंवेद्य पद वाली सम्यग्दृष्टि आत्मा को आगम द्वारा स्पष्ट संसार व मोक्ष, बंध और निर्जरा, पुण्य व पाप आदि विषयों का बोध होता है।[6] **ग्रंथिभेद होने के बाद सम्यग्दर्शन आदि की विद्यमानता में इस वेद्यसंवेद्य पद की प्राप्ति होती है।**[7] इसके बाद ही सभी धर्मक्रियाएं भावक्रियाएं बनती हैं।

यहां उल्लेखनीय है कि, 'तारादित्रय' बत्तीसी में कहा गया है कि, प्रथम गुणस्थानक में मिथ्यात्व की मंदता-मंदतरता-मंदतमता से प्राप्त होनेवाली मित्रादि चार दृष्टियों में अवेद्य संवेद्य पद अधिक होता है और अंशतः वेद्य संवेद्य पद प्रकट होता है। इसके बावजूद इस अवस्था में प्राप्त होनेवाला वेद्य संवेद्य पद तात्त्विक नहीं होता है। क्योंकि, इस अवस्था में हेय की निवृत्ति और उपादेय की जो प्रवृत्ति होती है, वह हेयनिवृत्ति और उपादेय की प्रवृत्ति पक्षी की छाया में होनेवाली जलचर की प्रवृत्ति जैसी अतात्त्विक होती है।[8] आकाश में उड़ते पक्षी के (तालाब के पानी में पड़नेवाले) प्रतिबिंब में जलचर की प्रवृत्ति जैसे गलत होती है, वैसे ही यहां भी समझना चाहिये। इसके बावजूद **यहां अतात्त्विक का अर्थ मिथ्या नहीं लेना है। कहने का तात्पर्य यह है कि,** मुख्य वेद्य संवेद्य पद (स्थिरा दृष्टि में) सम्यग्दृष्टि में होता है। क्योंकि, वह बंध व मोक्ष के कारणों को यथार्थ रूप से जानता है और उसकी पूर्व भूमिका स्वरूप प्रथम चार दृष्टियों में वेद्य संवेद्य पद होता है। क्योंकि, चार दृष्टियों के साधक भी कर्मबंध-मोक्ष के कारणो को अंशतः यथार्थ रूप से जानने लगते हैं। इसके बावजूद चार दृष्टियों तक के बोध में विपर्यास होता है। इसलिये अवेद्य संवेद्य पद प्रवर्तमान होता है। इसलिये प्रथम चार दृष्टियों में अंशतः वेद्य संवेद्य पद होता है **और अंशतः अवेद्य संवेद्य पद होता है** तथा अवेद्य संवेद्य पद बलवान होता है। **इसके अलावा चार दृष्टियों में अंशतः जो वेद्य संवेद्य पद प्राप्त होता**

है, वह भी चरम यथाप्रवृत्तिकरण के सामर्थ्य से प्रकट होता है[8]। ऐसा **'तारादित्रय' बत्तीसी** में उल्लेख है।

यद्यपि प्रथम चार दृष्टि की पूर्वावस्था में अवेद्य संवेद्य पद अनिवर्तनीय होता है। जबकि प्रथम चार दृष्टियों में क्रमशः निवृत्त होता है। चौथी दृष्टि में इसका संपूर्ण निवर्तन नहीं हुआ है। चौथी दृष्टि के अंत में ही इसका संपूर्ण निवर्तन होता है। संपूर्ण निवर्तन (नाश) करने के उपाय आगे बताए जाएंगे।

➡ वेद्यसंवेद्य पद में अपायशक्ति की मलीनता नहीं :-

वेद्यसंवेद्य पद से सूक्ष्म बोध प्राप्त होता है। क्योंकि वेद्यसंवेद्य पद में सूक्ष्म बोध का नाश करनेवाली अपाय शक्ति की मलीनता नहीं होती है अर्थात् नरकादि दुर्गति में जाने योग्य संक्लिष्ट परिणामों के बीज की शक्ति विद्यमान नहीं होती है।[9] **इससे फलित होता है कि,** दीप्रा दृष्टि में अवेद्यसंवेद्य पद होने के कारण सूक्ष्मबोध का घात करनेवाली अपायशक्ति की मलीनता होती है। इसलिये जीवात्मा नरकादि दुर्गति में जा सकता है। **यहां एक बात सविशेष स्मरण रखनी चाहिये कि,** प्रथम चार दृष्टियों में प्रवर्तमान जीवात्माओं का बोध जब तक जीवित होता है, तब तक उन्हें दुर्गति में ले जानेवाला कर्मोपार्जन नहीं होता है। परन्तु इस बोध के चले जाने पर दुर्गति के कारण कर्मोपार्जन हो सकते हैं।

➡ अपाय दर्शन :-

अवेद्यसंवेद्य पद में अपाय दर्शन (दोष दर्शन) तात्त्विक नहीं होता है अर्थात् दीप्रा दृष्टि में साधक संसार में परिभ्रमण के कारण जानने के बावजूद उसे भ्रांति दोष के कारण पारमार्थिक अपाय दर्शन नहीं होता है। इस कारण अनाभोग से भी उससे पाप में प्रवृत्ति हो जाती है। जबकि वेद्यसंवेद्य पद में तात्त्विक अपाय दर्शन होता है। इसलिये उनकी पाप में प्रवृत्ति नहीं होती है। कदाचित इस प्रकार के कर्मो के कारण पाप में प्रवृत्ति हो भी जाए तो भी वह **'तप्तलोहपदन्यास'**

समान होती है अर्थात् एक स्थल से दूसरे स्थल पर जाने के लिये अन्य मार्ग न हो और ऐसे मार्ग से ही जाना पड़े जहां लोहे की गरम टीन से होकर गुजरना पड़े तो ऐसे समय में जैसे यात्री अन्य विकल्प न होने के कारण वहां से गुजरता है और जल्दी-जल्दी पैर रखते हुए गुजर जाता है, वैसे ही सम्यग्दृष्टि (वेद्य संवेद्य पद वाली आत्मा) भी अंततः (रस बिना) पाप करती है किन्तु उसमें रुचि लेकर प्रवृत्ति नहीं करती है। कर्म योग ही उसे जो पाप प्रवृत्ति करनी पड़ती है, वह उसकी अंतिम पाप प्रवृत्ति होती है। आगे से उसे पाप प्रवृत्ति नहीं करनी पड़ती है। क्योंकि उसके पास तीव्र संवेग के परिणाम होते हैं।[10]

➠ अवेद्यसंवेद्य पद को जीतना आवश्यक है :-

मोक्षमार्ग के साधक के लिये तात्त्विक भावधर्म की प्राप्ति हेतु सूक्ष्मबोध प्राप्त करना आवश्यक है। अवेद्यसंवेद्य पद को जीतकर वेद्यसंवेद्य पद प्राप्त किया जाए तो ही सूक्ष्मबोध प्राप्त होता है। अवेद्यसंवेद्य पद जीतना कठिन अवश्य है, परन्तु असंभव नहीं है। अनादिकाल से आत्मा से लिपटे मिथ्यात्व नामक रोग को दूर किये बिना अवेद्यसंवेद्य पद नहीं जीता जा सकता है। अवेद्यसंवेद्य पद को जीतने के उपाय दर्शाते हुए बत्तीसी नामक ग्रंथ में कहा गया है कि,

अवेद्यसंवेद्यपदं सत्संगमागमयोगतः ।
तद् दुर्गतिप्रदं जेयं परमान्दमिच्छता ।।३२।।

इसलिये परमानंद के इच्छुक साधक को दुर्गति देनेवाले अवेद्य संवेद्य पद को सत्संग तथा आगम के सहयोग से जीतना चाहिये।

अवेद्य संवेद्य पद को जीतने के दो उपाय हैं। (१) सत्संग (सत् पुरुषों का विशिष्ट प्रकार का संग) और (२) आगम का योग।

आगम ज्ञाता व भवभीरू-संविग्न सत् पुरुषों के संग से आगम के पदार्थों का ज्ञान सहज प्राप्त होता है और उनका अनुभव भी हमें प्राप्त होता है। इससे अनेक प्रकार की भ्रांतियों का निर्मूलन होता है और सर्वज्ञ परमात्मा ने जैसा

कहा है वैसा ही ज्ञान हमें प्राप्त होता है। **यहां स्मरण रखना चाहिये** कि, आगमज्ञ सत् पुरुषों के संग से आगम के पदार्थों का ज्ञान प्राप्त करने के पश्चात् भी यदि उन पदार्थों के विषय में यथार्थ रुचि प्रकट न हो तो अवेद्य संवेद्य पद को जीतना असंभव हो जाता है अर्थात् आगम द्वारा निर्दिष्ट हेय-उपादेय पदार्थों को जानने के बाद हेय की निवृत्ति व उपादेय की प्रवृत्ति में रुचि प्रकट न हो तो अवेद्य संवेद्य पद को नहीं जीता जा सकता। **इसके अलावा अज्ञानता के कारण पकड़ी हुई मान्यताओं को तिलांजलि न दी जाए तो भी अवेद्य संवेद्य पद को *नहीं जीता जा सकता है। इसलिये सत्पुरुषों से मध्यस्थी बनकर ज्ञान प्राप्त* करना है और स्वदर्शन अथवा स्वमान्यता का राग तथा परदर्शन या परमान्यता का द्वेष छोड़कर यथार्थ रुचि विकसित करनी चाहिये।**

इसके अतिरिक्त अवेद्यसंवेद्य पद को जीतने का दूसरा उपाय आगम का संबंध है अर्थात् आगम का अध्ययन, उसके पदार्थों का चिंतन-मनन-निदिध्यासन करना चाहिये।

संक्षेप में अवेद्यसंवेद्य पद को जीतने के लिये...

➞ मध्यस्थता विकसित करना आवश्यक है।

➞ स्वदर्शन-स्वमान्यता का राग व परदर्शन-परमान्यता का द्वेष छोड़कर आगमज्ञ, संविग्न, भवभीरू सत्पुरुषों से मध्यस्थतापूर्वक ज्ञान प्राप्त करना आवश्यक है।

➞ संप्राप्त ज्ञान का बार-बार चिंतन-मनन-निदिध्यासन करके तत्त्व निर्णय पर पहुंचना और उसके द्वारा यथार्थ रुचि विकसित करना आवश्यक है।

➞ **अज्ञानता के कारण अथवा शास्त्रविरुद्ध कुलाचार आदि से पकड़ी गलत मान्यताओं को तिलांजलि देना आवश्यक है।**

➞ आगम का अध्ययन, उसके पदार्थों का बार-बार चिंतनादि करना आवश्यक है।

➞ संसार-मोक्ष के उपायों के विषय में एक भी भ्रांति न रहे, इसकी

सावधानी बरतनी चाहिये। जहां ऐसा लगे कि कुछ विषय में मुझे संशय है, वहां ज्ञानी सत्पुरुषों से यथार्थ तत्त्व समझकर संशय दूर करना चाहिये। जगत में व्याप्त मिथ्या विकल्पों की वासना मन में उत्पन्न न हो, इसकी सावधानी भी बरतनी चाहिये।

➞ अतीन्द्रिय पदार्थों के विषय में आगम ही प्रमाणभूत है। इसलिये कुतर्क से आगम के पदार्थों को भंग न करें और आगम के पदार्थों को मात्र तर्क से स्वीकारने का आग्रह न रखें।

➞ आगमगम्य (आगम से जिनका ज्ञान हो ऐसे) पदार्थों को आगम से जानने का और तर्कगम्य पदार्थों को तर्क से जानने का प्रयत्न करना चाहिये।[12] आगमगम्य पदार्थों को तर्क से समझने का दुराग्रह नहीं रखना चाहिये।

➞ कुतर्क का सहारा कदापि नहीं लेना चाहिये। जहां समझ में न आए वहां आगमज्ञ, संविग्न और भवभीरू महापुरुषों की शरण लेनी चाहिये।

➞ जहां उत्सूत्र प्ररूपणा होती हो, उस स्थल से दूर-सुदूर रहना चाहिये। मिथ्यामति से परिचय नहीं करना चाहिये और उनके गुणों (गुणाभासों) की प्रशंसा भी नहीं करनी चाहिये।

यहां सविशेष स्मरण रखना चाहिये कि, मोक्ष मार्ग को समझने के लिये आगम ग्रंथों ने जो सीमा निर्धारित की है, उसका सोच-समझकर अमल करना चाहिये। **मोक्षमार्ग किसके पास समझना चाहिये ? इसका मार्गदर्शन देते हुए ३५० गाथा के स्तवन में कहा गया है कि,**

गीतारथ जयणावंत, भवभीरू जेह महंत,
तस वयणे लोके तरीए, जिम प्रवहणथी भवदरिये। (ढाल- ४/५)

● अवेद्य संवेद्य पद जीतने के लिये आगम वचनों का श्रवण तथा परिशीलन करना चाहिये। इसके अलावा श्रवण-परिशीलन के समय कुतर्क नहीं करने

चाहिये। क्योंकि, कुतर्क यथार्थ बोध नहीं होने देते हैं। इसलिये कुतर्क का त्याग करना चाहिये। यद्यपि सत्पुरुषों के संग तथा आगम के योग से अवेद्यसंवेद्य पद को जीतना संभव हो जाता है और अवेद्य संवेद्य पद को जीतने से कुतर्क की स्वतः निवृत्ति हो जाती है।[12] तथापि इतना तो अवश्य ध्यान रखना चाहिये कि, कुतर्क न छोड़े जाएं तो सत्पुरुषों का संग व आगम का योग विफल हो जाता है। इससे मिथ्यात्व भी नष्ट होने के स्थान पर और बढ़ता है। इसलिये कुतर्क का कभी सहारा नहीं लेना चाहिये। ज्ञानियों ने कुतर्क को बहुत भयंकर बताया है।

➠ कुतर्क की भयंकरता :-

विषयों का विराग तथा कषायों की हानि होने के बाद भी कुतर्कों का जाल ग्रंथि भेद नहीं होने देता है और सम्यग्दर्शन को प्राप्त नहीं करने देता है। प्रथम चार दृष्टियों में विषयों का विराग प्राप्त हुआ है और क्रमशः बढ़ा है तथा कषायों की खासी हानि हुई है और चौथी दृष्टि में उत्थान दोष का नाश होने से अप्रशस्त कषाय में कहीं रुचिपूर्वक प्रवृत्ति नहीं होती है। इसके बावजूद मिथ्यात्व की उपस्थिति के कारण भ्रांति दोष विद्यमान होने से बुद्धि में विपर्यास होता है। इसलिये संसार-मोक्ष के कारणों के विषयों में विपर्यास हो सकता है। जिससे स्वयं के माने हुए पदार्थों में आग्रह भी हो सकता है और इसलिये अपने अभिप्राय की सफलता हेतु मन में कुतर्क भी उठ सकते हैं। कुतर्क होते हैं वहां तक यथार्थ बोध-रुचि प्राप्त होना संभव नहीं होता है। **कुतर्क की भयंकरता दर्शाते हुए योग दृष्टि समुच्चय ग्रंथ में कहा गया है कि,**

बोधरोगः शमाऽपायः, श्रद्धाभङ्गोऽभिमानकृत् ।
कुतर्कश्चेतसो व्यक्तं, भावशत्रुरनेकधा ।।८७।।

- बोध के लिये रोग समान, शम के लिये अपायभूत, श्रद्धा का नाश करनेवाला और अभिमान करानेवाला कुतर्क अंतःकरण का अनेक प्रकार से प्रकट भावशत्रु है।

→ **बोध रोग :- कुतर्क बोध के लिये रोग समान है।** जैसे रोग शरीर के स्वास्थ्य को हानि पहुंचाकर उसके सामर्थ्य का हरण कर लेता है। वैसे ही कुतर्क निर्मल बोध की प्राप्ति नहीं होने देता है। जिसके द्वारा प्रभु वचन के परमार्थ (ऐदंपर्यार्थ) तक पहुंचा जा सके उसे **सुतर्क** कहते हैं और जिससे प्रभु वचन के रहस्य को प्राप्त न किया जा सके उसे **कुतर्क** कहा जाता है। कुतर्क अनेक प्रकार के विकल्पों को तैयार करके तत्त्व के रहस्य तक नहीं पहुंचने देता है। कुतर्क अनादिकालीन भ्रांतियों को पोषित करता है। इससे स्पष्ट बोध प्राप्त नहीं हो पाता है।

→ **शमाऽपाय :- कुतर्क शम (उपशम) का नाश करता है।** क्योंकि, वह असद् अभिनिवेश को पैदा करता है। हित की प्रवृत्ति में उपशम भाव की अत्यावश्यकता होती है। निर्मल बोध ही हित की प्रवृत्ति में उपशम भावपूर्वक प्रवृत्ति करवा सकता है। हित की प्रवृत्ति को तात्त्विक बनाने के लिये उपशम भाव में यत्न करना आवश्यक है। कुतर्क उपशम का नाश करता है। क्योंकि, कुतर्क स्वयं के द्वारा उत्पन्न किये गये विकल्पों में अभिनिवेश (आग्रह) पैदा करता है और असद् अभिनिवेश उपशम भाव में रहने में अवरोधक बनता है।

→ **श्रद्धा भंग :- कुतर्क श्रद्धा को भंग करता है।** क्योंकि, उसका स्वयं के माने हुए विकल्पों को ही सच मानने का आग्रह होता है। इस कारण जिनवचन को (आगम के पदार्थों को) वह स्वीकार नहीं करता है और आगम के अर्थ को स्वीकार करे तो भी वह विपरीत ढंग से ही स्वीकार करता है।

→ **अभिमानकृत् :- कुतर्क अभिमानी बनाता है।** क्योंकि, वह मिथ्या अभिमान का जनक होता है। 'मैं अतीन्द्रिय पदार्थों को अच्छी तरह से देख सकता हूं।' कुतर्क इस प्रकार के मिथ्याभिमान को उत्पन्न करता है।

इस प्रकार कुतर्क आध्यात्मिक विकास के अनन्य उपायभूत बोध, उपशम, श्रद्धा तथा नम्रता का नाश करता है, इसलिये अंतःकरण का अनेक प्रकार

से भाव शत्रु है। इसीलिये जिस साधक को अवेद्यसंवेद्य पद को जीतना है, उस साधक को कुतर्क में अभिनिवेश नहीं करना चाहिये। बल्कि श्रुत, शील व समाधि में आग्रह रखना चाहिये। ऐसा योगदृष्टिसमुच्चय ग्रंथ में कहा गया है।

कुतर्केऽभिनिवेशस्तन्न युक्तो मुक्तिवादिनाम् ।
युक्तः पुनः श्रुते शीले, समाधौ च महात्मनाम् ।।८८।।

- मुक्तिवादियों के लिये कुतर्क में अभिनिवेश करना योग्य नहीं है। बल्कि श्रुत, शील व समाधि में अभिनिवेश करना उचित है। कहने का तात्पर्य यह है कि, मोक्ष के अभिलाषी जीवात्माओं को उत्तरवर्ती भूमिकाओं को प्राप्त करने के लिये कुतर्कों का सहारा कदापि नहीं लेना चाहिये। बल्कि श्रुत, शील व समाधि में आग्रह रखना चाहिये अर्थात् आगमादि ग्रंथों के अध्ययन, चिंतन, मनन आदि में अभिनिवेश रखना चाहिये। अन्य के द्रोह की विरति स्वरूप शील में आग्रह रखना चाहिये। कभी अन्य व्यक्ति के प्रति द्रोह न करें और ध्यान के फलीभूत समाधि को प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिये। इसके अलावा श्रुतादि के बीजभूत (कारण) परोपकार करने का अभिनिवेश रखना चाहिये।

बीजं चास्य परं सिद्धमवन्ध्यं सर्वयोगिनाम् ।
परार्थकरणं येन, परिशुद्धोऽत्र च ।।८९।। (यो. दृ. समु.)

परोपकार श्रुतादि का परम कारण है। जिसे भी श्रुतादि को प्राप्त करना हो, उसे यथाशक्ति परोपकार करना चाहिये। अवेद्यसंवेद्य पद को जीतने के लिये निर्मल बोध आदि की अत्यावश्यकता होती है। यह श्रुतादि व उसके कारण परोपकार के सेवन से सहज हो जाते हैं। **इसलिये अवेद्यसंवेद्य पद जीतकर वेद्यसंवेद्य पद प्राप्ति हेतु... आगम का अध्ययन, तारक तत्त्वों की वफादारी, जिनवचन के प्रति अखंड समर्पण, समाधि की भूमिकाओं का पुरुषार्थ व अन्य जीवात्माओं पर निःस्वार्थ परोपकारभाव रखना चाहिये।**

इस प्रकार चौथी दीप्रा दृष्टि में अवेद्यसंवेद्य पद होने से सूक्ष्मबोध नहीं होता है। अवेद्यसंवेद्य पद को जीता जाए तो ही सूक्ष्मबोध प्राप्त होता है। पूर्व में बताये गये उपायों द्वारा अवेद्यसंवेद्य पद को जीतकर जो साधक वेद्यसंवेद्य पद को प्राप्त करता है, उसे सूक्ष्म बोध प्राप्त होता है।

इस प्रकार प्रथम गुणस्थानक में साधक क्रमशः योग की चार दृष्टियां प्राप्त करता है और चौथी दृष्टि के अंत में ग्रंथिभेद करके सम्यग्दर्शन प्राप्त करके चतुर्थ गुणस्थानक में पहुंचता है। चतुर्थ गुणस्थानक में पांचवीं स्थिरा और छठवीं कांता योगदृष्टि को प्राप्त करता है।

संक्षेप में दीप्रा दृष्टि का सार...

- दीप्रा दृष्टि में दीपक की प्रभा समान विशिष्ट बोध की प्राप्ति होती है। भावप्राणायाम नामक योग के चतुर्थ अंग की प्राप्ति होती है। मन का उत्थान नामक दोष नष्ट होता है। मन में प्रशांत वाहिता का संचार होता है। तत्त्वश्रवण नामक गुण प्राप्त होता है, जो मीठे पानी की भांति धर्म बीज के अंकुरों को अंकुरित करता है।

- इस दृष्टि में अवेद्यसंवेद्य पद की विद्यमानता के कारण सूक्ष्म बोध नहीं होता है। अपाय दर्शन तात्त्विक नहीं होता है।

→ चार दृष्टियों तक अवेद्यसंवेद्य पद होने के कारण वैराग्य भी मोहगर्भित होता है।[13] चौथी दृष्टि तक भवाभिनंदीपना के अंश प्रवर्तमान होते हैं। इसलिये अवेद्यसंवेद्य पद वाले भवाभिनंदी जीवात्माओं को पुण्य निरनुबंध व पाप सानुबंध होता है।[14] सम्यक्त्व रहित अवेद्यसंवेद्य पद वाले जीवात्माओं में मंद-मंद किन्तु मिथ्यात्व का उदय प्रवर्तमान होता है और इससे विपर्यास भी प्रवर्तमान होता है। मिथ्यात्व का उदय व्यक्त रूप से उपयोग में प्रवर्तमान हो तब धर्म की प्रवृत्ति से पाप के अनुबंधवाला पुण्योपार्जन होता है और जब उस मिथ्यात्व का उदय उपयोग में अव्यक्त रूप से प्रवर्तमान हो तब धर्म प्रवृत्ति से उपजनेवाला पुण्य

निरनुबंध होता है।[15] सम्यक्त्व प्राप्ति के बाद ही सानुबंध पुण्योपार्जन होता है, **यह स्मरण रखना चाहिये।** यद्यपि चार दृष्टिवाले जीवात्माओं में अवेद्यसंवेद्य पद की विद्यमानता के कारण भवाभिनंदीपना तत्त्व के कुछ अंश भी हैं, इसलिये भव के कारण विपर्यास को (सुख के कारणों को दुःख के कारण और दुःख के कारणों को सुख के कारण मानने रूपी विपर्यास को) साररूप में देखता है। इससे ये जीवात्मा संसार की प्रवृत्ति करके पापोपार्जन करते हैं तब सानुबंध करते हैं। क्योंकि, मिथ्यात्व का उदय प्रवर्तमान होने से अनंतानुबंधी कषाय भी प्रवर्तमान होते हैं। परन्तु दोनों मंद हैं और गुणवान् पुरुष के सान्निध्य से निवृत्त होने योग्य हैं।[16] **(यहां स्मरण रखना चाहिये कि, चार दृष्टियों में पुण्यानुबंधी पुण्य का उपार्जन भी चालू हो गया है। परन्तु पुण्य के अनुबंध अल्प होने से उनकी विवक्षा नहीं की। प्रथम चार दृष्टियों में वेद्य संवेद्य पद अंशतः प्रवृत्त है। इसलिये पुण्य के अनुबंध भी होते हैं।)**

● अवेद्यसंवेद्य पद को जीतकर वेद्यसंवेद्य पद को प्राप्त करने के दो उपाय हैं। (१) आगम ज्ञाता-भवभीरू सत्पुरुषों का संग और (२) आगम का संबंध (आगम के पदार्थों का चिंतन-मनन-निदिध्यासन।)

➞ **टिप्पणकम् :-1.** भगवत्प्रवचने तु व्याकुलताहेतुत्वेन निषेद्ध एव श्वास-प्रश्वासरोधः, यथायोगसमाधानमेव प्रवृत्तेः श्रेयस्त्वात्, प्राणरोधपलिमन्थस्यानतिप्रयोजनत्वात्। तदुक्तं - "उस्साणं ण णिरुंभइ आभिग्गहिओ वि किमुअ चेट्ठा उ। सज्झमरणं निरोहे सुहुमुस्सासं च जयणाए" ।। **(आवश्यकनिर्युक्ति - १५१०) 2.** क्षाराम्भस्तुल्य इह च भवयोगोऽखिलो मतः। मधुरोदकयोगेन, समा तत्त्वश्रुतिस्तथा ।।६२।। **(यो०दृ०समु०) 3.** अतस्तु नियमादेव, कल्याणमखिलं नृणाम्। गुरुभक्तिसुखोपेतं, लोकद्वयहितावहम् ।।६३।। **(यो० दृ० समु०)** पुण्यबीजं नयत्येवं तत्त्वश्रुत्या सदाशयः। भवक्षाराम्भसस्त्यागाद्वृद्धिं मधुरवारिणा ।।२१।। **(तारादित्रयद्वात्रिंशिका) 4.** पुण्यबीजं नयत्येवं तत्त्वश्रुत्या सदाशयः । भवक्षाराम्भसस्त्यागाद्वृद्धिं मधुरवारिणा ।।२१।। **(तारादित्रय-द्वात्रिंशिका) 5.** अवेद्यसंवेद्यपदमिति मिथ्यादृष्ट्याशयस्थानम्, अत एवाह 'अपदं परमार्थतः' - यथावस्थितवस्तुतत्त्वाऽनापादनात्। **(यो० दृ० समु० - ७२ टीका) 6.** वेद्यं संवेद्यते

यस्मिन्नपायादिनिबन्धनम्। तथाऽप्रवृत्तिबुद्ध्यापि, स्रयाद्यागमविशुद्धया।। ७३।। तत्पदं साध्वस्थानाद्भिन्नग्रन्थ्यादिलक्षणम्। अन्वर्थयोगतस्तन्त्रे वेद्यसंवेद्यमुच्यते ।।७४।। **(यो० द० समु० ७४) 7.** अवेद्यसंवेद्यपदं चतसृष्वासु दृष्टिषु। पक्षिच्छायाजलचरप्रवृत्त्याभं यदुल्बणम् ।।२२-२४।। **(तारादित्रयद्वात्रिंशिका) 8.** आसु मित्राद्यासु चतसृषु दृष्टिषु, यद् - यस्मादवेद्यसंवेद्यपदं उल्वणम् - अधिकं, पक्षिच्छायायां जलसंसर्गिन्यां जलचरधिया जलचरप्रवृत्तिरिवाभा वेद्यसंवेद्यपद सम्बन्धिनी यत्र तत्तथा, तत्र हि न तात्त्विकं वेद्यसंवेद्यपदं, किन्तु आरोपाधिष्ठानसंसर्गितयाऽतात्त्विकम् अत एवानुल्बणमित्यर्थः, एतदपि चरमासु (परमासु) चरमयथाप्रवृत्तकरणेन एवेत्याचार्याः। **(तारादित्रयद्वात्रिंशिका-२४ टीका) 9.** अपायशक्तिमालिन्यं सूक्ष्मबोधविघातकृत् । न वेद्यसंवेद्यपदे वज्रतण्डुलसन्निभे ।।२६।। **(तारादित्रयद्वात्रिंशिका)10.** अपायदर्शनं तस्माच्छुतदीपान्न तात्त्विकम्। तदाभालम्बनं त्वस्य, तथा पापे प्रवृत्तितः ।।६९।। अतोऽन्यदुत्तरास्वस्मात्पापे कर्मागसोऽपि हि। तप्तलोहपदन्यासतुल्या वृत्तिः क्वचिद्यदि ।।७०।। वेद्यसंवेद्यपदतः, संवेगातिशयादिति। चरमैव भवत्येषा, पुनर्दुर्गत्ययोगतः ।।७१।। **(यो०दृ० समु०)**"ते पद ग्रन्थिभेदथीजी छेहली पापप्रवृत्ति, तप्तलोहपदधृतिसमीजी तिहां होय अन्ते निवृत्ति **(यो. दृ. सज्झाय-४/७)"11.** आज्ञयागमिकार्थानां, यौक्तिकानां च युक्तितः । न स्थाने योजकत्वं चेन्न तदा ज्ञानगर्भता।। **(अध्यात्मसार - २ / ६ / ३७) 12.** जीयमाने च नियमादेत-स्मिंस्तत्त्वतो नृणाम् । निवर्तते स्वतोऽत्यन्तं कुतर्कविषमग्रहः ।।८६।। (यो०दृ०समु०) **13.** प्रवृत्तिरपि योगस्य वैराग्यान्मोहगर्भतः। प्रसूतेऽपायजननीमुत्तरां मोहवासनाम्।।२८।। **14.** अवेद्यसंवेद्यपदे पुण्यं निरनुबन्धकम्। भवाभिनन्दिजन्तूनां पापं स्यात्सानुबन्धकम् ।।२९।। **(तारादित्रयद्वात्रिंशिका) 15.** अवेद्यसंवेद्यपदे पुण्यं निरनुबन्धकम् - अनुबन्धरहितं स्यात्, यदि कदाचिन्न स्यात् पापानुबन्धि, सानुबन्धे तत्र ग्रन्थिभेदस्य नियामकत्वात्। **(16)** भवाभिनन्दिनां क्षुद्रत्वादिदोषवतां जन्तूनां पापं सानुबन्धकम् अनुबन्धसहितं स्यात्, रागद्वेषादिप्राबल्यस्य तदनुबन्धावन्ध्यबीजत्वात् ।। **(तारादित्रयद्वात्रिंशिका - २९/ टीका)**

✦✦✦

प्रकरण - ७ :

अपनुर्बंधक अवस्था में ३२ आदि कर्मों का सेवन :-

अपुनर्बंधक आदि धार्मिक आत्मा है। 'श्रीललित विस्तरा' नामक ग्रंथ में अपुनर्बंधकअवस्था प्राप्त आत्मा की प्रवृत्ति मोक्षमार्ग की दिशा में हो और उसकी योग्यता का विकास हो, इसलिये उसे ३२ आदि कर्मों का सेवन करने का उपदेश दिया गया है। ये आदि कर्म इस प्रकार हैं -

एतत्सिद्ध्यर्थं तु यतितव्यमादिकर्माणि-परिहर्त्तव्यो अकल्याणमित्रयोगः[१], सेवितव्यानि कल्याणमित्राणि[२], न लङ्घनीयोचितस्थितिः[३], अपेक्षितव्यो लोकमार्गः[४], माननीया गुरुसंहतिः[५], भवितव्यमेतत्तन्त्रेण[६], प्रवर्त्तितव्यं दानादौ[७], कर्तव्योदारपूजा भगवतां[८], निरुपणीयः साधुविशेषः[९], श्रोतव्यं विधिना धर्मशास्त्रं[१०], भावनीयं महायत्नेन[११], प्रवर्त्तितव्यं विधानतः[१२], अवलम्बनीयं धैर्यं[१३], पर्यालोचनीया आयतिः[१४], अवलोकनीयो मृत्युः[१५], भवितव्यं परलोकप्रधानेन[१६], सेवितव्यो *गुरुजनः*[१७], *कर्त्तव्यं योगपट्टदर्शनं*[१८], *स्थापनीयं तद्गुरुप्रादि चेतसि*[१९], *निरुपयितव्या* धारणा[२०], परिहर्त्तव्यो विक्षेपमार्गः[२१], यतितव्यं योगसिद्धौ[२२], कारयितव्या भगवत्प्रतिमाः[२३], लेखनीयं भुवनेश्वरं वचनं[२४], कर्त्तव्यो मंगलजापः[२५], प्रतिपत्तव्यं चतुःशरणं[२६], गर्हितव्यानि दुष्कृतानि[२७], अनुमोदनीयं कुशलं[२८], पूजनीया मन्त्रदेवताः[२९], श्रोतव्यानि सच्चेष्टितानि[३०], भावनीयमौदार्य्यं[३१], वर्त्तितव्यमुत्तमज्ञातेन[३२]।

- अपुनर्बंधक आत्मा को निम्नलिखित ३२ आदि कर्मों का आचरण करना है।

१. अकल्याणमित्र का त्याग करना :- जो व्यक्ति अनादिकालीन वासनाओं-असंस्कारों को उत्तेजित करे, पाप प्रवृत्तियों में खींचे, उन्मार्ग को सन्मार्ग और सन्मार्ग को उन्मार्ग बताये, हमारे जीवन में बुरी आदतों-व्यसनों आदि को प्रवेश

कराये, उस व्यक्ति को **अकल्याण मित्र** कहा जाता है। अकल्याण मित्र के संग से मानसिक, शारीरिक तथा आत्मिक पतन होता है। इसलिये उसका त्याग करना चाहिये। प्रारम्भिक स्तर के साधक निमित्तवासी होते हैं। खराब निमित्त मिलने से आत्मा पतित होती है और अच्छे निमित्त मिलने से उर्ध्वगामी बनती है। **(संसर्गजन्या गुण-दोषव्राताः।)**

२. कल्याण मित्र का संग करना :- कल्य अर्थात् आत्मा का शुद्ध स्वरूप अर्थात् मोक्ष। मोक्ष प्राप्ति की सामग्री को कल्याण कहा जाता है। मोक्ष मार्ग की इस सामग्री तक पहुंचानेवाले को **कल्याण मित्र** कहा जाता है। जो हमारी आत्मा का उत्थान चाहता है और आत्मोत्थान में सहायक बनता है, ऐसे कल्याण मित्र का आदि धार्मिक आत्मा को संग करना चाहिये।

प्रथम दो उपायों में आत्मा की अनादिकाल की विपरीत चाल को बदलने के लिये आसपास का वातावरण बदलने की बात की गई हैं। वैसे तो संग ही दुःख का कारण है। परन्तु अभी निसंग अवस्था प्राप्त करने की योग्यता प्रकट नहीं हुई है, इसलिये आत्मा किसी न किसी का संग तो लेगी ही। यदि संगत खराब होगी तो आत्मा का अधःपतन हो जाएगा। इसलिये प्रथम दो उपायों में अच्छी संगत करके निसंग अवस्था की भूमिका तैयार करने का वातावरण बनाने की बात की गई है। आदि धार्मिक आत्मा कल्याण मित्र के सहयोग के बिना कर्त्तव्य से अभिमुख और अकर्त्तव्य से विमुख नहीं हो सकती है। उसे बार-बार प्रेरणा की आवश्यकता होती है।

३. औचित्य का उल्लंघन नहीं करना :- किसी भी स्थल-विषय में औचित्य का उल्लंघन नहीं करना चाहिये। जिससे निज-पर को नुकसान हो, अन्य को दुःख हो, निज भूमिका का उल्लंघन हो और आगे की भूमिकाओं में अवरोध उत्पन्न हो, वह औचित्य भंग है। औचित्य का उल्लंघन कभी नहीं करना चाहिये। **औचित्य पालन साधना जीवन का प्राथमिक (अनिवार्य) गुण है।** इस गुण

से अन्य गुण भी खिलते हैं। आगे की भूमिकाओं का सर्जन होता है। सभी का प्रीतिपात्र बना जा सकता है और उत्तम साधक संयोगों की प्राप्ति होती है। औचित्य भंग करने से अनेक अनर्थ होते हैं।

४. लोक मर्यादाओं का सन्मान करना :- लोक व्यवहार से सापेक्ष रहना चाहिये। लोक व्यवहार से निरपेक्ष हो जाने से करुणापात्र लोगों के हृदय को आघात पहुंचता है, लोगों के धर्म प्रशंसा करने में अवरोध उत्पन्न होता है और उन्हें धर्म निंदा का अवकाश मिल जाता है।

५. गुरुजनों का सन्मान करना :- योग पूर्वसेवा में कथनानुसार गुरु वर्ग का सन्मान-सत्कारादि करना चाहिये। (विशेष जानकारी वहां से प्राप्त कर लेनी)

६. गुरुजनों के अधीन रहना :- गुरुजन जैसा कहें - जैसा चाहें, उसी प्रकार वाणी-व्यवहार करना चाहिये। अन्यथा स्वच्छंद वृत्तियां आत्मसात् होने के कारण योगमार्ग की योग्यता प्रकट नहीं होगी।

७. दानादि शुभकार्यों में रत रहना :- शक्ति के अनुसार दानादि शुभ कार्य करने चाहिये, जिससे उदारता, क्षमा, दाक्षिण्यता, सौजन्यता, त्याग भावना आदि गुणों की प्राप्ति संभव हो सके।

८. परमात्मा की उदार (श्रेष्ठ) पूजा करना :- परमात्मा की उदारतापूर्वक उत्तम द्रव्यों से पूजा करनी चाहिये, जिससे शुभ भाव की वृद्धि और पुण्योपार्जन होता है। शुभभाव शुभप्रवृत्तियों में प्रेरित करते हैं और पुण्य धर्म की सामग्री उपलब्ध कराता है।

९. साधुविशेष की अन्वेषणा करना :- चारित्रवान साधु भगवंत की खोज करनी चाहिये। जिससे प्रभु के शासन का उत्तम ज्ञान प्राप्त हो सके। कुगुरु के जाल में फंसने से बचने के लिये चारित्रवान और शास्त्रानुसार प्ररूपणा करनेवाले साधु भगवंत की ही खोज करनी चाहिये।

१०. विधिपूर्वक धर्म शास्त्रों का श्रवण करना :- चारित्रवान और ससूत्रभाषी साधु भगवंत से धर्मशास्त्रों का विनयादि विधिपूर्वक श्रवण करना चाहिये।

११. महाप्रयत्न से हृदयस्थ करना :- सद्गुरु से सुने पदार्थों का महान प्रयत्नपूर्वक चिंतन-मनन-अनुप्रेक्षा आदि करना चाहिये। सुने हुए पदार्थों को हृदयस्थ किये बिना श्रवण विफल हो जाता है और हृदयस्थ करने से तात्त्विक बोध प्राप्त होता है। हेय-उपादेय का विवेक प्राप्त होता है। साथ ही हेय की निवृत्ति और उपादेय की प्रवृत्ति करने का उल्लास प्रकट होता है।

१२. विधिपूर्वक प्रवृत्ति करना :- शास्त्र कथित भावों को हृदयस्थ करने से हेय की निवृत्ति और उपादेय की प्रवृत्ति का जो उल्लास प्रकट होता है, इसमें आगे बढ़कर विधिपूर्वक हेय की निवृत्ति और उपादेय की प्रवृत्ति का प्रयत्न करना चाहिये।

१३. धैर्य का अवलंबन लेना :- कैसे भी विघ्न आएं अथवा दुःख आएं तो भी धैर्य को धारण करके धर्म में स्थिर रहना चाहिये। दुःखों में धैर्य धारण करने से सहनशक्ति बढ़ती है। धैर्य सहनशक्ति बढ़ाता है और अधीरता को समाप्त करता है। इससे धर्म के विषय में स्थिरता प्राप्त होती है। स्थिरतापूर्वक किया गया धर्म आत्मा में संस्कारों का आरोपण करता है।

१४. भविष्य का विचार करना :- वर्तमान में कोई भी प्रवृत्ति करने के दौरान भविष्य का विचार करना चाहिये। मात्र वर्तमान का ही विचार नहीं करना चाहिये। परन्तु मेरी वर्तमान प्रवृत्ति भविष्य को उज्जवल बनाएगी या अंधकारमय बनाएगी, इसका निरंतर विचार करना चाहिये। ऐसा विचार करने से आत्मा निरर्थक कार्य और पाप करने से हिचकिचाती है। पापों से बच जाती है।

१५. मृत्यु का अवलोकन करना :- मृत्यु को निरंतर दृष्टि के सन्मुख रखना चाहिये। 'जो जन्म लेता है, उसकी मृत्यु भी अवश्य होती है। मृत्यु कब, किस स्वरूप में और कहां आएगी, यह मुझे पता नहीं। वर्तमान का कालखंड तो

अनंत भूतकाल और अनंत भविष्यकाल के बीच एक छोटा-सा अंश है। यह छोटा-सा कालखंड कब समाप्त हो जाएगा, मुझे पता नहीं। इसलिये अनंत भविष्यकाल को उज्जवल बनाने के लिये सम्यग्धर्म की संपत्ति जुटा लूं और भविष्यकाल को अंधकारमय बनानेवाले विषय-कषायादि पापों का त्याग कर दूं।'' ऐसा निरंतर विचार करते रहना चाहिये।

जो मृत्यु को भूल जाते हैं वे वर्तमान को सजाने और उसका आनंद लेने में पड़ जाते हैं। इससे मात्र पापों का संचय होता है। जो परलोक को बिगाड़ते हैं। जो संसार को सजाकर बैठते हैं, वहां मृत्यु उपस्थित होती है और आत्मा का सारा आनंद लूट लेती है। **मृत्यु के भय से मन में भयंकर आर्त्तध्यान होता है और वह अंतिमकाल को यातनामय तथा भविष्यकाल को अंधकारमय बना देता है। इसलिये मृत्यु का भय एक दोष है। जबकि मृत्यु का स्मरण मंगलमय गुण स्वरूप है।** क्योंकि इससे आत्मा जागृत होती है, कर्त्तव्य को समंझती है, पापों से बचती है, सुकृत्यों का संचय करती है, परायों की खुशामद से बाहर आती है और पारलौकिक दृष्टि विकसित करके आत्म शुद्धि का पुरुषार्थ कर सकती है।

१६. परलोक प्रधान बनना चाहिये :- जीवन को आलोक की प्रधानतावाला नहीं बनाना चाहिये। बल्कि परलोक की प्रधानतावाला बनाना चाहिये। मात्र आलोक के सुखों का ही विचार नहीं करना चाहिये। बल्कि परलोक में सद्गति की प्राप्ति हो और जल्दी से जल्दी मोक्ष की प्राप्ति हो, इसे ध्यान में रखकर परिणतियों को निर्मल बनाना चाहिये, मानसिक वृत्तियों को उदात्त बनाना चाहिये और प्रवृत्तियों को धर्ममय बनाना चाहिये।

१७. गुरुजन की सेवा करना :- (यहां गुरुजन का तात्पर्य माता-पिता आदि, धर्माचार्य तथा धर्मोपदेशक सद्गुरु आदि से है।) इन गुरुजनों की उत्तम प्रकार की सेवा करनी चाहिये। इससे कृतज्ञतादि गुणों की प्राप्ति होती है।

गुरुजन की सेवा के प्रकार योग पूर्वसेवा में वर्णित हैं। वहां से पता करें।

१८. योगपट का दर्शन करना :- आध्यात्मिक भाववर्धक जाप और ध्यान करने योग्य योगपट का बार-बार दर्शन करना चाहिये। जिससे मोहनीय कर्मों का क्षयोपशम होने के कारण श्रद्धाबल बढ़ता है और एकाग्रता आदि प्राप्त होती है।

१९. योगपट की आकृति आदि का मन में स्थापन करना :- इससे अपूर्व भावोल्लास प्राप्त होता है।

२०. योगपट को मन में ठीक से बसाए रखना :- इससे एकाग्रता प्राप्त होती है, विभाव की रमणता का ह्रास होता है और स्वभाव की प्राप्ति की भूमिका तैयार होती है।

२१. विक्षेप मार्ग का त्याग करना :- जिससे मन चंचल होता है, स्खलना प्राप्त करता है उसे **विक्षेप** कहा जाता है, ऐसे विक्षेप मार्ग का त्याग करना चाहिये। जिससे मन में योगपट की योग्य ढंग से धारणा हो सके तथा विक्षेप मार्ग का त्याग करके योगपट की धारणा करने से धारणा के अभावकाल में मन में किसी कारण से संक्लेश उत्पन्न हुआ हो तो वह दूर हो जाता है। **(रागादि बाह्य भाव विक्षेप मार्ग हैं और ज्ञानादि अंतर्भाव धारणा में सहायक होते हैं।)**

२२. योग की सिद्धि करने का पुरुषार्थ करना :- धर्म योग की सिद्धि के लिये पुरुषार्थ करना चाहिये। योगसिद्धि से रागादि बहिर्भाव नष्ट होते हैं। आध्यात्मिक भावों की वृद्धि होती है और इससे आत्मा आध्यात्मिक विकास करते हुए परमात्म दशा को प्राप्त करती है।

२३. श्री अरिहंत परमात्मा की प्रतिमा बनवाना :- योग साधना में परम सहायक श्री अरिहंत परमात्मा की प्रतिमाएं बनवानी चाहिये। इससे सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होती है और साधक आध्यात्मिक विकास के सहारे खूब गति से आगे बढ़ता है।

२४. श्री तीर्थंकर परमात्मा के वचन रूपी शास्त्रों का लेखन करना-कराना :- लिखित शास्त्रों से दीर्घकाल तक साधकों को प्रभुवचन उपलब्ध होते हैं। इससे जीवात्माओं पर महान उपकार होता है। जिससे भविष्य में हमें सब सुलभ होता है तथा प्रभु के माध्यम से हमारा विकास होने से प्रतिमा निर्माण और शास्त्र लेखन से कृतज्ञता गुण की पुष्टि होती है, जो हमारे अंदर कई अन्य गुणों को भी खींच लाता है।

२५. मंगलमय जाप करना :- जाप करने से आत्मीय बल बढ़ता है, अवरोधक कर्म नष्ट होने से आध्यात्मिक विकास होता है, एकाग्रता प्राप्त होती है।

२६. श्री अरिहंतादि चार की शरणागति स्वीकारना :- अरिहंत, सिद्ध, साधु व धर्म, इन चार की शरणागति स्वीकार करनी चाहिये। उन्हें आराध्य के रूप में स्वीकार करके उनके प्रति समर्पण भाव को विकसित करना चाहिये। अरिहंत व सिद्ध परमात्मा मोहविजेता हैं। उनकी शरणागति मोह के विरुद्ध लड़ने की शक्ति प्रदान करती है। साधु भगवंत मोह से लड़ रहे हैं और मोह नाशक उपायों के ज्ञाता हैं। उनकी शरणागति से मोह के विरुद्ध लड़ने का मार्गदर्शन और कृपा प्राप्त होती है। धर्म स्वयं मोहनाशक साधन है। इसलिये जिसे मोह का नाश करके आध्यात्मिक विकास करना हो उसे अरिहंतादि इन चारों की शरणागति स्वीकार करनी चाहिये।

२७. दुष्कृतों की गर्हा करना :- हमारे द्वारा पिछले सभी जन्मों में हुए सभी दुष्कृत्यों की गर्हा-निंदा करनी चाहिये। इससे अकुशल अनुबंधों का नाश होता है, आत्मा की शुद्धि होती है, दुष्कृत छोड़ने का परिणाम प्रकट होता है।

२८. सभी जीवात्माओं के सुकृतों की अनुमोदना करना :- सभी जीवात्माओं के श्री जिनेश्वर परमात्मा के आज्ञानुसारी सुकृतों (धर्मानुष्ठानों) की अनुमोदना करनी चाहिये। इससे आत्मा में कुशलअनुबंधों का सिंचन होता है, हृदय में

कल्याणकारी आशय प्रकट होते हैं, सुकृत करने की शक्ति प्राप्त होती है। **चतुःशरणगमन, दुष्कृतगर्हा तथा सुकृतानुमोदना, इन तीनों उपायों को प्रतिदिन तीनों समय सेवन करना चाहिये और संक्लेश हो तो बार-बार करना चाहिये। इन तीनों उपायों के सेवन से तथाभव्यत्व का परिपाक होता है और पाप का प्रतिघात व गुणबीजों का आधान होता है। इससे आत्मा शुद्धधर्म को - योग को प्राप्त करती है।**

२९. मंत्रदेवताओं की पूजा करना :- मंत्रदेवता के प्रभाव से समाधि की प्राप्ति होती है। समाधि से सद्गति होती है और सद्गति से भव मुक्ति होती है।

३०. सत्पुरुषों के सुंदर आचरणों की कथा सुनना :- इससे सुकृत करने की प्रेरणा मिलती है, जीवनपथ पर चलने के आदर्श मिलते हैं, सत्पुरुषों के गुण प्राप्त होते हैं और विघ्नों को टालने की दिशा मिलती है।

३१. उदारता से हृदय को भावित करना :- हृदय को उदारता से भावित करना चाहिये। इससे स्वभाव उदार बनता है, इससे वाणी और व्यवहार में उदारता आती है तथा इससे अनेक आत्मीय लाभ प्राप्त होते हैं।

३२. उत्तम दृष्टांतों का अनुसरण करना :- उत्तम पुरुषों के उत्तम दृष्टांतों के अनुसार जीवन में उत्तम आचरण करना चाहिये। इससे स्वयं उत्तमता प्राप्त होती है और हम शिष्ट पुरुषों के प्रीतिपात्र बनते हैं।

उपसंहार

➡ प्रथम गुणस्थानक का उपसंहार :-

- प्रथम गुणस्थानक (अपुनर्बंधक अवस्था) में आत्मा को क्रमशः योग पूर्वसेवा तथा योग की चार दृष्टियां प्राप्त होती हैं।

- ग्रंथि भेद किये बिना आगे के (चतुर्थ) गुणस्थानक में नहीं पहुंचा जा सकता है।

● पुरुषार्थ :-

प्रथम गुण स्थानक के साधक को राग-द्वेष की तीव्र परिणति रूपी ग्रंथि को भेदने का पुरुषार्थ करना चाहिये, यह अत्यावश्यक है। इसके लिये उसे अपनी सभी आराधनाओं को ग्रंथिभेदन में केन्द्रित करनी चाहिये।

- ग्रंथि, ग्रंथि देश, ग्रंथि का परिचय, ग्रंथि भेद करने के उपाय, ग्रंथि भेद का पुरुषार्थ व अनुपालन योग्य आचार इत्यादि विषयों का बोध प्राप्त करके इस दिशा में पुरुषार्थ करना आवश्यक है।

- विषय की विरक्ति, कषाय की हानि तथा भ्रांतियों का उन्मूलन, अवेद्य संवेद्यपद का त्याग करना और वेद्यसंवेद्य पद को प्राप्त करने का पुरुषार्थ करना है।

- मोक्ष मार्ग के साधकों को ग्रंथि भेदन आदि विषयों का बोध प्राप्त हो सके और व्यवहार-निश्चय से योगमार्ग की रूपरेखा का ज्ञान हो सके इसलिये अगले प्रकरण में (१) सम्यग्दर्शन प्राप्ति की प्रक्रिया, (२) ज्ञान - क्रिया से मोक्ष तथा (३) व्यवहार-निश्चय से योगमार्ग, इन तीन विषयों की विस्तार से चर्चा की गई है।

✦✦✦

प्रकरण - ८ : सम्यग्दर्शन प्राप्ति की प्रक्रिया

सम्यग्दर्शन रत्नत्रयी का प्राणाधार है। सम्यग्दर्शन गुण सभी गुणों का परम आधार है। सम्यग्दर्शन की उपस्थिति में हरगुण गुण के रूप में खिल उठता है और सम्यग्दर्शन की अनुपस्थिति में गुण मात्र आभास बनकर रह जाता है। तारक तीर्थंकरों की भव गणना भी सम्यग्दर्शन गुण की प्राप्ति होने के बाद ही होती है। सम्यग्दर्शन की उपस्थिति में दोष शक्तिहीन हो जाते हैं। सम्यक्त्व की सार भूतता का **अध्यात्मसार** ग्रंथ में वर्णन करते हुए कहा गया है कि,

कनीनिकेव नेत्रस्य, कुसुमस्येव सौरभम् ।
सम्यक्त्वमुच्यते सारः, सर्वेषां धर्मकर्मणाम् ।।१२-५।।

- जैसे नेत्र का सार आंखों की पुतली होती है और पुष्प का सार उसकी सौरभ होती है, वैसे ही सभी धर्म कार्यों का सार सम्यक्त्व कहलाता है।

सम्यक्त्वसहित की धर्म क्रियाएं ही कर्म आदि बंधनों को तोड़कर मोक्ष की प्राप्ति कराने में सफल होती हैं। सम्यक्त्व सहित की धर्म क्रिया ही **भाव धर्म** बनती है और उसी से सकाम निर्जरा तथा संस्कारों का परिवर्तन होता है - शुभानुबंधों का सर्जन होता है। संक्षेप में, सम्यग्दर्शन की प्राप्ति से ही पारमार्थिका मोक्षमार्ग प्रारम्भ होता है।

ग्रंथि भेदन किये बिना सम्यग्दर्शन की प्राप्ति नहीं होती है। अपूर्वकरण से ग्रंथि भेद करके अनिवृत्तिकरण से सम्यग्दर्शन को प्राप्त किया जाता है।

→ यहां सम्यग्दर्शन की प्राप्ति का क्रम जानने से पहले...

- ग्रंथि किसे कहा जाता है ?
- ग्रंथिदेश किसे कहा जाता है ?
- ग्रंथिभेद किसे कहा जाता है ?

- ग्रंथि का भेदन कौन कर सकता है ?
- करण अर्थात् क्या और करण कितने हैं ?
- यथाप्रवृत्तिकरण-चरम यथाप्रवृत्तिकरण अर्थात् क्या ?
- अपूर्वकरण किसे कहा जाता है ? और वह कब प्राप्त होता है ?
- अनिवृत्तिकरण किसे कहा जाता है ? और वह कब प्राप्त होता है ?
- करण प्राप्त करने के लिये कोई योग्यता चाहिये या नहीं ?
- इत्यादि विषयों का विचार करने के बाद ही कर्मग्रंथ और सिद्धांत के मतानुसार सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के क्रम के बारे में चर्चा करेंगे।

➠ ग्रंथि किसे कहा जाता है ?

ग्रंथि का स्वरूप बताते हुए **श्री विशेषावश्यक भाष्य** में कहा गया है कि,

गण्ठि त्ति सुदुब्भेओ, कक्खडघणरूढगूढगण्ठि व्व।
जीवस्स कम्मजणियो, घणरागद्दोसपरिणामो ।।११९५।।

- जो बड़ी मुश्किल से भेदी जा सकती है, ऐसी यह ग्रंथि आत्मा के कर्म जनित प्रगाढ़ राग-द्वेष का परिणाम स्वरुप होती है। यह ग्रंथि कर्कश, घन, रूढ़ और गूढ़ होती है।

यह ग्रंथि कर्कश है। क्योंकि यह जल्दी पकड़ में नहीं आती है। "मैं संसार में जो भ्रमण कर रहा हूं, वह मात्र मेरे राग-द्वेष के कारण ही कर रहा हूं और इन्हीं कारणों से संसार में दुःख भोग रहा हूं" - **इस वास्तविकता को आत्मा जल्दी नहीं पकड़ पाती है।** प्रगाढ़ राग की परिणति सांसारिक वास्तविकता को समझने ही नहीं देती है और संसार की दुःखरुपता का अनुभव होने के बावजूद वह संसार को दुःखरुप नहीं मानने देती है। प्रगाढ़ द्वेष की परिणति भी सुख-दुःख के सच्चे कारणों को नहीं समझने देती है।

ग्रंथि घन है। राग-द्वेष का परिणाम अत्यंत घन (गाढ़) होता है। संसार में भ्रमण के दौरान जिन-जिन जगहों पर, जिन-जिन स्वरूपों में अनुकूलताएं

अथवा प्रतिकूलताएं आईं, सुखद अथवा दुःखद घटनाएं घटित हुईं, उनमें आत्मा ने निरंतर राग-द्वेष किया है। अनादिकाल से यह क्रिया चली आ रही है। इसी कारण यह परिणति अत्यंत घन बन गई है।

ग्रंथि रूढ़ है। क्योंकि, अनादिकाल से आत्मा ने राग-द्वेष की इस परिणति का पोषण किया है। **जिन परिणामों का बार-बार सेवन होता है, वे रूढ़ बन जाते हैं।** हृदय में अनुकूलता का अर्थीपना और प्रतिकूलता का अनर्थीपना आत्मसात् होने के कारण किसी भी परिस्थिति में राग-द्वेष के परिणाम लगातार सेवित होते रहे हैं। इसलिये यह परिणति रूढ़ हो गई है।

ग्रंथि गूढ़ है अर्थात् अत्यंत रहस्यमय है। जिससे वह जल्दी पहचानी नहीं जा सकती है। मुझे जो दुःख मिल रहे हैं, मुझे जो उलझनें सता रही हैं, मुझे जो भय सता रहे हैं, मुझे जो वासनाएं सता रही हैं और मुझे जो कष्ट मिल रहे हैं, उन सबके कारण राग-द्वेष हैं, इसके बावजूद इन सभी के कारण के रूप में अपने राग-द्वेष को नहीं पहचानना, ऐसी यह ग्रंथि गूढ़ है, रहस्यमयी है।

इसीलिये ग्रंथि कर्कश, घन, रूढ़ और गूढ़ है तथा इसीलिये दुर्भेद्य अर्थात् कष्टों से ही भेदी जा सकती है। राग-द्वेष के प्रवाह में बह जाने का जो विपरीत अभ्यास आत्मसात् हुआ है, उसे तोड़ना अत्यंत कठिन है।

प्रश्न :- इस ग्रंथि का सर्जन कैसे हुआ है और उसे पोषित करनेवाले कारण कौन-कौन-से हैं ?

उत्तर :- यह ग्रंथि मोहनीय कर्म जनित प्रगाढ़ राग-द्वेष की परिणति स्वरूप है। इसलिये वह मोहनीय कर्मों से जनित है। इसके अलावा इस परिणाम को ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय तथा अंतरायकर्म की भी सहायता प्राप्त है। **इसलिये चार घाती कर्मों में से एक मोहनीय कर्म से जन्मी हुई और शेष तीन घाती कर्मों की सहायता से सर्जित राग-द्वेष की तीव्र परिणति को ग्रंथि कहा जाता है।**

मोहनीय कर्म के प्रतिनिधि मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और नोकषाय आदि से यह ग्रंथि पोषित है तथा इसमें अज्ञान व अशुभ वीर्य का प्रवर्तन उपष्टंभक बना है।

मिथ्यात्व द्वारा उत्पन्न गलत मान्यताएं भी ग्रंथि को पोषण देने का काम करती हैं। मिथ्यात्व पौद्‌गलिक सुखों में सुखबुद्धि कराता है, सुखबुद्धिपूर्वक उसमें प्रवर्तन होने से राग-द्वेष की परिणति पुष्ट होती है। मिथ्यात्व जनित भ्रांतियां भी उन्मार्ग की तरफ धकेलती हैं और इससे भी ग्रंथि पुष्ट होती है। अविरति पौद्‌गलिक सुखों में रमण करवाकर राग-द्वेष की परिणति को पोषित करती है। अविरति के कारण उत्पन्न वैषयिक संकल्प-विकल्प, मधुर संवेदन तथा पुद्‌गल सुखों का आकर्षण आदि भी इस परिणति को पोषित करते हैं।

- कषाय भी इस परिणति को पोषित करते हैं। क्रोध व अभिमान द्वेष की परिणति को पोषित करते हैं और माया-लोभ राग की परिणति को पोषित करते हैं। अन्य के प्रति अपराध भावना, पूर्वग्रह आदि भी द्वेष की परिणति को पोषण देते हैं। स्वोत्कर्ष का गर्व, अन्य के प्रति तिरस्कार आदि भी द्वेष की परिणति का पोषण करते हैं। इन दोनों कषायों से जीवात्माओं के प्रति नफरत-तिरस्कार की भावना पुष्ट होती है। माया तथा लोभ कषाय से मुख्यतया राग की परिणति पुष्ट होती है। हास्यादि नोकषाय भी राग-द्वेष की परिणति को पोषित करते हैं।

- वैषयिक वासनाएं तथा वैषयिक प्रवृत्तियां भी ग्रंथि को पोषित करने का काम करती हैं।

- पूर्वोक्त सभी मलीन भावों में अज्ञान की महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है। अज्ञान की नींव पर ही ये मलीन भाव विकसित होते हैं और वीर्य का अशुभ प्रवर्तन (अर्थात् मन-वचन-काया की अशुभ प्रवृत्तियां) भी इन मलीन भावों की पोषक हैं। इसलिये ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय और अंतराय, ये तीन कर्म भी ग्रंथि को पोषित करने में निमित्त बनते हैं।

कहने का सार यह है कि, संसार भ्रमण के दौरान जिन-जिन पदार्थों का समागम हुआ, जो-जो क्रियाएं-प्रतिक्रियाएं उपस्थित हुईं, जिन-जिन परिस्थितियों का निर्माण हुआ, जिन-जिन घटनाओं ने आकार लिया, उनमें मोहाधीनता के कारण जहां अनुकूलता लगी वहां अनुकूलपना का तीव्र संवेदन होने के कारण प्रगाढ़ राग की परिणति उत्पन्न हुई है और जहां प्रतिकूलता लगी वहां प्रतिकूलपना का तीव्र संवेदन होने से घनिष्ठ द्वेष की परिणति उत्पन्न हुई है। इस कारण राग-द्वेष की परिणति रूपी ग्रंथि का निर्माण हुआ है। **इस मलीन परिणति का सेवन करने का अभ्यास अनादिकालीन है। इसलिये सहजता से इसे भेदना संभव नहीं है। इसका भेदन करने के लिये बहुत परिश्रम करना पड़ता है।** अब ग्रंथि देश किसे कहा जाता है ? और आत्मा ग्रंथि देश में कैसे आती है? इस बारे में चर्चा करेंगे ।

➠ ग्रंथि देश किसे कहा जाता है ?

राग-द्वेष की तीव्र परिणति रूपी ग्रंथि प्रत्येक आत्मा में अनादिकाल से होती है। (इसका निर्माण होने के कारण हम ऊपर जान ही चुके हैं।) ज्ञानावरणीयादि आठ कर्मों में से आयु कर्म के अतिरिक्त सात कर्मों की स्थिति[1] अंतःकोड़ाकोड़ी (अर्थात् पल्योपम का असंख्यतवां भाग न्यून (कम) हो ऐसी एक कोड़ाकोड़ी) सागरोपम होती है, तब ग्रंथि (कर्म ग्रंथि) प्रकट होती है। **यहां स्मरण रखें कि,** कर्मों की इस प्रकार की स्थिति हो तब ग्रंथि उत्पन्न नहीं होती है, परन्तु आज तक जो गुप्त थी वह प्रकट होती है। अर्थात् उसे पहचानने का प्रयत्न करना हो तो किया जा सकता है, इस प्रकार से प्रकट होती है।[2]

अंतःकोड़ाकोड़ी से अधिक स्थितिवाले कर्म आत्मा में जब तक रहते हैं, तब तक वह ग्रंथि इतनी गूढ़ रहती है कि उसे पहचाना नहीं जा सकता। **जब कर्मों की स्थिति अंतःकोड़ाकोड़ी की होती है, तब आत्मा ग्रंथिदेश में आती है।**

➠ आत्मा ग्रंथि देश में कैसे आता है ?

करण के तीन प्रकार हैं। (१) यथाप्रवृत्तिकरण, (२) अपूर्वकरण व (३) अनिवृत्तिकरण। इनमें से यथाप्रवृत्तिकरण के सामर्थ्य से आत्मा ग्रंथि देश में आता है। अनादि यथाप्रवृत्तिकरण से ''नदी घोल पाषण'' न्याय[3] से आत्मा जब आयु कर्म के अतिरिक्त सात कर्मों की अंतःकोड़ाकोड़ी सागरोपम प्रमाण स्थिति करती है, तब आत्मा ग्रंथि देश में आती है अर्थात् जैसे नदी में बहता पत्थर शिल्पकार अथवा अन्य प्रयत्न के बिना भी इधर-उधर टकराकर और लुढ़ककर सुंदर गोलाकार तथा चिकना हो जाता है, वैसे ही आत्मा भी चार गति में भ्रमण करते हुए छेदन-भेदन-ताड़ना-तर्जना-अवगणना-तिरस्कारादि के दुःखों को सहते हुए किसी निश्चित समझदारी और उद्देश्य के बिना भी जब सात कर्मों की स्थिति अंतःकोड़ाकोड़ी सागरोपम प्रमाण करती है, तब ग्रंथिदेश में आती है।

यहां 'यथाप्रवृत्तिकरण' आदि तीन करण में जो **'करण'** शब्द है, उसका अर्थ **'आत्मा का अध्यवसाय'** होता है। **[अथ करणमिति कोऽर्थ इत्यत्राह- 'भण्णइ करणं ति परिणामो' करणमित्यनेन ध्वनिना परिणामो-जीवाध्यवसायो भण्यते अभिधीयते समयज्ञैरिति गाथार्थः ।।२९।। [पंचाशक-३/२९ टीका]**

प्रश्न :- क्या ग्रंथि देश में पहुंचनेवाली सभी आत्माएं ग्रंथि का भेदन कर देती हैं ?

उत्तर :- नहीं, ऐसा कोई नियम नहीं है। ग्रंथि देश में आनेवाली आत्माएं तीन प्रकार की होती हैं। इस विषय में विशेषावश्यक भाष्य ग्रंथ में कहा गया है कि,

- ग्रंथि देश में आनेवाली आत्माएं तीन प्रकार की होती हैं।[4] - (१) ग्रंथि देश में (ग्रंथि स्थान पर) आकर वापस जानेवाली आत्माएं अर्थात् ग्रंथि का भेदन किये बिना दीर्घ कर्म स्थिति का उपार्जन करके ग्रंथि देश से दूर होकर संसार में भ्रमण करनेवाली आत्माएं। (२) ग्रंथि स्थान पर रहनेवाली आत्माएं (जो दीर्घ कर्मस्थिति नहीं बढ़ाती हैं।) (३) ग्रंथि का भेदन करके सम्यक्त्व प्राप्त करनेवाली आत्माएं।

पूर्वोक्त बात को विशेषावश्यक भाष्य में दृष्टांत के साथ समझाते हुए कहा गया है कि, संसार जंगल के समान है। इसमें तीन मुसाफिर हैं। ये तीनों यात्री स्वाभाविक गति से किसी नगर की तरफ जाने की इच्छा से जंगल में चले जा रहे हैं। नगर का रास्ता बहुत लंबा था। इसलिये संध्याकाल हो जाने पर रात हो जाने के भय से यात्रियों ने अपनी गति बढ़ाई। इसी दौरान मार्ग में दो चोर मिल गये। उन्हें देखकर तीन में से एक यात्री घबराया और पछताकर उस मार्ग से लौट गया। दूसरा यात्री दोनों चोरों के चंगुल में फंस जाता है और तीसरा यात्री दोनों चोरों से भयभीत हुए बिना उनसे युद्ध करके तथा युद्ध में उन्हें हराकर इच्छित नगर में पहुंच जाता है।

यहां संसार जंगल समान है। इसमें तीन यात्री अर्थात् (१) ग्रंथि देश में आकर फिर से दीर्घ कर्मस्थिति का उपार्जन करनेवाली आत्मा। (२) ग्रंथि स्थान में रहनेवाली आत्मा (दीर्घ स्थिति नहीं बढ़ानेवाली आत्मा) और (३) सम्यक्त्व प्राप्त करनेवाली आत्मा- इस रीति से तीन प्रकार की सांसारिक आत्माओं को दर्शाया गया है।

कर्म की दीर्घ स्थिति अर्थात् (ग्रंथि देश में आनेवाली) जो अंतःकोड़ाकोड़ी सागरोपम की स्थिति थी, उसे बढ़ाकर ग्रंथि से दूर चली जानेवाली आत्माएं। जिसे दीर्घमार्ग (पूर्वोक्त श्लोक में) कहा गया है।

यहां ग्रंथि भयस्थान है। राग-द्वेष दो चोर हैं। ग्रंथि देश तक आकर पुनः अशुभ परिणामवाला बनकर जिसने कर्म की स्थिति दीर्घ की, उसे चोरों के भय से लौट जानेवाला यात्री मानना चाहिये। प्रबल राग-द्वेष के उदयवाला ग्रंथि स्थान में रहनेवाला आत्मा को दो चोरों के चंगुल में फंस जानेवाला यात्री मानना चाहिये।

ग्रंथि नामक भयस्थान को लांघकर सम्यग्दर्शन प्राप्त करनेवाली आत्मा को तीसरा यात्री मानना चाहिये।

यहां उल्लेखनीय है कि, ग्रंथि देश में आनेवाली आत्माएं भी भिन्न-भिन्न प्रकार की होती हैं। उपरोक्त उदाहरण के मुताबिक नगर की तरफ निकले कुछ यात्री नगर की तरफ जाने की इच्छा से उस दिशा में आगे बढ़ते हैं और कुछ यात्री नगर की तरफ जाने की इच्छा के बिना ही उस दिशा में जाते हैं। इसी प्रकार कुछ यात्री करण सन्मुख नहीं हुए (अर्थात् अपूर्वकरण-सम्यग्दर्शन के सन्मुख नहीं हुए)। परन्तु उन्हें अनादि मिथ्यात्व से वासित सामान्यतः हीन-अधिक अध्यवसायों में प्रवृत्त यथाप्रवृत्तिकरणवाली सांसारिक आत्माओं के रूप में जानना चाहिये, जो यथाप्रवृत्तिकरण के सामर्थ्य से ग्रंथि देश में आती हैं। जबकि कुछ आत्माएं करण सन्मुख होती हैं (अर्थात् अपूर्वकरण सम्यग्दर्शन के सन्मुख होती हैं) उन्हें मार्ग में आए विशिष्ट यथाप्रवृत्तिकरण से ग्रंथि देश को प्राप्त करनेवाली आत्माओं के रूप में जानना चाहिये।

यद्यपि आत्मा अनादि यथाप्रवृत्तिकरण से अनंत बार ग्रंथि देश में आकर लौट जाती है। क्योंकि, ग्रंथि को नहीं पहचान पाने के कारण उसे भेदने का पुरुषार्थ नहीं कर पाती है। परन्तु जब आत्मा सम्यक्त्व के अभिमुख विशिष्ट यथाप्रवृत्तिकरण से ग्रंथि देश में आती है, तब वह ग्रंथि देश में आकर ग्रंथि को पहचानने योग्य बन जाती है। यदि वह पुरुषार्थ करती है तो ग्रंथि को पहचानकर उसे भेद सकती है। **इसलिये ग्रंथि भेद के पुरुषार्थ में ग्रंथि को पहचानना अत्यावश्यक है।**

➡ ग्रंथि की पहचान कब और कैसे होती है ?

यथाप्रवृत्तिकरण से आत्मा ग्रंथि देश में आती है। ग्रंथि देश में आने की क्रिया अनंत बार हो चुकी है। क्योंकि उदय में आनेवाले कर्मों को खपाने के अध्यवसाय आत्मा में सदैव प्रवर्तमान होते हैं और इस कारण अनंत बार कर्म स्थिति अंतःकोड़ाकोड़ी सागरोपम प्रमाण हुई है। इससे आत्माएं अनंत बार ग्रंथि देश में आती हैं।[5]

ग्रंथि देश में चरमावर्ती तथा अचरमावर्ती दोनों प्रकार की आत्माएं आ सकती हैं। यथाप्रवृत्तिकरण द्वारा भव्य, दुर्भव्य तथा अभव्य[6] : ये तीनों प्रकार की आत्माएं ग्रंथि देश में आ सकती हैं।

ग्रंथि देश में आनेवाली सभी आत्माएं ग्रंथि को पहचानकर उसका भेदन कर ही दें, ऐसा कोई नियम नहीं है। अभव्य तथा दुर्भव्य आत्माएं अनंत बार यथाप्रवृत्तिकरण करके ग्रंथि देश में आती हैं। परन्तु वे ग्रंथि को पहचानकर उसका भेदन नहीं कर पाती हैं। **कर्मग्रंथ-२, श्लोक-२ की टीका में कहा गया** है कि,

''इमं ग्रंन्थिं यावदभव्या अपि यथाप्रवृत्तिकरणेन कर्म क्षपयित्वाऽनन्तशः समागच्छन्ति ।''

अभव्य आत्माएं भी यथाप्रवृत्तिकरण द्वारा कर्मों को खपाकर अनंत बार इस ग्रंथि देश में आती हैं।

ग्रंथि देश में आने के बाद ग्रंथि को पहचानने का कार्य मात्र चरमावर्ती भव्यात्मा ही कर सकती है। अचरमावर्ती दुर्भव्यात्मा भी ग्रंथि देश में आ सकती है, परन्तु उसमें ग्रंथि को पहचानने (अर्थात् मेरा संसार भ्रमण क्यों चल रहा है ? और उसके कारण क्या हैं ? तथा संसार भ्रमण का अंत करने के लिये क्या करना चाहिये ? इत्यादि अपूर्व आलोचन आदि के) परिणाम जागृत नहीं होते हैं।

जिस आत्मा का संसार एक पुद्गल परावर्तन काल से अधिक न हो, उसे चरमावर्ती कहा जाता है। पूर्व में वर्णित पांच कारणों में से मुख्यतया काल के परिपाक से आत्मा चरमावर्त में आती है। जब तक काल का परिपाक न हो, तब तक आत्मा चरमावर्त में नहीं आ सकती है। जिसका मोक्ष गमन का स्वभाव है ऐसी भव्यात्मा काल के परिपाक से चरमावर्त में आती है। भव्यात्मा जिस काल में मोक्ष साधना करती है, काल का परिपाक उसे उस काल के सन्मुख-उस काल में लाता है।

यद्यपि चरमावर्त में आने के बाद भी आत्मा तुरंत ग्रंथि को पहचानने का कार्य नहीं कर सकती है। भवाभिनंदिता मंद पड़ने के बाद और अपुनर्बंधक अवस्था प्राप्त होने के बाद ग्रंथि पहचानने का कार्य होता है। अपुनर्बंधक अवस्था की प्राप्ति में (पांच कारणों में से) कर्म का परिपाक मुख्य कारण है।

अपुनर्बंधक अवस्था में भी भावमल का (पुद्गल में रमने और कर्मोपार्जन की योग्यता का) अधिकतम क्षय होने पर तथाभव्यत्व का परिपाक होता है तब आत्मा से मिथ्यात्व की कटुता-प्रगाढ़ता निवृत्त होती है और तब उसे ग्रंथि की सच्ची पहचान होती है।

विंशति विंशिका नामक ग्रंथ में कहा गया है कि, आत्मा उपर से **भावमल (सहजमल)** का अधिकतम क्षय हो जाता है, तब आत्मा के सम्यग् पुरुषार्थ से तथाभव्यत्व का परिपाक होता है। योगदृष्टिसमुच्चय ग्रंथ में (गाथा-२४ की टीका में) कहा गया है कि,

"तथाभव्यत्वपाकतः" इति तथाभव्यत्वपाकेन ततस्तस्मान्मिथ्यात्व-कटुकत्वनिवृत्त्या मनाक् माधुर्यसिद्धेः संशुद्धमेतज्जिनेषु कुशलादिचित्तम् ।।

- तथाभव्यत्व के परिपाक से आत्मा के ऊपर से मिथ्यात्व की कड़वाहट (तीव्रता) निवृत्त हो जाती है और इससे आत्मा के शुद्ध स्वरूप का आंशिक प्रकटीकरण होने से संवेग की मधुरता की सिद्धि (प्राप्ति) होती है।

कहने का आशय यह है कि, अभी तक संसार भ्रमण के दौरान आत्मा ने पौद्गलिक सुखों से जो आनंद प्राप्त करने का प्रयत्न किया था और पुण्य योग से प्राप्त दुन्यवी सुखों में आनंद का अनुभव किया था, उससे विपरीत इस अवस्था में आत्मा को उससे विलक्षण (अलग ही प्रकार का) निरूपाधिक, स्वाधीन, दुःख की मिलावट रहित (आंशिक) आत्मीय आनंद प्राप्त होता है। क्योंकि मिथ्यात्व के प्रगाढ़ उदय के समय प्रवर्तमान संक्लिष्ट भावों के बीच उसे पौद्गलिक पदार्थों से इच्छित आनंद की प्राप्ति नहीं होती थी। जबकि तथाभव्यत्व

के परिपाक से मिथ्यात्व का प्रगाढ़ उदय निवृत्त होने से (अल्प होने से) मिथ्यात्व के मंद होने के कारण जो आंशिक आत्म सुख की झांकी होती है, उसमें उसे परम शांति-विश्रांति दिखाई देती है। इससे विपरीत पौद्‌गलिक सुखों की अपूर्णता का भान होता है और इससे पौद्‌गलिक सुखों की आसक्ति शिथिल हो जाती है तथा योगदृष्टिसमुच्चय ग्रंथ में **"प्रकृतेः प्रथम विप्रियेक्षा"** पद द्वारा वर्णित "पहली बार स्वाभाविक संसार, संसार सुख व कर्म की तरफ दृष्टि तिरछी" हो जाती है। संसार सुख के प्रति दृष्टि तिरछी हो जाने तथा आत्मीय सुख के प्रति सन्मान भाव पैदा होने से जीवन में एक नवीन विचार प्रारम्भ होता है। इसे शास्त्रीय परिभाषा में **"अपूर्व आलोचन"** कहा जाता है। अपूर्व आलोचन के प्रभाव से आत्मीय सुख से आत्मा क्यों दूर रही, इसका सही पता चलता है और पौद्‌गलिक सुखों से दुर्गतियों में आत्मा की कैसी-कैसी दुर्दशा हुई, यह भी नज़र के सामने आता है। आत्मीय सुख से वंचित रखनेवाले तथा क्षणिक पौद्‌गलिक सुखों में आसक्त बनानेवाले कारणों की खोज शुरू होती है।

धर्मश्रवण से प्राप्त हुए जिनवचन के परिशीलन से तथा प्रभु द्वारा प्ररूपित धार्मिक क्रियाओं के प्रभाव से प्रकट हुए अपूर्व विचारों में "राग-द्वेष की तीव्र परिणति (ग्रंथि)" ही दुःखद संसार में भ्रमण करानेवाले कारण के रूप में दिखाई देती है। अभी तक मैं संसार में कहां-कहां भटका हूं, इस राग-द्वेष के प्रगाढ़ परिणाम के कारण ही भटका हूं - इस प्रकार संसार भ्रमण के कारण के तौर पर ग्रंथि की पहचान होती है। **इसी को ग्रंथि की पहचान कहा जाता है।**

पूर्व में दर्शाए अनुसार ग्रंथि देश में तो अभव्य तथा दुर्भव्य आत्माएं भी आती हैं। परन्तु वे मिथ्यात्व की प्रगाढ़ता के कारण ग्रंथि को नहीं पहचान पाती हैं। हां, ग्रंथि देश में आकर उन्हें नवकार महामंत्र से लेकर यावत् नवपूर्व का ज्ञान तथा द्रव्य चारित्र प्राप्त हो जाता है। **कर्म ग्रंथ-२, गाथा-२ की टीका में कहा गया है कि,**

अभव्यस्यापि कस्यचिद् यथाप्रवृत्तिकरणतो ग्रन्थिमासद्याऽर्हदादिविभूतिदर्शनतः प्रयोजनान्तरतो वा प्रवर्तमानस्य श्रुतसामायिकलाभो भवति न शेषलाभ इति ।

- जब किसी अभव्य की आत्मा यथाप्रवृत्तिकरण से ग्रंथि देश में आती है, तब (द्रव्य से प्रभुशासन के निकट आती है, उस समय) श्री अरिहंत परमात्मा आदि की बाह्य विभूति (समवसरण की ऋद्धि आदि विभूति) को देखकर उसमें इसे प्राप्त करने की भावना जागृत होती है। उसे प्राप्त करने के लिये अथवा अन्य किसी भौतिक प्रयोजन से अभव्य की आत्मा श्रुतधर्म व साधुधर्म को स्वीकार करती है। तब अभव्य आत्मा को भी यावत् नवपूर्व तक का श्रुत ज्ञान और द्रव्य चारित्र का लाभ प्राप्त होता है। परन्तु शुद्ध परिणाम न होने के कारण शेष कोई आत्मीय लाभ नहीं होते हैं।[7]

ग्रंथि का भेदन किये बिना सम्यग्दर्शन की प्राप्ति नहीं होती है और सम्यग्दर्शन की प्राप्ति किये बिना श्रुत धर्म या चारित्र धर्म भाव रूप नहीं बनता है। द्रव्य श्रुत अथवा द्रव्य चारित्र नवग्रैवेयक तक के भौतिक सुख दे सकते हैं परन्तु मोक्ष नहीं दे सकते हैं।

यद्यपि ग्रंथिदेश में आनेवाली आत्माएं जब तक ग्रंथिदेश में रहती हैं, तब तक जो कर्मोपार्जन करती हैं, वे अंतःकोड़ाकोड़ी सागरोपम स्थितिवाले ही होते हैं, इससे अधिक स्थितिवाले नहीं होते हैं। (विशेषावश्यक भाष्य)

जो आत्मा अपुनर्बंधक अवस्था में आकर तथाभव्यत्व का उद्भव करती है, उस आत्मा का मिथ्यात्व मंद पड़ जाता है और वह आत्मा आगे बढ़कर चरम यथाप्रवृत्तिकरण को प्राप्त करती है। यह यथाप्रवृत्तिकरण होने के बावजूद भी अनादि यथाप्रवृत्तिकरण व चरम यथाप्रवृत्तिकरण में अंतर है। अनादि यथाप्रवृत्तिकरण आत्माओं ने अनंत बार किये हैं और उस समय ग्रंथि प्राप्त हुई, परन्तु ग्रंथि की पहचान नहीं हुई। **जबकि चरम यथाप्रवृत्तिकरण में प्राप्त हुई ग्रंथि की**

पहचान हो जाती है और उस ग्रंथि को तोड़ने का परिणाम उत्पन्न होता है।

यहां उल्लेखनीय है कि, आत्मा अनंत बार यथाप्रवृत्तिकरण करके ग्रंथि देश में आई है। इसके बावजूद वह सम्यग्दर्शनाभिमुख नहीं बनने से यथाप्रवृत्तिकरण से उसका मात्र ग्रंथि देश में आगमन हुआ था। परन्तु उसे ग्रंथि की पहचान नहीं हो पाई और इसलिये ग्रंथि भेदन का परिणाम भी जागृत नहीं हुआ था। परन्तु चरमावर्त काल में अपुनर्बंधक अवस्था में तथाभव्यत्व का परिपाक होने से मिथ्यात्व की मंदता के प्रभाव से आत्मा सम्यग्दर्शनाभिमुख बनती है, तब चरम यथाप्रवृत्तिकरण को प्राप्त करती है और इसके द्वारा ग्रंथि को पहचानती है और इससे ग्रंथि का भेदन करने का परिणाम जागृत होता है। साथ ही ग्रंथि भेदन करने का पुरुषार्थ शुरू होता है।

जैसे नगर की ओर जाने के इरादे से यात्री चलता हुआ नगर के द्वार तक़ आ पहुंचे और इस प्रकार के इरादे के बिना ही कोई यात्री चलते-चलते नगर के द्वार पर पहुंच जाए तो दोनों में अंतर है, वैसे ही अनादि यथाप्रवृत्तिकरण व चरम यथाप्रवृत्तिकरण के बीच अंतर है। **अनादि यथाप्रवृत्तिकरण आत्मा के बुद्धिपूर्वक पुरुषार्थ के बिना ही प्राप्त हो जाता है। जबकि चरम यथाप्रवृत्तिकरण आत्मा के बुद्धिपूर्वक पुरुषार्थ करने से ही प्राप्त होता है।**

दूसरी एक महत्त्वपूर्ण बात यह स्मरण रखनी चाहिये कि, पंचसंग्रह भाग-२, उपशमनाकरण, गाथा-५ में यथाप्रवृत्तिकरण आदि तीनों करणों का काल अंतर्मुहूर्त्त का दर्शाया गया है।[8] जबकि योग ग्रंथों में (चरम) यथाप्रवृत्तिकरण का असंख्य काल दर्शाया गया है। तो दोनों के बीच जो विरोधाभास आता है उसका परिहार कैसे हो सकता है ? **इस शंका में योगग्रंथों से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि,** चरम यथाप्रवृत्तिकरण का असंख्य काल है। यहां रहनेवाली आत्मा परिणामों को विशुद्ध करती हुई तथा ग्रंथि पर प्रहार करते हुए आगे बढ़ती है और अपूर्वकरण से पूर्व जो अंतर्मुहूर्त्त का काल है, जो यथाप्रवृत्तिकरण का

ही काल कहलाता है, उस काल में (शुद्ध) यथाप्रवृत्तिकरण को प्राप्त करती है और इसके माध्यम से आत्मा अपूर्वकरण को प्राप्त करती है। इसलिये शुद्ध यथाप्रवृत्तिकरण का अंतर्मुहूर्त्त का जो काल है, उस काल को ध्यान में रखकर पंचसंग्रह ग्रंथ में यथाप्रवृत्तिकरण का काल अंतर्मुहूर्त्त का बताया गया हो, ऐसा प्रतीत होता है। तत्त्व तो बहुश्रुत महर्षि ही जानें।

इसलिये योग ग्रंथों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि, प्रथम मित्रा दृष्टि में आत्मा चरम यथाप्रवृत्तिकरण को प्राप्त करती है और चौथी दृष्टि में शुद्ध यथाप्रवृत्तिकरण प्राप्त करती है। शुद्ध यथाप्रवृत्तिकरण से अपूर्वकरण को पाकर ग्रंथि का भेदन करती है और पांचवीं दृष्टि में सम्यग्दर्शन को प्राप्त कर लेती है।

योग दृष्टि समुच्चय ग्रंथ में कहा गया है कि, भावमल कम होने से चरम यथाप्रवृत्तिकरण में आत्मा को इस भवचक्र में पहली बार कर्म के प्रति घृणा उत्पंन्न होती है और राग-द्वेष के परिणामों के प्रति भी घृणा पैदा होती है। चरम यथाप्रवृत्तिकरण में उसे प्रथम दृष्टि का गुण वैभव प्राप्त है।[9] इस बात को पूर्व में विस्तार से दर्शाया गया है, इसलिये यहां उसके बारे में विस्तार से नहीं लिख रहे हैं।

➡ ग्रंथिदेश में आनेवाली कौन-सी आत्माएं ग्रंथि का भेदन कर सकती हैं ?

ग्रंथि देश में आनेवाली चरमावर्ती अपुनर्बंधक अवस्था प्राप्त भव्यात्मा ग्रंथि को पहचानकर उसे भेदने का पुरुषार्थ कर सकती है। चरमावर्ती भव्यात्माओं में भी कुछ भव्यात्माएं मात्र ग्रंथि को पहचान सकती हैं, परन्तु ग्रंथि को भेदने का परिणाम नहीं जगा सकती हैं, कुछ भव्यात्माएं ग्रंथि भेदने का परिणाम जगा सकती हैं, परन्तु ग्रंथि भेदन का पुरुषार्थ नहीं कर पाती हैं। कुछ भव्यात्माएं ऐसी होती हैं जो ग्रंथि भेदने का पुरुषार्थ करती हैं, परन्तु उसी भव में भेद नहीं पाती

हैं। चरम यथाप्रवृत्तिकरण के सामर्थ्य से प्रकट हुई ग्रंथि को भेदने का परिणाम तथा ग्रंथि भेदन का पुरुषार्थ दैदीप्यमान हो, तो ही अपूर्वकरण प्राप्त होता है और उसी के द्वारा ग्रंथि का भेदन होता है।

ग्रंथि देश में अधिक से अधिक असंख्य काल तक रहा जा सकता है। तब तक कुछ भव्यात्माएं ग्रंथि को भेदकर आगे बढ़ती हैं और कुछ आत्माएं ग्रंथि से दूर हो जाती हैं। इसलिये जो भव्यात्मा अपूर्वकरण को प्रकट कर सकती है, वह ग्रंथि का भेदन करके आगे बढ़ सकती है।

→ अपूर्वकरण किसे कहा जाता है :-

'अपूर्वकरण की व्याख्या करते हुए योग दृष्टि समुच्चय ग्रंथ में कहा गया है कि,

अपूर्वकरणं त्वपूर्वपरिणामः शुभोऽनादावपि भवे तेषु-तेषु धर्मस्थानेषु प्रवर्तमानस्य तथाऽसंजातपूर्वो ग्रन्थिभेदादिफलम् उच्यते ।

- अपूर्वकरण अर्थात् अपूर्व परिणाम अर्थात् अनादि संसार में (परिभ्रमण करते हुए ग्रंथि देश में आकर) विविध धर्म स्थानों में प्रवृत्त होने से पूर्व जो परिणाम प्रकट नहीं हुआ था, ऐसा अपूर्व परिणाम प्रकट होता है, जिसका ग्रंथि भेद आदि फल है, ऐसे अपूर्व परिणाम को **अपूर्वकरण** कहा जाता है।

कहने का तात्पर्य यह है कि, जब अनुकूलताएं मिलती हैं तो मन में आह्लाद होता है और राग की तीव्र परिणति उत्पन्न होती है। इसी प्रकार जब प्रतिकूलताएं प्राप्त होती हैं तो मन में उद्वेग पैदा होता है और द्वेष की गहन परिणति उत्पन्न होती है - यह अनादि का अध्ययन है। ऐसे राग-द्वेष के तीव्र परिणाम पैदा करने के परिणाम विनाश करे बिना अपूर्वकरण प्रकट नहीं हो सकता।

पुण्य योग से प्राप्त अनुकूलताओं में दुःख के दर्शन किये जाएं, घातकता के दर्शन हों, *विष बेल समान प्रतीत हो और ऐसे परिणामों से अनुकूलताएं ठुकरा दी जाएं तो अनुकूल परिस्थितियों में राग करने के संस्कार कमजोर पड़ते हैं।*

इसी प्रकार हमारे ही पाप कर्म के उदय से आई प्रतिकूलताओं में कर्म निर्जरा के दर्शन किये जाएं, तारकता के दर्शन हों, अमृतकुंभ समान अनुभूति हो और प्रतिकूलताओं को सहर्ष स्वीकार करके शुद्ध भाव से हाय-हाय किये बिना भोग लिया जाए तो प्रतिकूल परिस्थितियों में द्वेष करने के संस्कार कमजोर पड़ते हैं।

संक्षेप में राग और द्वेष के निमित्तों में वे वे निमित्त असर न कर जाएं, इसकी सावधानी रखनी है। यदि इन निमित्तों में राग-द्वेष की परिणतियां सताएंगी, तो अनादि का वह तीव्र परिणाम पुष्ट होता है और यदि इन निमित्तों से परे होकर उनके प्रभाव को नष्ट कर दिया जाए, तो उस तीव्र परिणाम पर घात होता है और इससे वह परिणाम कमजोर पड़ता जाता है। पूर्वोक्त पुरुषार्थ सातत्यपूर्ण और आत्मस्पर्शी होना चाहिये। तो ही रागादि की तीव्र परिणतियों का क्रमिक ह्रास करने में सफलता मिलती है। पुरुषार्थ को सातत्यपूर्ण व आत्मस्पर्शी बनाने के लिये संवेग और निर्वेद के परिणामों की अत्यावश्यकता है। संवेग-निर्वेद के परिणामों को पैदा करने, तीव्र बनाने और निरंतर जीवित रखने के लिये धर्म श्रवण करने जैसा दूसरा कोई श्रेष्ठ मार्ग नहीं है। गीतार्थ, संविग्न और जयणावंत गुरु भगवंत के श्रीमुख से धर्म श्रवण करने से संसार के प्रति घृणा भाव और मोक्ष-संयम के प्रति सन्मान भाव तीव्र होता है। धर्म श्रवण से प्रमाद में पड़ी आत्मा जागती है, जागकर आत्मा चल पड़ती है और चलनेवाली आत्मा दौड़ने लगती है।

इसके अलावा धर्म श्रवण करके प्रभु के वचनों को हृदय में आत्मसात् करने तथा जीवन-व्यवहार में लागू करने का भाव जागृत होना चाहिये। संसार की निर्गुणता एवं मोक्ष की रमणीयता का निरंतर परिशीलन होना चाहिये। पाप क्रियाओं का त्याग तथा धर्मक्रियाओं का यथाशक्ति पालन करना चाहिये। यदि पाप क्रियाएं करने की विवशता हो तो सावधानी बरतनी चाहिये। वे पाप उपादेय न लगें और उनके प्रति हेयबुद्धि जीवित रहे, इसकी भी सदैव सावधानी बरतनी चाहिये। यह भी ध्यान रखना है कि

जो भी धर्म क्रियाएं हों, वे एकमात्र मोहनीयादि कर्मों की निर्जरा के लिये ही होनी चाहिये।

पूर्वोक्त बाह्य-आंतरिक पुरुषार्थ करते हुए आत्मा की जो मोहनीयादि कर्मों की स्थिति अंतःकोड़ाकोड़ी सागरोपम प्रमाण की थी, उसमें से क्रमशः ह्रास होता है और इससे आत्मा अपूर्वकरण प्राप्त करती है तथा इसके माध्यम से ग्रंथि भेदन करके अनिवृत्तिकरण की मार्फत सम्यग्दर्शन प्राप्त करती है।

जैसे अधिगम (गुरु के उपदेश) से सम्यग्दर्शन प्राप्त करनेवाली आत्माएं अपूर्वकरण द्वारा ग्रंथि भेदन करके अनिवृत्तिकरण के माध्यम से सम्यग्दर्शन की प्राप्ति करती हैं। वैसे ही निसर्ग से (गुरु के उपदेश के बिना) भी सम्यग्दर्शन प्राप्त करनेवाली आत्माएं भी उसी क्रम से सम्यग्दर्शन प्राप्त करती हैं, इसमें कोई फर्क नहीं पड़ता है। मात्र अधिगम सम्यग्दर्शन में गुरु के उपदेश से प्राप्त हुए बोध के सहारे पुरुषार्थ करके सम्यग्दर्शन प्राप्त किया जाता है और निसर्ग सम्यग्दर्शन में गुरु के उपदेश के बिना स्वयं बोध प्राप्त करके उसके सहारे पुरुषार्थ करके सम्यग्दर्शन प्राप्त किया जाता है। दोनों ही जगहों पर पुरुषार्थ तो होता ही है और अपूर्वकरण-अनिवृत्तिकरण भी होता है।

→ अनिवृत्तिकरण किसे कहा जाता है ?

अपूर्वकरण के बाद अनिवृत्तिकरण प्राप्त होता है। अपूर्वकरण अर्थात् आत्मा का ऐसा शुभ एवं तीव्र परिणाम जो पूर्व में संसार के भ्रमण के दौरान कभी प्राप्त नहीं हुआ था और वह अवश्य ही ग्रंथि भेदक आत्मा का परिणाम विशेष है। **अनिवृत्तिकरण अर्थात् आत्मा का ऐसा परिणाम जो सम्यग्दर्शन की प्राप्ति कराये बिना निवृत्त न हो अर्थात् ग्रंथि भेदन होने के बाद अवश्य सम्यग्दर्शन प्राप्त करानेवाला आत्मा का परिणाम विशेष को अनिवृत्तिकरण (निवृत्त नहीं होनेवाला परिणाम) कहा जाता है।**

इस प्रकार तीन करण हैं और उनके कार्य कौन-कौन-से हैं, यह हमने देखा। **श्री विशेषावश्यक भाष्य** में इन बातों का संग्रह करते हुए कहा गया है कि,

करणं अहापवत्तं अपुव्वमणियट्टिमेव भव्वाणं।
इयरेसिं पढमं चियं, भण्णइ करणं ति परिणामो ।।१।।

जा गण्ठी तो पढमं, गण्ठिं समइच्छओ भवे बीयं ।
अनियट्टीकरणं पुण, सम्मत्तपुरक्खडे जीवे ।।२।।

- यथाप्रवृत्तिकरण, अपूर्वकरण व अनिवृत्तिकरण : ये तीन करण हैं। भव्यात्माओं में ये तीनों करण क्रमशः होते हैं। शेष अभव्य तथा दुर्भव्य आत्माओं को मात्र प्रथम यथाप्रवृत्तिकरण ही होता है। यहां 'करण' का अर्थ आत्मा का परिणाम विशेष है। प्रथम यथाप्रवृत्तिकरण से आत्मा ग्रंथि देश में आती है। ग्रंथि का भेद करती है तब दूसरा अपूर्वकरण होता है और तीसरा अनिवृत्तिकरण सम्यग्दर्शन के सन्मुख जानेवाली आत्मा में होता है अर्थात् यथाप्रवृत्तिकरण से ग्रंथि देश में आती है। अपूर्वकरण से ग्रंथि भेदन होता है और अनिवृत्तिकरण से सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होती है।

➠ ग्रंथि भेदन के बाद की विशेष प्रक्रिया :-

अब ग्रंथि भेदन के बाद जो विशेष प्रक्रिया होती है, उसे कार्मग्रंथिक व सैद्धांतिक अभिप्राय के अनुसार देखते हैं।

➞ कार्मग्रंथिक अभिप्राय :-

कर्मग्रंथ के अभिप्राय से अनादि मिथ्यादृष्टि आत्मा सर्वप्रथम उपशम सम्यक्त्व को ही प्राप्त करती है। उपशम सम्यक्त्व कैसे प्राप्त करती है, यह दर्शाते हुए **सम्यक्त्व स्तव प्रकरण** में कहा गया है कि,

अकयतिपुंजो ऊसर, दवईलिय दड्ढरूक्खनाएण ।
अंतरकरणुवसमिओ, उवसमिओ वा ससेणिगओ ।।१७।।

- जिसने तीन पुंज न किये हों ऐसी आत्मा को, जैसे उज्जड़ भूमि प्राप्त करके अथवा जंगल में लगी अग्नि से जली हुई और जले हुए वृक्षों वाली भूमि को प्राप्त करके ही नया दावानल शांत होता है, वैसे ही (जीव) अंतःकरण द्वारा उपशम सम्यक्त्व प्राप्त करती है अथवा उपशम श्रेणी में रहती है तब उपशम सम्यक्त्व को प्राप्त करती है।

कहने का तात्पर्य यह है कि, कार्मग्रंथिक अभिप्राय से अनिवृत्तिकरण के काल में आत्मा तीन कार्य करती है। (१) अनिवृत्तिकरण के अंतर्मुहूर्त्त काल में स्वतः उदय होनेवाले मिथ्यात्व मोहनीय के दलिकों को खपाती है। (२) अनिवृत्तिकरण के अंतर्मुहूर्त्त के बाद जो अंतर्मुहूर्त्त आता है उसमें उदय में आनेवाले मिथ्यात्व मोहनीय कर्म के दलिकों की स्थिति घटाकर इन दलिकों को अनिवृत्तिकरण के काल में ही उदय में लाकर खपाती है। और (३) अनिवृत्तिकरण के अंतर्मुहूर्त्त के बाद जो अंतर्मुहूर्त्त आता है उसमें उदय होनेवाले दलिकों की स्थिति न घटाई जा सके तो आत्मा अपने अनिवृत्तिकरण के काल में ही उन दलिकों की स्थिति बढ़ा देती है, जिससे कम से कम दलिक अनिवृत्तिकरण के अंतर्मुहूर्त्त के बाद आनेवाले अंतर्मुहूर्त्त में (अर्थात् अंतःकरण के रूप में पहचाने जानेवाले उपशम सम्यक्त्व के इस अंतर्मुहूर्त्त काल में) उदय में ही न आए।

यद्यपि मिथ्यात्व मोहनीय के दलिकों का जब प्रदेशोदय (अपने फल को पैदा करने के सामर्थ्य से हीन कर्म दलिकों के उदय को **प्रदेशोदय** कहा जाता है) और विपाकोदय (अपने फल को पैदा करने के सामर्थ्यवाले कर्म दलिकों के उदय को **विपाकोदय** कहा जाता है) न हों, तब अनंतानुबंधी क्रोधादि चार कषायों का भी प्रदेशोदय अथवा विपाकोदय नहीं होता है। आत्मा यह सारी तैयारी अनिवृत्तिकरण के अंतर्मुहूर्त्त काल में ही कर लेती है। इसके बाद तुरंत मिथ्यात्व मोहनीय व अनंतानुबंधी कषायों के दलिकों को भी उदय रहित अंतर्मुहूर्त्त को प्राप्त करती है।

इस अनिवृत्तिकरण के अंतर्मुहूर्त्त के बाद आनेवाले अंतर्मुहूर्त्त के प्रारम्भिक समय में आत्मा उपशम सम्यक्त्व को प्राप्त करती है और औपशमिक सम्यक्त्व के परिणामवाले इस अंतर्मुहूर्त्त को अंतःकरण कहा जाता है। जैसे वन में लगी आग जहां-जहां घास आदि होती है, उसे जलाते हुए आगे बढ़ती है, लेकिन जहां घास आदि नहीं होती है, वहां वह आगे नहीं बढ़ पाती है, क्योंकि वहां उसे जलाने के लिये कुछ नहीं मिलता है। वैसे ही औपशमिक सम्यक्त्व के काल में आत्मा 'एक अंतर्मुहूर्त्त' को घासादि से रहित वनप्रदेश के समान बनाती है, इसमें आत्मा अनंतानुबंधी के कषायों के उदयवाली नहीं बनती है।

➠ सैद्धांतिक अभिप्राय :-

सैद्धांतिक अभिप्राय से अनादि मिथ्यादृष्टि आत्मा सर्वप्रथम उपशम समकित को ही प्राप्त करे, ऐसा कोई नियम नहीं है। परन्तु उपशम सम्यक्त्व को प्राप्त किये बिना सर्वप्रथम क्षायोपशमिक सम्यक्त्व को भी प्राप्त कर सकती है। यदि अनादि मिथ्यादृष्टि आत्मा उपशम सम्यक्त्व प्राप्त करे, तो वह पूर्व की ही भांति प्राप्त करती है और सर्वप्रथम क्षायोपशमिक सम्यक्त्व को प्राप्त करती है, तो उसकी प्रक्रिया दर्शाते हुए सम्यक्त्व स्तव प्रकरण में कहा गया है कि,

अपुव्वकयतिपुंजो, मिच्छमुइन्नं खवित्तु अणुइन्नं ।
उवसामिय अनियट्टि-करणाउओ परं खओवसमी ।।१६।।

अर्थ :- जिस आत्मा ने अपूर्वकरण के बल से तीन पुंज किये हैं, ऐसी आत्मा उदय होनेवाले मिथ्यात्व मोहनीय के दलिकों को खपाकर तथा उदय नहीं होनेवाले मिथ्यात्व मोहनीय के दलिकों को उपशांत करके अनिवृत्तिकरण से श्रेष्ठ क्षयोपशम सम्यक्त्व को प्राप्त करती है।[10]

कहने का आशय यह है कि, सैद्धांतिक अभिप्राय से जो अनादि मिथ्यादृष्टि आत्माएं क्षायोपशमिक सम्यक्त्व को पानेवाली होती हैं, वे आत्माएं अपने अपूर्वकरण के अंतर्मुहूर्त्त के काल में ही अपूर्वकरण से जैसे ग्रंथि भेदन करती

हैं, वैसे ही आत्मा में सत्ता रुप में निहित मिथ्यात्व मोहनीय के दलिकों के तीन पुंज करती हैं। तिसमें से जो दलिक शुद्ध बनाया जा सकते है तिस दलिकों को शुद्ध करती है । शेष दलिकों को अर्धशुद्ध करती हैं और कुछ दलिक ऐसे भी रहते हैं जिन्हें शुद्ध या अर्धशुद्ध (शुद्ध-अशुद्ध) नहीं बनाया जा सकता, ऐसे दलिक अशुद्ध ही रहते हैं। इस प्रकार दलिकों का शुद्धिकरण करते-करते तीन पुंज हो जाते हैं। इनमें से शुद्ध पुंज को सम्यक्त्व मोहनीय के दलिकों का पुंज कहा जाता है। शुद्ध-अशुद्ध पुंज को मिश्र दलिकों का पुंज कहा जाता है और अशुद्ध पुंज को मिथ्यात्व मोहनीय के दलिकों का पुंज कहा जाता है।

इन तीन पुंज में से शुद्ध सम्यक्त्व मोहनीय के पुंज को ही आत्मा अनिवृत्तिकरण से उदय में लाती है और अनिवृत्तिकरण का काल पूर्ण हो जाए, उसके बाद पहले ही समय में सम्यक्त्व मोहनीय नामक प्रशस्त कर्म के वेदन स्वरूप क्षायोपशमिक सम्यक्त्व प्रकट होता है।

➠ औपशमिक सम्यक्त्व प्राप्त आत्मा की भावि स्थिति के विषय में भिन्न अभिप्राय :-

इस विषय में कार्मग्रंथिक अभिप्राय यह है कि, अनादि मिथ्यादृष्टि आत्मा जब सम्यग्दर्शन को प्राप्त करती है, तब अपूर्वकरण से ग्रंथि भेदन करके अनिवृत्तिकरण द्वारा अंतःकरण पैदा करती है और अंतःकरण औपशमिक सम्यक्त्व का परिणाम स्वरूप है। इस अंतःकरण के काल में (अर्थात् औपशमिक सम्यक्त्व के अंतर्मुहूर्त्त काल में) आत्मा उसके अंदर सत्ता रूप में निहित मिथ्यात्व के दलिकों के पूर्व की भांति तीन पुंज करती है। इनमें से शुद्ध पुंज उदय होता है तो क्षायोपशमिक सम्यक्त्व प्राप्त करके चौथे गुण स्थानक में रहती है।[11] यदि शुद्ध-अशुद्ध पुंज उदय होता है तो मिश्र गुण स्थानक में पहुंचती है और अशुद्ध पुंज उदय होता है तो पुनः मिथ्यादृष्टि बनकर प्रथम गुण स्थानक में आ जाती है।

जबकि सैद्धांतिक मत से अनादि मिथ्यादृष्टि आत्मा सर्वप्रथम औपशमिक सम्यक्त्व को ही प्राप्त करे, ऐसा नियम नहीं है। इसे प्राप्त किये बिना क्षायोपशमिक सम्यक्त्व भी प्राप्त कर सकती है। इनमें से जो आत्मा सर्वप्रथम औपशमिक सम्यक्त्व को प्राप्त करती है, वह अपने अंतःकरण के काल (अर्थात् औपशमिक सम्यक्त्व के काल) तक सम्यक्त्व का आस्वाद पाकर बाद में मिथ्यात्व के उदय को ही प्राप्त करती है। परन्तु औपशमिक सम्यक्त्व के काल में तीन पुंज नहीं करती है।

➡ सम्यग्दर्शन प्राप्ति के पुरुषार्थ की कठिनाई :-

ग्रंथि भेदन किये बिना सम्यग्दर्शन प्राप्त नहीं किया जा सकता है। यह हम पूर्व में देख चुके हैं। ग्रंथि का भेदन करना अत्यंत कठिन है। **इसकी कठिनाई दर्शाते हुए श्री विशेषावश्यक भाष्य में कहा गया है कि,**

भिन्नम्मि तम्मि लाभो सम्मत्ताईण मोक्खहेऊणं ।
सो य दुलभो परिस्सम-चित्तविघायाइ विग्घेहिं ।।११९६।।

सो तत्थ परिस्सम्मइ घोरमहासमरनिग्गयाइ व्व ।
विज्जा य सिद्धिकाले जह बहुविग्घा तहा सो वि ।।११९७।।

भावार्थ :- ग्रंथि भेदन होने के बाद मोक्ष के कारण सम्यग्दर्शनादि गुणों का लाभ होता है। यह ग्रंथि भेदन मानसिक परिश्रमादि विघ्नों से अत्यंत कठिन है अर्थात् अभी तक मन से जिस जगह राग-द्वेष के तीव्र परिणामों का सेवन किया है, उसी जगह उससे विपरीत तथा तीव्र परिणामों का सेवन करना होता है अर्थात् अभी तक आत्मा ने जिन अनुकूलताओं के प्रति प्रगाढ़ राग के परिणाम और प्रतिकूलताओं के प्रति प्रगाढ़ द्वेष के परिणामों का सेवन किया था, उसके स्थान पर उसे अनुकूलताओं के प्रति प्रगाढ़ द्वेष व प्रतिकूलताओं के प्रति प्रगाढ़ राग का परिणाम विकसित करना होता है। इससे वह ऐसे परिणामों का सेवन करने में विक्षोभ का अनुभव करती है और ऐसे भावों में स्थिर होने के लिये उसे

मन को समझाने का बहुत परिश्रम करना पड़ता है। साथ ही यह परिश्रम करते समय अनादि के कुसंस्कार भी विघ्न बनते हैं। इसलिये मानसिक परिश्रम तथा विघ्नों की प्रचूर मात्रा में विद्यमानता के कारण ग्रंथि भेद करना अत्यंत दुष्कर होता है।

यहां उदाहरण देकर समझाते हैं कि, जैसे विद्या की साधना के दौरान उपसर्गों के कारण विद्यासाधक के मन में क्षोभ उत्पन्न होता है, वैसे ही ग्रंथि भेदन करने के इच्छुक साधक के मन में भी क्षोभ उत्पन्न होता है और जैसे अनेक शत्रुओं के समूह को पराजित करने में सैनिकों को भरपूर परिश्रम करना पड़ता है, वैसे ही ग्रंथि भेदन करनेवाले को भी दुर्जय और प्रचूर कर्म रूपी शत्रुओं के समूह को पराजित करने के लिये अपार परिश्रम करना पड़ता है। जैसे सफलता की प्राप्ति निकट हो, उसी समय उपसर्गों से विद्यासाधक के मन में विक्षोभ उत्पन्न होता है, वैसे ही ग्रंथि भेदन का पुरुषार्थ करनेवाले के समक्ष भी अनेक प्रकार के विघ्न आते हैं। (इसलिये अपूर्वकरण प्राप्त करके उसके द्वारा ग्रंथि भेदन करना अत्यंत दुष्कर है।)

➠ सम्यक्त्व के विविध प्रकार :-

सम्यक्त्व के विभिन्न प्रकार दर्शाते हुए **प्रवचन सारोद्धार** ग्रंथ में कहा गया है कि,

एगविह दुविह तिविहं, चउहा पंचविह दसविहं सम्मं ।
दव्वाइ कारयाई, उवसमभेएहिं वा सम्मं ।।९४२।।

एगविहं सम्मरूई, निसग्गहिगमेहि भवे तयं दुविहं ।
तिविहं तं खइआइ, अहवा वि हु कारगाईअं ।।९४३।।

खइगाइ सासणजुअं, चउहा वेअगजुअं तु पंचविहं ।
तं मिच्छचरमपुग्गलवेअणओ दसविहं एयं ।।९४७।।

निसग्गुवएसरूई, आणरूइ सुत्तबीअरूइमेव ।
अभिगमवित्थाररुई, किरिआसंखेवधम्मरुई ।।९५०।।

भावार्थ :- सम्यक्त्व द्रव्यादि, कारकादि या उपशमादि के भेद से एक, दो, तीन, चार, पांच और दस प्रकार का है। (श्री जिनेश्वर परमात्मा के वचन की) सम्यग् रुचि स्वरूप सम्यक्त्व एक प्रकार का है। निसर्ग तथा अधिगम के भेद से दो प्रकार का है। क्षायिक या कारकादि के भेद से तीन प्रकार का है। इन तीन में सास्वादन जोड़ने पर वह चार प्रकार का हो जाता है और इन चार में वेदक सम्यक्त्व मिलने से वह पांच प्रकार का हो जाता है। जिस (मिथ्यात्व के दलिकों के तीन पुंजों में से तीसरे सम्यक्त्व के पुंज के क्षयकाल के) चरम (अंतिम) समय पर जिन शुद्ध परमाणुओं का वेदन होता है, वह स्वरूप (वेदक सम्यक्त्व) होता है।

निसर्ग रुचि, उपदेश रुचि, आज्ञा रुचि, सूत्र रुचि, बीज रुचि, अभिगम रुचि, विस्तार रुचि, क्रिया रुचि, संक्षेप रुचि व धर्म रुचि : इस प्रकार सम्यक्त्व दस प्रकार का है।

➞ एक प्रकार का सम्यक्त्व :-

जिनधर्म ही सत्य व तारक है, जिनधर्म के प्रति ऐसी रुचि, सद्श्रद्धा हो, उसे ही **सम्यग्दर्शन** कहा जाता है।[12] **तमेव सच्चं निसंकं जं जिणेहिं पवेइयं** - "वही सत्यं और शंकारहित है, जो श्री जिनेश्वर परमात्माओं ने कहा है" - **ऐसी अटूट श्रद्धा को सम्यग्दर्शन कहा जाता है।**

➞ सम्यक्त्व के दो प्रकार :-

धर्मसंग्रह ग्रंथ के द्वितीय अधिकार में तथा **सम्यक्त्व स्तव प्रकरण** में विभिन्न प्रकार से सम्यक्त्व के दो प्रकार दर्शाए गये हैं।[13]

निसर्गाधिगमभेदाद् द्विविधम्[14] - सम्यग्दर्शन के निसर्ग तथा अधिगम दो

प्रकार हैं। गुरु के उपदेश के बिना स्वयं बोध प्राप्त हो और उससे जिनोक्त तत्त्वों के प्रति रुचि प्रकट हो, उसे **निसर्ग सम्यग्दर्शन** कहा जाता है। गुरु के उपदेश से बोध प्राप्त हो और उसके द्वारा जिनोक्त तत्त्वों के प्रति रुचि प्रकट हो, उसे **अधिगम सम्यग्दर्शन** कहते हैं।

जैसे कोई यात्री यदि मार्ग में भटक जाता है और किसी की मदद के बिना घूमते-फिरते स्वयं पुनः सही मार्ग पर आ जाता है। जबकि कोई यात्री अन्य की मदद से सही मार्ग पर पहुंचता है। वैसे ही कुछ आत्माएं स्वयं बोध प्राप्त करके जिनोक्त तत्त्व की रुचि विकसित करती हैं, जबकि कुछ आत्माएं गुरु से उपदेश प्राप्त करके जिनोक्त तत्त्व की रुचि विकसित करती हैं। **दूसरे ढंग से भी दो प्रकार बताते हुए कहा गया है कि,**

द्रव्यभावभेदाद् द्विविधम्, तत्र जिनोक्ततत्त्वेषु सामान्येन रुचिर्द्रव्यसम्यक्त्वम्, नयनिक्षेपप्रमाणादिभिरधिगमोपायो जीवाजीवादिसकलतत्त्वपरिशोधनरुप-ज्ञानात्मकं भावसम्यक्त्वम् ।

भावार्थ :- द्रव्य तथा भाव के भेद से सम्यक्त्व के दो प्रकार हैं। जिसमें जिनोक्त तत्त्वों के विषय में सामान्य रुचि हो, उसे **द्रव्य सम्यक्त्व** कहते हैं। नय-निक्षेप-प्रमाणादि ज्ञान के उपायभूत जीव-अजीवादि समस्त तत्त्वों के परिशोधन **रुप ज्ञानात्मक(ज्ञानस्वरूप) भाव सम्यक्त्व** कहलाता है अर्थात् वस्तु के परमार्थ को समझे बिना मात्र प्रभु के वचनों पर जो श्रद्धा होती है, उसे **द्रव्य सम्यक्त्व** कहते हैं। नय-निक्षेप-प्रमाणादि से वस्तु के परमार्थ को समझकर परिशुद्ध तत्त्व को पहचानकर उसके प्रति जो रुचि प्रकट होती है उसे **भाव सम्यक्त्व** कहा जाता है।[15]

पू. आ. भ. श्री हरिभद्रसूरीश्वरजी महाराजा द्वारा रचित **पंचवस्तुक ग्रंथ** में भी कहा गया है कि, **"जिनवचन ही तत्त्व है - परमार्थभूत है, अन्य कोई नहीं"** - ऐसी सामान्य रुचि को **द्रव्य सम्यक्त्व** कहा जाता है और नय-निक्षेप-

प्रमाण से परिष्कृत विस्तार रुचि को **भाव सम्यक्त्व** कहा जाता है।[16] **नवतत्त्व प्रकरण** में भी कहा गया है कि,

जीवाइ नव पयत्थे, जो जाणइ तस्स होइ सम्मत्तं ।
भावेण सद्दहंतो, अयाणमाणे वि सम्मत्तं ।।५१।।

जो जीव-अजीवादि नवतत्त्वों को जानता है (और उनमें श्रद्धा रखता है), उसे **भाव सम्यक्त्व** होता है और जो जीवाजीवादि नवतत्त्वों को नहीं जानता है, लेकिन भाव से श्रद्धा रखता है, उसे **द्रव्य सम्यक्त्व** होता है।

➞ **सम्यक्त्व के व्यवहार तथा निश्चय ये दो भेद भी हैं।** इन दो भेदों को दर्शाते हुए **सम्यक्त्व स्तव प्रकरण में** कहा गया है कि,

निच्छयओ सम्मत्तं नाणाइमयप्पसुद्धपरिणामो ।
इअरं पुण तुह समए, भणिअं सम्मत्तहेऊहिं ।।११।।

भावार्थ :- ज्ञान-दर्शन-चारित्रमय आत्मा का जो शुभ परिणाम है, उसे ही **निश्चय सम्यक्त्व** कहा जाता है। (अर्थात् रत्नत्रयी के शुद्ध उपयोग में प्रवर्तमान जीवात्मा में **निश्चय सम्यक्त्व** होता है।) प्रभु के सिद्धांत में दर्शाए गये सम्यक्त्व के कारणों के सेवन से (अर्थात् मिथ्यात्वी से परिचय (मित्रता) नहीं करनी चाहिये इत्यादि अतिचारादि दोषों का त्याग और देव-गुरु की भक्ति, सन्मान, शासन की उन्नति रूपी सम्यक्त्व के हेतु के सेवन से) **व्यवहार सम्यक्त्व** प्राप्त होता है।

संक्षेप में, ज्ञानादिमय शुभ परिणाम **निश्चय सम्यक्त्व** है और ज्ञान-दर्शन-चारित्र के आचारों का परिपालन करना **व्यवहार सम्यक्त्व** है। इस विषय में विशेष सूक्ष्म ज्ञान धर्मसंग्रह ग्रंथ से प्राप्त किया जा सकता है।[17]

इस प्रकार दो प्रकार का सम्यक्त्व निसर्ग-अधिगम, द्रव्य-भाव तथा व्यवहार-निश्चय, ये तीन प्रकार का होता है।

→ सम्यक्त्व के तीन प्रकार :-

दो अलग-अलग ढंग से सम्यक्त्व के तीन प्रकार दर्शाते हुए **सम्यक्त्व स्तव प्रकरण** में कहा गया है कि,

तिविहं कारग-रोअग-दीवगभेएहिं तुहमयविऊहिं ।
खओवसमोवसमिय-खाइयभेएहिं वा कहियं ।।१३।।

- कारक, रोचक व दीपक के भेद से तीन प्रकार का सम्यक्त्व बताया गया है अथवा क्षायोपशमिक, औपशमिक व क्षायिक इन तीन भेद से तीन प्रकार का सम्यक्त्व बताया गया है। औपशमिक व क्षायोपशमिक सम्यक्त्व का स्वरूप पूर्व में दर्शाया है। **क्षायिक सम्यक्त्व** का स्वरूप दर्शाते हुए **सम्यक्त्व स्तव प्रकरण** में कहा गया है कि,

मिच्छाइखए खइओ, सो सत्तगखीणि ठाइ बद्धाउ ।
चउतिभवभाविमुक्खो, तब्भवसिद्धी वि इयरो वा ।।१८।।

- मिथ्यात्वादि सात (मिथ्यात्व मोहनीय, मिश्र मो., सम्यक्त्व मो., अनंतानुबंधी क्रोधादि चार कषाय ये सात) प्रकृतियों का क्षय हो तब **क्षायिक सम्यक्त्व** की प्राप्ति होती है। क्षायिक समकित की प्राप्ति से पूर्व आयुबंध हो गया हो, तो क्षायिक समकिती आत्मा उसी भव में क्षपक श्रेणी प्रारम्भ नहीं करता है। तीन अथवा चार भव में उसकी मुक्ति होती है। जिसने आयुबंध न किया हो ऐसी क्षायिक समकिती आत्मा उसी भव में क्षपक श्रेणी प्रारम्भ करके केवलज्ञान प्राप्त करके मोक्ष प्राप्त कर लेती है। **कारकादि तीन प्रकार के सम्यक्त्व का स्वरूप दर्शाते हुए सिद्धांत में कहा गया है कि,**

विहियाणुट्ठाणं पुण[19] कारगमिह रोयगं तु सद्दहणं ।
मिच्छदिट्ठी दीवइ, जं तत्ते दीवगं तं तु ।।

आगम में जिस प्रकार अनुष्ठान करने के लिये कहा गया है, उसी प्रकार

अनुष्ठान करने से कारक सम्यक्त्व प्राप्त होता है। आगम निर्दिष्ट अनुष्ठानों-पदार्थों पर श्रद्धा (रुचि) रखे (परन्तु उसके अनुसार कार्य न कर सके), उसे **रोचक सम्यक्त्व** होता है। स्वयं मिथ्या दृष्टि हो, परन्तु (अंगारमर्दक आचार्य की भांति) अन्य भव्यात्माओं को धर्म कहकर धर्म की प्राप्ति कराए उसे आगम में **दीपक सम्यक्त्व** कहा गया है।

→ सम्यक्त्व के चार प्रकार :-

औपशमिक, क्षायोपशमिक, क्षायिक तथा सास्वादन, इस प्रकार शास्त्र में चार प्रकार का सम्यक्त्व बताया गया है। औपशमिकादि तीन स्वरूप पूर्व में बताए हैं। **चौथे सास्वादन सम्यक्त्व का स्वरूप दर्शाते हुए विशेषावश्यकभाष्य ग्रंथ में कहा गया है कि,**

उवसमसम्मत्ताओ, चइऊ मिच्छं अपावमाणस्स ।
सासायणसम्मत्तं, तयंतरालंमि छावलियं ।।५३१।।

अर्थ :- उपशम सम्यक्त्व से च्यवन करके (पतित होकर) मिथ्यात्व को नहीं पानेवाले को उसी अंतर से (उसके बीच) १ समय से छह आवलिका प्रमाणवाला सास्वादन सम्यक्त्व प्राप्त होता है।[20]

→ सम्यक्त्व के पांच प्रकार :-

पूर्व में कथित चार प्रकार के सम्यक्त्व में 'वेदक' सम्यक्त्व का समावेश करने पर सम्यक्त्व के पांच प्रकार हो जाते हैं। चार का स्वरूप पूर्व में देख चुके हैं। **'वेदक सम्यक्त्व'** का स्वरूप दर्शाते हुए **सम्यक्त्व स्तव प्रकरण** में कहा गया है कि,

वेयगजुअं पंचविहं, तं च तु दुपुंजखयंमि तइयस्स ।
खयकालचरमसमए, सुद्धाणुवेयगो होइ ।।३०।।

- पूर्व में कथित चार (उपशम, क्षायिक, क्षायोपशमिक व सास्वादन) तथा

वेदक सहित कुल पांच प्रकार का सम्यक्त्व है। (मिथ्यात्व के दलिकों के तीन पुंज में से) मिथ्यात्व व मिश्र इन दो पुंजों का क्षय करे तथा तीसरे सम्यक्त्व के पुंज के क्षयकाल के अंतिम समय पर जो शुद्ध परमाणुओं का वेदन होता है, उसे **'वेदक' सम्यक्त्व** कहा जाता है।

➠ **पांचों सम्यक्त्व का काल :-**

पांचों प्रकार के सम्यक्त्व का काल दर्शाते हुए सम्यक्त्व स्तव प्रकरण ग्रंथ में कहा गया है कि,

अंतमुहुत्तोवसमो, छावलिय सासाण वेयगो समओ ।
साहिय तित्तीसायर खइओ दुगुणो खओवसमो ।।२१।।

- उपशम सम्यक्त्व का उत्कृष्ट काल एक अंतर्मुहूर्त्त है। सास्वादन का उत्कृष्ट काल छह आवलिका है। वेदक का काल एक समय है। क्षायिक सम्यक्त्व का काल साधिक (अर्थात् मनुष्य भव की अपेक्षा से कुछ अधिक) तैंतीस सागरोपम है और क्षयोपशम सम्यक्त्व का काल उससे दुगुना अर्थात् साधिक छियासठ सागरोपम है।

➞ अब संसार में भ्रमण करनेवाली आत्मा इन पांचों सम्यक्त्व में से कौन-कौन सा सम्यक्त्व कितनी बार प्राप्त करती है, यह दर्शाते हुए **सम्यक्त्व स्तव प्रकरण ग्रंथ में** कहा गया है कि,

उक्कोसं सासायण, उवसमिया हुंति पंच वाराओ ।
वेयग खयग इक्कंसि, असंखवारा खओवसमो ।।२२।।

- समग्र संसार परिभ्रमण के संदर्भ में एक आत्मा को उत्कृष्ट ढंग से सास्वादन तथा उपशम सम्यक्त्व पांच बार प्राप्त हो सकता है। वेदक तथा क्षायिक सम्यक्त्व एक बार ही प्राप्त होता है और क्षायोपशमिक सम्यक्त्व असंख्य बार प्राप्त होता है।

➠ **किस गुणस्थानक पर कौन-सा सम्यक्त्व :-**

सम्यक्त्व स्तव प्रकरण में कहा गया है कि,

बीयगुणे सासाणो, तुरियाइसु अट्ठिगार चउ चउसु ।
उवसमग खइग वेयग, खओवसमा कमा हुंति ।।२३।।

- सास्वादन सम्यक्त्व दूसरे (सास्वादन नामक) गुण स्थानक पर होता है। उपशम सम्यक्त्व चौथे गुणस्थानक से ग्यारहवें 'उपशांत मोह' गुणस्थानक तक होता है। क्षायिक सम्यक्त्व चौथे से चौदहवें अयोगी केवली गुणस्थानक तक होता है। वेदक तथा क्षयोपशम सम्यक्त्व चौथे गुणस्थानक से लेकर सातवें गुण स्थानक तक होता है।

➠ **सम्यक्त्व के दस प्रकार :-**

निसर्ग रुचि आदि सभी दस प्रकार के नाम पूर्व में दर्शाए हैं। अब हर प्रकार के सम्यक्त्व का क्रमशः स्वरूप देखेंगे ।

(१) निसर्ग रुचि[22] **:** स्वयं प्रकट होनेवाले क्षयोपशम विशेष से जीवादि नौ पदार्थों की जो रुचि पैदा होती है, उसे निसर्ग रुचि कहा जाता है। **(२) उपदेश रुचि**[23] **:** सद्गुरु के उपदेश से जीवाजीवादि नौ पदार्थों की रुचि पैदा होती है, उसे उपदेश रुचि कहा जाता है। **(३) आज्ञा रुचि**[24] **:** असत्य बोलने के राग-द्वेष-मोहादि कारण जिसके नष्ट हो चुके हैं, ऐसे श्री जिनेश्वर परमात्मा की आज्ञा सत्य है और शंकारहित ही होती है, ऐसी आज्ञा के प्रति जो रुचि प्रकट होती है, उसे आज्ञा रुचि कहा जाता है अथवा राग-द्वेष से रहित पुरुष की आज्ञा से ही धर्मानुष्ठान में रुचि उत्पन्न हो, उसे आज्ञा रुचि कहा जाता है। **(४) सूत्र रुचि**[25]**:** सूत्र के अध्ययन के अभ्यास से उत्पन्न हुए विशेष ज्ञान द्वारा जीव-अजीव आदि पदार्थों के विषय में जो रुचि उत्पन्न होती है, उसे सूत्र रुचि कहा जाता है। **(५) बीज रुचि**[26] **:** जैसे पानी में तेल का बिन्दु विस्तारित होता है,

वैसे ही एक पद को जानकर अनेक पदों और उनके पदार्थों तक बुद्धि का विस्तार होना, उसे बीज रुचि कहा जाता है। **(६) अभिगम रुचि**[27] : अर्थ से सकल सूत्र विषयक रुचि को अभिगम रुचि कहा जाता है अर्थात् ग्यारह अंग, बारह उपांग, पयन्नाएं तथा दृष्टिवाद : ये सब श्रुतज्ञान अर्थपूर्वक जानने की रुचि को अभिगम रुचि कहा जाता है। **(७) विस्तार रुचि**[28] : षड् द्रव्यात्मक लोक के द्रव्य-गुण-पर्याय आदि सभी भावों को प्रत्यक्षादि सभी प्रमाणों से जानने और सातनय-सप्तभंगी से इन सभी पदार्थों का बोध प्राप्त करने को विस्तार रुचि कहा जाता है। **(८) क्रिया रुचि**[29] : दर्शन-ज्ञान-चारित्र-तप-विनयादि अनुष्ठान सम्बंधी रुचि को क्रिया रुचि कहा जाता है। **(९) संक्षेप रुचि**[30] : जो जीवात्मा अनभिग्रहीत मिथ्यादृष्टि हो, जैन प्रवचन के विषय में अकुशल हो और निर्वाण पदमात्र की ही रुचिवाला हो, उसकी रुचि को संक्षेप रुचि कहा जाता है। **(१०) धर्म रुचि**[31] : श्री जिनेश्वर परमात्मा द्वारा कथित धर्मास्तिकाय आदि पदार्थों, श्रुतधर्म व चारित्रधर्म में रखी जानेवाली श्रद्धा को धर्म रुचि कहा जाता है।

→ विभिन्न विषय की प्रश्नोत्तरी :-

प्रश्न : एक बार सम्यग्दर्शन प्राप्त होने के बाद उससे पतित हो सकते हैं अथवा नहीं ?

उत्तर : औपशमिक सम्यक्त्व प्राप्ति के बाद (सैद्धांतिक अभिप्राय के अनुसार) जीवात्मा अवश्य पतित होती है - मिथ्यादृष्टि बनती है। (जबकि कार्मग्रंथिक अभिप्राय के अनुसार) वह जीवात्मा पूर्व में दर्शाए अनुसार क्षायोपशमिक सम्यक्त्व भी प्राप्त कर सकती है।

क्षायोपशमिक सम्यक्त्व प्राप्त करने के बाद भी उससे पतित हो सकती है। क्षायोपशमिक सम्यक्त्व असंख्य बार आता-जाता है। क्षायिक सम्यक्त्व आने के बाद नष्ट नहीं होता है।

प्रश्न : सम्यक्त्व से पतित होने के बाद जीवात्मा मिथ्यात्वादि कर्मों की

उच्च स्थिति का उपार्जन करती है या नहीं ?

उत्तर : इस प्रश्न का उत्तर देते हुए ललित विस्तरा ग्रंथ में कहा गया है कि, **"न चासौ तथातिसंक्लिष्टस्तत्प्राप्ताविति प्रवचनपरगृह्यम् । न खलु भिन्नग्रन्थेर्भूयस्तद्बन्ध इति तन्त्रयुक्त्युपपत्तेः"**

- सम्यग्दृष्टि आत्मा (सम्यग्दर्शन प्राप्त करने के बाद उसका वमन कर दे तो भी) अति संक्लिष्ट अर्थात् सानुबंध क्लेशवाली नहीं बनती है अर्थात् सम्यग्दृष्टि आत्मा एक बार सम्यग्दर्शन प्राप्त करने के बाद किसी भी कारण से वमन करे तो भी अति संक्लेशवाली नहीं बनती है और इस कारण मिथ्यात्वादि कर्मों की उच्च स्थिति का उपार्जन नहीं करती है।

यहां उल्लेखनीय है कि, ललित विस्तरा ग्रंथ का अभिप्राय सैद्धांतिक है। कार्मग्रंथिक अभिप्राय उससे भिन्न है। **धर्मसंग्रह ग्रंथ में दोनों अभिप्राय दर्शाते हुए कहा गया है कि,**

"अवाप्तसम्यक्त्वश्च तत्परित्यागे कार्मग्रन्थिकमतेनोत्कृष्टस्थितीः कर्मप्रकृतीर्बन्धाति, सैद्धान्तिकाभिप्रायस्तु भिन्नग्रन्थेरुत्कृष्टः स्थितिबन्ध एव न स्यात् ।"

- सम्यक्त्व प्राप्त करने के बाद उसका त्याग करनेवाली आत्मा को कार्मग्रन्थिक अभिप्राय से कर्मों की उच्च स्थिति का उपार्जन होता है। जबकि सैद्धान्तिक मत से भिन्नग्रंथिक आत्मा को उच्च स्थिति का उपार्जन नहीं होता है। भले ही सम्यग्दर्शन से पतित हो जाए। लेकिन ग्रंथि का भेदन होने से तीव्र संक्लेश नहीं होता है और इसलिये उच्च स्थितिबंध नहीं होता है।

प्रश्न : सम्यग्दर्शन प्राप्ति के बाद आत्मा देशविरति व सर्वविरति कब प्राप्त करती है ?

उत्तर : इस प्रश्न का उत्तर देते हुए **विशेषावश्यक भाष्य ग्रंथ** में कहा गया है कि,

सम्मत्तंमि उ लद्धे, पलियपुहत्तेण सावओ होइ ।
चरणोवसमखयाणं, सागरसंखन्तरा होन्ति ।।११९६।।

सम्यक्त्व प्राप्ति के बाद शेष कर्मों में से २ से ९ पल्योपम प्रमाण स्थिति का क्षय होता है, तब आत्मा देशविरति को प्राप्त करती है और उससे अनेक सागरोपम स्थिति प्रमाण कर्मों का क्षय होता है, तब सर्वविरति धर्म प्राप्त करती है। उससे संख्यात सागरोपम की स्थिति का क्षय करे तब उपशम श्रेणी प्राप्त करती है और उससे भी संख्यात सागरोपम की स्थिति का क्षय करे तब क्षपक श्रेणी प्राप्त करती है।

यहां उल्लेखनीय है कि, सात कर्मों की स्थिति अंतःकोड़ाकोड़ी सागरोपम प्रमाण हो, तब आत्मा ग्रंथि देश में आती है और जैसा कि पूर्व में देखा है, वैसे ही अपूर्वकरण से ग्रंथि का भेदन करती है, **पंचसंग्रह ग्रंथ में कहा गया है कि,** अपूर्वकरण की शुरुआत में कर्मों की जो स्थिति विद्यमान थी उसका संख्यातमा भाग करण के अंत में शेष रहता है।[32]

हालांकि अपूर्वकरण के अंतर्मुहूर्त्त के काल में आत्मा चार विशेष कार्य करती है।[33] (१) अपूर्व स्थितिघात, (२) अपूर्व रसघात, (३) अपूर्व गुणश्रेणी व (४) अपूर्व स्थितिबंध।

हालांकि अपूर्वकरण के अंतर्मुहूर्त्त के काल में शुरुआत से लेकर हर समय अनंतगुनी विशुद्धि होती है और वह संपूर्ण करण के अंत तक होती है।[34] इस विशुद्धि के प्रभाव से ही ग्रंथि का भेदन होता है।

अनिवृत्तिकरण में भी आत्मा पूर्वोक्त चार कार्य करती है। इस विषय में विस्तृत जानकारी पंचसंग्रह, भाग-२ के उपशमनाकरण से प्राप्त होती है। जिज्ञासु लोगों को वहां से जानकारी प्राप्त करने की सिफारिश है।

यहां उल्लेखनीय है कि, उपशम सम्यक्त्व को प्राप्त करनेवाली आत्माओं

में से कुछ आत्माएं वहां से पतित होकर सास्वादन गुण स्थानक पर जाकर मिथ्यात्व गुण स्थानक तक पहुंचती हैं। तो कुछ आत्माएं सम्यक्त्व के साथ ही देशविरति व सर्वविरति गुणस्थानक पर पहुंच जाती हैं। पंचसंग्रह उपशमनाकरण में इस बात को दर्शाते हुए कहा गया है कि,

छावलियासेसाए उवसमअद्धाइ जाव इगसमयं ।
अशुभपरिणामओ कोइ जाइ इह सासणत्तंपि ।।२७।।

सम्मत्तेणं समगं सव्वं देसं च कोई पडिवज्जे ।
उवसंतदंसणी सो अंतरकरणे ठिओ जाव ।।२८।।

भावार्थ :- उपशम सम्यक्त्व-अंतःरकरण का कम से कम एक समय और अधिक से अधिक छह आवलिका जितना समय बाकी रहे, तब किसी जीवात्मा में अशुभ परिणाम के कारण अनंतानुबंधी कषायों का उदय होता है और उससे वह सास्वादन नामक द्वितीय गुणस्थानक को प्राप्त करती है। इसके बाद वहां से नीचे गिरकर जीवात्मा अवश्य ही मिथ्यात्व गुणस्थानक पर पहुंच जाती है। (जबकि) कुछ जीवात्माओं को उपशम सम्यक्त्व के साथ ही देशविरति और सर्वविरति प्राप्त हो जाती है[35] अर्थात् वे जीवात्माएं सीधी पंचम और षष्टम गुणस्थानक पर पहुंच जाती हैं। (शतक की बृहद्चूर्णि में कहा गया है कि,)

- "अंतःकरण में स्थित उपशम सम्यक्त्वी कोई जीवात्मा देशविरति भी प्राप्त करती है और कोई जीवात्मा प्रमत्त व अप्रमत्त भाव भी प्राप्त करती है। परन्तु सास्वादन भाव को कोई प्राप्त नहीं करती है।"

प्रश्न : सम्यग्दर्शन प्राप्ति के बाद जीवात्मा की मुक्ति कब होती है ?[36]

उत्तर : जो जीवात्मा एक बार सम्यग्दर्शन को स्पर्श करती है, उस जीवात्मा का संसार अधिक से अधिक अर्धपुद्गल परावर्तनकाल से अधिक नहीं होता है। **नवतत्त्व प्रकरण** में इसी बात को दर्शाते हुए कहा गया है कि,

अंतोमुहूत्त-मित्तंपि फासियं हुज्ज जेहिं सम्मत्तं ।
तेसिं अवड्ढपुग्गल, परियट्टो चेव संसारो ।।५३।।

यहां स्मरण रखें कि, क्षायिक समकिति जीवात्मा ने यदि आयुष्य का बंध न किया हो, तो उसी भव में क्षपक श्रेणी लगाकर मोक्ष प्राप्त कर लेती है और यदि क्षायिक सम्यग्दर्शन पाने से पूर्व अन्य भव का आयुष्य बंध हो गया हो, तो तीन या चार भव में मोक्ष प्राप्त करती है।

जबकि क्षायोपशमिक समकिति आत्मा भी बहुत कम भवों में मोक्ष प्राप्त करती है। परन्तु जो जीवात्मा सम्यक्त्व का वमन करके बहुत आशातना आदि करती है, उस जीवात्मा का संसार, अर्द्ध पुद्गल परावर्तन काल जितना हो जाता है। परन्तु समकिति जीवात्मा का संसार अर्धपुद्गल परावर्तन काल से अधिक नहीं होता है। **उपदेशपद ग्रंथ में कहा गया है कि,**

तित्थयरं पवयणसुअं, आयरिअं गणहरं महड्ढीयं ।
आसायंतो बहुसो, अणंतसंसारिओ होइ ।।४२३।।

- जो जीवात्मा तीर्थंकर परमात्मा, प्रवचन (शासन) - श्रुत, आचार्य, गणधर व महर्द्धिक की कई बार आशातना करती है, वह जीवात्मा अनंत संसारी होती है।

हालांकि, सम्यग्दर्शन की उपस्थिति में आयुबंध हो तो जीवात्मा नियमा वैमानिक देवलोक में उत्पन्न होती है।

प्रश्न : सम्यग्दृष्टि आत्मा की मनःस्थिति कैसी होती है ?

उत्तर : सम्यग्दृष्टि आत्मा की मनःस्थिति का वर्णन करते हुए विंशति विंशिका ग्रंथ की छठवीं **सद्धर्म विंशिका में** कहा गया है कि,

नरविबुहेसरसुक्खं दुक्खं चिय भावओ उ मन्नंतो ।
संवेगओ न मुक्खं मुत्तूणं किंपि पत्थेइ ।।६-१।।

नारयतिरिनरामरभवेसु निव्वेयओ वसइ दुक्खं ।
अकयपरलोकमग्गो ममत्तविसवेगरहिओ वि ।।६-१२।।

- सम्यग्दृष्टि जीवात्मा मनुष्य व देवेन्द्रों के सुखों को भाव से (परमार्थ से) दुःख स्वरूप ही मानती है। (इसलिये संसार के सुखों के प्रति निर्वेदवाली होती है और मोक्षसुख की अभिलाषा (संवेग) वाली होती है।) इसलिये संवेग होने के कारण मोक्ष के अतिरिक्त कोई अन्य प्रार्थना नहीं करती है अर्थात् मोक्ष के अलावा किसी अन्य पदार्थ या सुख की प्रार्थना नहीं करती है। हालांकि, संवेग-निर्वेद के परिणाम के कारण ममत्व रूपी विष के वेग से रहित होने के बावजूद परलोक का मार्ग सिद्ध न होने से वह (अर्थात् मोक्ष मार्ग की यात्रा पूर्ण न होने से वह) सम्यग्दृष्टि जीवात्मा नर्क, तिर्यंच, मनुष्य व देवगति के विषय में अर्थात् चार गति स्वरूप संसार में निर्वेदपूर्वक दुःखी होकर रहती है।

सम्यग्दृष्टि आत्मा को परमार्थ से संसार का परिचय हो जाता है। इसलिये कोई भी पदार्थ, संयोग, व्यक्ति, परिस्थिति उसे साररूप नहीं लगते हैं। इसलिये उनके प्रति उसमें निर्वेद भाव प्रकट हो जाता है और सच्चे सुख के स्थान (मोक्ष) की भी परमार्थ से पहचान हो जाती है। इसलिये उसमें मोक्षाभिलाषा प्रकट हो जाती है। **जब यह समझ में आ जाता है कि यहां रहने में सार नहीं, फिर वहां रहने में ऊब जाना स्वाभाविक है। जब यह समझ में आ जाता है कि वहां जाने में ही सार है तो वहां पहुंचने की अभिलाषा का प्रकट होना भी स्वाभाविक है।** निर्वेद-संवेग के परिणामों के साथ जीवात्मा संसार में कभी रुचिपूर्वक प्रवृत्ति नहीं कर सकती है। संवेग-निर्वेद का परिणाम उसे संसार की किसी भी क्रिया में रुचि लेने नहीं देता है। सम्यग्दृष्टि आत्मा को संसार की प्रत्येक क्रिया में संसार भ्रमण ही दिखाई देता है - भय दिखाई देता है और इसीलिये शास्त्रों में कहा गया है कि,

सम्यग्दर्शनपूतात्मा न भवोदधौ रमते । - सम्यग्दृष्टि आत्मा संसारसागर

में कभी रमण नहीं करती है।

इसलिये सम्यग्दृष्टि आत्मा यदि अविरति कर्म अवरोधक न बने, तो तुरंत चारित्र के मार्ग पर चल पड़ती है और अविरति कर्म अवरोधक हो तथा संसार में रहना मजबूरी हो तो भी संसार में खेद-निर्वेदपूर्वक रहती है। संसार की कोई क्रिया रुचिपूर्वक नहीं करती है। **सम्यग्दृष्टि का ध्येय अब भोग नहीं, बल्कि त्याग होता है और इसलिये उसे भोगों के प्रति अनासक्ति हो जाती है** तथा इससे अविरति कर्म के कारण संसार की क्रियाएं करनी पड़ती हों तो भी वह निर्ध्वंस भाव से नहीं करती है। निर्ध्वंस भाव न होने के कारण उसे जितने भी पापबंध होते हैं, वे अत्यंत अल्प होते हैं। इसीलिये **वंदित्ता सूत्र** में कहा गया है कि,

सम्मदिट्ठी जीवो जइ वि हु पावं समायरे किंची ।
अप्पो सि होइ बंधो, जेण न निद्धंधसं कुणइ ।।३६।।

- सम्यग्दृष्टि जीवात्मा (कर्मयोग से अंततोगत्वा) जो भी पापाचरण करती है, उससे उसे अल्प पाप कर्म का ही बंध होता है। क्योंकि, उसमें पाप करते समय (अनासक्ति के कारण) निर्ध्वंस (निर्दय) परिणाम नहीं होता है।

पाप करने का कोई रंज न हो और रुचिपूर्वक किया जाता हो, पाप करके उसकी प्रशंसा की जाती हो तथा सुख के लिये कैसे भी पाप करने की मनोवृत्ति हो, वह पाप कार्य में निहित **निर्ध्वंसता** है। समकिति आत्मा में ऐसी निर्ध्वंसता (निर्दयता) नहीं होती है। इसलिये उसे पाप कर्म का अल्प बंध ही होता है।

इसीलिये परमार्थ को जाननेवाली सम्यग्दृष्टि आत्मा पाप में लीन नहीं होती है, धर्म में हीन नहीं होती है, बुद्धि में क्षीण नहीं होती है, सुख में तल्लीन नहीं होती है और दुःख में दीन नहीं होती है।

संक्षेप में, सम्यग्दृष्टि की मनोस्थिति किसी भी परिस्थिति में संसार से मुक्त होकर संयम मार्ग पर जाकर मोक्ष प्राप्त करने की होती है। इसलिये कर्म योग

से कदाचित संसार में रहती हो तो भी मन से वह मोक्ष-संयम में ही होती है। **इसीलिये योगबिंदु ग्रंथ में कहा गया है कि,**

भिन्नग्रन्थेस्तु यत्प्रायो मोक्षे चित्तं भवे तनु ।
तस्य तत्सर्वम् एवेह योगो योगो हि भावतः ।।२०३।।

- भिन्नग्रंथिक सम्यग्दृष्टि जीवात्मा का मन प्रायः मोक्ष में होता है और शरीर संसार में होता है। इसलिये सम्यग्दृष्टि की सभी क्रियाएं निश्चय से योग ही बन जाती हैं।

जैसे धावमाता राजा के पुत्र का लालन-पालन करती है, इसके बावजूद उसका मन तो अपनी संतान में ही होता है, वैसे ही सम्यग्दृष्टि आत्मा कर्म योग से परिवारादि की चिंता करती है, लेकिन उसका मन तो संयम और मोक्ष में ही होता है।

प्रश्न : हमने सम्यग्दर्शन प्राप्त किया या नहीं, यह कैसे पता चलता है ?

उत्तर : सम्यग्दर्शन आत्मा का परिणाम है। वह किसी इन्द्रिय से ग्राह्य नहीं है। इसलिये उसे साक्षात् नहीं देखा जा सकता। परन्तु शास्त्रों में इस गुण को पहचानने के लक्षण (लिंग) दर्शाए गये हैं, उनसे हमने सम्यग्दर्शन प्राप्त किया है अथवा नहीं, यह सुनिश्चित किया जा सकता है।

प्रश्न : सम्यग्दर्शन को पहचानने के लक्षण कौन-कौन-से हैं ?

उत्तर : धर्म संग्रह, योग शास्त्र, तत्त्वार्थ भाष्य[37], सम्यक्त्व के सड़सठ बोल की सज्झाय, विंशति विंशिका आदि में सम्यक्त्व के पांच लक्षण दर्शाए गये हैं -

शमसंवेगनिर्वेदानुकम्पास्तिक्यलक्षणैः ।
लक्षणैः पञ्चभिः सम्यक्, सम्यक्त्वमुपलक्ष्यते ।।२-१५।। (योगशास्त्रम्)

- शम, संवेग, निर्वेद, अनुकंपा तथा आस्तिकता : इन पांच लक्षणों से अच्छे

ढंग से सम्यक्त्व की पहचान की जा सकती है। अर्थात् शमादि पांच लक्षण से सम्यक्त्व की पंहचान होती है।

(१) शम (प्रशम) :

शम की व्याख्या करते हुए धर्मसंग्रह ग्रंथ में कहा गया है कि,

तत्र शमः प्रशमः अनन्तानुबन्धिनां काषायाणामनुदयः, स च प्रकृत्या कषायपरिणतेः कटुफलावलोकनाद्वा भवति । यदाह -

"पयईए कम्माणं, नाऊणं वा विवागमसुहं ति ।
अवरुद्धे वि न कुप्पइ, उवसमओ सव्वकालं पि" ।।१।।

अर्थ : अनंतानुबंधी कषायों के अनुदय (उपशम) को शम (प्रशम) कहा जाता है। यह प्रशम प्रकृति (स्वभाव) से अथवा कषाय की परिणति के कटु फल के अवलोकन से होता है। विंशति विंशिका ग्रंथ में कहा गया है कि, स्वभाव से या कर्मों के अशुभ दुष्परिणाम को जानकर सम्यग्दृष्टि जीवात्मा सदैव उपशम में होने के कारण कोई अपराध करे तो भी क्रोध नहीं करती है।

कहने का तात्पर्य यह है कि, सम्यग्दृष्टि जीवात्मा कर्म स्थिति को अच्छे से जानती है, इसलिये कर्म पीड़ित कोई जीवात्मा अपराध करे तो भी उस पर क्रोध नहीं करती है और साथ ही यह भी जानती है कि, मैं क्रोध करूंगी तो मुझे कर्मबंध होगा और उससे अशुभ दुष्परिणाम प्राप्त होंगे। इसलिये कर्म स्थिति को जानकर या कर्मों के अशुभ दुष्परिणाम को जानकर वह क्रोध नहीं करती है।

यहां स्मरण रहे कि, यहां मात्र क्रोध कषाय के ही उपशम की बात नहीं की गई है। बल्कि चारों कषायों के उपशम को ग्रहण करना है। इसलिये क्रोध, मान, माया और लोभ, इन चारों कषायों का उपशम होता है अर्थात् सम्यग्दृष्टि आत्मा की क्रोध की अपराध भावना, पूर्वग्रह, व्युद्ग्रह, द्वेष भावना, प्रद्वेष भावना, शत्रु भावना आदि विकृतियां शांत हो जाती हैं। अभिमान की स्वोत्कर्ष के अभिमान,

अकड़, अन्य के प्रति तिरस्कार भाव, जात्यादि का मद आदि विकृतियां शांत हो जाती हैं। माया की प्रपंच, कपट वृत्ति, हृदय-वाणी का विसंवाद आदि विकृतियां शांत हो जाती हैं। लोभ की पदार्थ तृष्णा, संग्रह वृत्ति, मूर्च्छा आदि विकृतियां भी शांत हो जाती हैं।

संक्षेप में, सम्यग्दृष्टि जीवात्मा क्रोध के स्थान पर क्षमा, अभिमान के स्थान पर विनम्रता, माया के स्थान पर सरलता और लोभ के स्थान पर संतोष तथा निःस्पृहता को प्राप्त कर लेती है। हालांकि, यह क्षमादि भी वचन क्षमादि होती है।[38]

(२) संवेग :

संवेगो मोक्षाभिलाषः । सम्यग्दृष्टिर्हि नरेन्द्र-सुरेन्द्राणां विषयसुखानि दुःखानुषङ्गाद् दुःखतया मन्यमानो मोक्षसुखमेव सुखत्वेन मन्यतेऽभिलषति च। (धर्मसंग्रहः)

- संवेग अर्थात् मोक्षाभिलाषा। सम्यग्दृष्टि आत्मा नरेन्द्र और देवेन्द्रों के विषय सुखों को दुःखानुषंगी होने के कारण उन्हें दुःख रूप मानती है। इन विषयसुखों को दुःख रूप माननेवाली आत्मा मोक्ष सुख को ही सुख के रूप में मानती है और मोक्ष सुख की ही अभिलाषा करती है।

सम्यग्दृष्टि आत्मा परमार्थ को देखने की दृष्टिवाली हो जाती है, इसलिये वह जगत के पदार्थों का यथार्थ अवलोकन कर सकती है, जगत के जीवात्मा जिसमें सुख मानते हैं, उसमें उसे मात्र दुःख दिखाई देता है। क्योंकि, उसे वे सुख दुःख से घिरे दिखाई देते हैं और वह ये भी जानती है कि ये सुख अंततः तो दुःखदायी ही सिद्ध होनेवाले हैं। इसलिये वह सांसारिक सुखों को दुःख रूप मानती है और स्थाई तथा दुःख के अंश से भी मुक्त मोक्ष सुख को ही सुखरूप मानती है तथा उसी की अभिलाषा करती है।[39] (इस विषय की विशेष चर्चा विकासक्रम के उपक्रम में पांचवीं दृष्टि में की गई है। इसलिये इस विषय में यहीं पर विराम लेते हैं।)

(३) निर्वेद :

निर्वेदो भववैराग्यम्, सम्यग्दर्शनी हि दुःखदौर्गत्यगहने भवकारागारे कर्मदण्डपाशिकैस्तथा कदर्थ्यमानः प्रतिकर्त्तुमक्षमो ममत्वरहितः दुःखेन निर्विण्णो भवति । (धर्मसंग्रहः)

- निर्वेद अर्थात् भववैराग्य-संसार के प्रति अरुचि। दुःख व कंगालियत (दुर्गति) से गहन भवरूपी कारागृह में कर्म रूपी पुलिस द्वारा विविध प्रकार से यातनाएं पाती और प्रतिकार करने में असमर्थ सम्यग्दृष्टि जीवात्मा ममत्व से रहित दुःख से खिन्न होती है, तंग आ चुकी होती है।

सम्यग्दृष्टि आत्मा की दृष्टि खुल जाती है और आसक्तियां नष्ट हो जाती हैं। इसलिये वह संसार को अच्छी तरह से देख सकती है। संसार के भीतर भी देख सकती है। इसलिये उसे संसार में कहीं सुख दिखाई नहीं देता है। संसार काराग्रह के समान दुःखों से व्याप्त दिखाई देता है। कर्मो से जीवात्मा पग-पग पर यातनाएं सहन करती दिखाई देती है और इन यातनाओं से मुक्त होने के उसके सभी पुरुषार्थ विफल होते दिखाई देते हैं। इसलिये वह संसार के प्रति खिन्न हो जाती है और संसार से मुक्त होने के विचारों में ही मग्न रहने लगती है।

दृष्टि न खुली हो और आसक्तियां तीव्र हों, तो सामने स्थित ज़गत को सही ढंग से नहीं देखा जा सकता है। अत्याधिक राग वस्तु के दोषों को नहीं देखने देता है। चूंकि सम्यग्दृष्टि आत्मा को संसार की सच्चाई का ज्ञान हो जाता है, इसलिये उसमें संसार के प्रति राग-आसक्ति नहीं होती है, इसीलिये वह संसार के सभी बुरे लक्षणों को देख सकती है। इनमें उसे मात्र दुःख, यातना, अवगणना, तिरस्कार, खोखलापन, अभाव, रोग, शोक, आधि, उपाधि, व्याधि आदि के दुःख ही दिखाई देते हैं। इसी कारण वह संसार से खिन्न होकर संसार में दुःखपूर्वक रहती है और अवसर मिलने पर संसार से मुक्त होने की भावना में रमती है।[40]

(४) अनुकंपा :

अनुकम्पा दुःखितेष्वपक्षपातेन दुःखप्रहाणेच्छा, पक्षपातेन तु करुणा पुत्रादौ व्याघ्रादीनामप्यस्त्येव सा चानुकम्पा द्रव्यतो भावतश्चेति द्विधा । द्रव्यतः सत्यां शक्तौ दुःखप्रतिकारेण, भावतश्चार्द्रहृदयत्वेन । यदाह-

दट्ठूण पाणिनिवहं भीमे भवसागरंमि दुक्खत्तं ।
अविसेसओऽणुकंपं, दुहा वि सामत्थओ कुणइ ।।१२।।

- (सम्यग्दृष्टि आत्मा में) (अपने-पराए के) पक्षपातरहित दुःख दूर करने की इच्छा रूपी **अनुकंपा** होती है। पक्षपातपूर्वक होनेवाली करुणा अनुकंपा नहीं होती है। यदि पक्षपातपूर्वक की जानेवाली करुणा को अनुकंपा कहेंगे, तो अपनी संतान पर करुणा रखनेवाले (अनुकंपारहित) बाघ आदि को भी अनुकंपा मानना पड़ेगा।

अनुकंपा दो प्रकार से होती है। एक द्रव्य से और दूसरी भाव से। शक्ति-सम्पन्न होने से किसी के दुःख दूर करने को द्रव्य अनुकंपा कहा जाता है। किसी के दुःख को देखकर हृदय द्रवित हो जाने को भाव अनुकंपा कहते हैं। **विंशति विंशिका प्रकरण में कहा गया है कि,** "सम्यग्दृष्टि जीवात्मा अपने सामर्थ्य से, भयंकर भवसागर में दुःख से पीड़ित जीवात्माओं के समुदाय को देखकर (मेरा-तेरा का भेद किये बिना) द्रव्य तथा भाव दोनों प्रकार की अनुकंपा करती है।

सम्यग्दृष्टि आत्मा दूसरों के शारीरिक-मानसिक दुःखों को देखकर द्रवित हो जाती है और अपने सामर्थ्य के अनुसार उनके दुःख दूर करने का प्रयत्न करती है तथा भाव की दृष्टि से दुःखी जीवात्माओं को सन्मार्ग पर लाकर उन पर भाव अनुकंपा करती है।

यहां स्मरण रहे कि, सम्यग्दृष्टि आत्मा स्वयं भी सन्मार्ग पर जाने की इच्छुक होती है और दूसरों को भी एकमात्र सन्मार्ग पर ही ले जाने की इच्छुक

होती है। किसी पर द्रव्य अनुकंपा करते समय भी उसमें ऐसी भाव अनुकंपा भी होती ही है कि भविष्य में इसकी आत्मा सन्मार्ग पर ही जाए और स्थाई सुख प्राप्त करे।

(५) आस्तिकता :

आस्तिकता का स्वरूप दर्शाते हुए **विंशति विंशिका** में कहा गया है कि,

भण्णइ तमेव सच्चं, नीसंकं जं जिणेहिं पण्णत्तं ।
सुहपरिणामो सम्मं, कंखाइविसुत्तिआरहिओ ।।६-१४।।

- शंका-कांक्षा आदि विस्रोतसिका से रहित (विपरीत परिणामों से रहित) शुभ परिणामवाली सम्यग्दृष्टि जीवात्मा मानती है कि, "जो जिनेश्वर भगवान ने कहा है, वही सत्य एवं शंकारहित है।"

सम्यग्दृष्टि की मान्यता होती है कि, श्री जिनेश्वर परमात्मा जो कहते हैं वही सत्य और शंकारहित होता है। अन्य के तत्त्वों को सुनने के बावजूद श्री जिनोक्त तत्त्व के विषय में उसे शंका आदि नहीं होती है।

इस प्रकार प्रशम, संवेग, निर्वेद, अनुकंपा और आस्तिकता : इन पांच लक्षणों से हमे सम्यग्दर्शन प्राप्त हुआ है अथवा नहीं, यह सुनिश्चित कर सकते हैं।

प्रश्न : सम्यक्त्व प्राप्ति हेतु कौन-कौन-से आचारों का पालन करना चाहिये ?

उत्तर : सम्यक्त्व की प्राप्ति के लिये मिथ्यात्व का त्याग करना आवश्यक है और सम्यक्त्व सप्तति, उपदेश प्रासाद, सड़सठ बोल की सज्झाय आदि ग्रंथों में वर्णित सड़सठ आचारों का पालन करना आवश्यक है। **सम्यक्त्व के सड़सठ आचार तीसरी औषधि के समान हैं। ये आचार यदि सम्यक्त्व प्राप्त नहीं हुआ होगा, तो उसकी प्राप्ति कराते हैं और प्राप्त सम्यग्दर्शन को निर्मल बनाते हैं।**

प्रश्न : मिथ्यात्व अर्थात् क्या ? मिथ्यात्व के कितने प्रकार हैं ?

उत्तर : श्री जिनेश्वर परमात्मा द्वारा प्ररूपित तत्त्वों से विपरीत श्रद्धा हो, उसे **मिथ्यात्व** कहा जाता है[41] अर्थात् विपरीत मान्यता होना अर्थात् जगत जैसा है, उसे वैसा न मानते हुए उससे विपरीत मानना, इसे मिथ्यात्व कहा जाता है। (इस मिथ्यात्व के भिन्न-भिन्न प्रकार होते हैं।)

➠ मिथ्यात्व के दो प्रकार :

मिथ्यात्व के दो प्रकार दर्शाते हुए धर्मसंग्रह ग्रंथ में कहा गया है कि,

''मिथ्यात्वं च लौकिक-लोकोत्तरभेदाद् द्विधा, एकैकमपि देवविषयगुरुविषयभेदाद् द्विविधम् ।''

- मिथ्यात्व लौकिक व लोकोत्तर के भेद से दो प्रकार का होता है। ये दोनों मिथ्यात्व भी देव सम्बंधी तथा गुरु सम्बंधी भेद से भी दो प्रकार के हैं अर्थात् लौकिक देव सम्बंधी मिथ्यात्व और लौकिक गुरु सम्बंधी मिथ्यात्व। तथा लोकोत्तर देव सम्बंधी मिथ्यात्व और लोकोत्तर गुरु सम्बंधी मिथ्यात्व, इस प्रकार चार तरह का मिथ्यात्व होता है।

हरिहर, ब्रह्मा, विष्णु आदि लौकिक देवों को प्रणामादि करना, पूजादि करना या उनके मंदिर आदि में जाना, यह लौकिक देव सम्बंधी मिथ्यात्व है।[42] परिव्राजक, संन्यासी, तापस आदि लौकिक गुरुओं को प्रणामादि करना, पूजादि करना या उनकी कथा का श्रवण करना, **लौकिक गुरु सम्बंधी मिथ्यात्व है।**[43]

परतीर्थिकों द्वारा (अन्य लोगों द्वारा) ग्रहण की गई जिन प्रतिमा की पूजादि करना और आलोक के सुख के लिये श्री जिनेश्वर परमात्मा की पूजा आदि करना, तीर्थ यात्रा करना, मानता(आखडी) रखना आदि **लोकोत्तर देव सम्बंधी मिथ्यात्व है।**[44]

जैनदर्शन में निहित पार्श्वस्था आदि साधुओं को गुरुत्व बुद्धि से वंदनादि

करना, गुरुस्तूप आदि की आलोक के सुख के लिये यात्रा करना, भक्ति करना आदि **लोकोत्तरगुरु सम्बंधी मिथ्यात्व है।**[45]

इसी प्रकार मिथ्या धर्मों का सेवन करना **लौकिकधर्म सम्बंधी मिथ्यात्व कहलाता है** और वीतराग प्ररूपित धर्म का आलोक के सुख आदि के लिये पालन किया जाए तो वह **लोकोत्तरधर्म सम्बंधी मिथ्यात्व** कहलाता है।

प्रश्न : किसी मिथ्यात्वी देव की देवत्व की बुद्धि से आराधना करें तो मिथ्यात्व दोष लगता है, यह बात सही है, परन्तु यदि देवत्व बुद्धि रखे बिना किसी भौतिक सुख की प्राप्ति के लिये अथवा विघ्नों का नाश करने के लिये आराधना करें तो मिथ्यात्व दोष लगेगा या नहीं ?

उत्तर : इस प्रश्न का बहुत सुंदर उत्तर **धर्मसंग्रह ग्रंथ में** दिया गया है। जो इस प्रकार है -

यद्यपि तत्त्ववृत्त्या अदेवादेर्देवत्वादिबुद्ध्याऽऽराधने एव मिथ्यात्वम्, तथाप्यैहिकाद्यर्थमपि यक्षाद्याराधनमुत्सर्गतस्त्याज्यमेव। परम्परया मिथ्यात्ववृद्धि-स्थिरीकरणादिप्रसङ्गेन प्रेत्यदुर्लभबोधित्वापत्तेः ।।[46]

भावार्थ : यदि परमार्थ से कुदेवादि-अदेवादि की देवत्व बुद्धि से आराधना की जाए तो ही मिथ्यात्व लगता है। फिर भी आलोक के किसी भी प्रयोजन के लिये यक्षादि की आराधना करना उत्सर्ग से त्याज्य है। निषिद्ध ही है। क्योंकि ऐसा करने से परम्परागत रूप से मिथ्यात्व की ही वृद्धि होती है और मिथ्यात्व स्थिर होता है तथा इसके द्वारा परलोक में दुर्लभबोधि बनने की आपत्ति आती है। **कहने का तात्पर्य यह है कि,** एक व्यक्ति आलोक के सुखादि के लिये यक्षादि की आराधना करे तो परमार्थ को नहीं जाननेवाले अन्य लोग भी देव बुद्धि से वह आराधना करने लगेंगे। इस कारण उन जीवात्माओं के मिथ्यात्व की वृद्धि होगी और उनके हृदय में मिथ्यात्व स्थिर होगा। लोगों के हृदय में मिथ्यात्व की वृद्धि व स्थिरता में निमित्त बनने के कारण जीवात्मा परलोक में दुर्लभ बोधि बन जाती

है। इसलिये आलोक के प्रयोजनार्थ भी किसी भी कुदेव की आराधना करना निषिद्ध है।

यद्यपि मिथ्यात्व के अन्य प्रकार से भी दो भेद हैं। (१) विपर्यासात्मक मिथ्यात्व एवं (२) अनधिगमात्मक मिथ्यात्व। जीव-अजीव आदि पदार्थों का *अस्तित्व होने के बावजूद उनके अस्तित्व को स्वीकार न करना* **विपर्यासात्मक** मिथ्यात्व है। *जीवाजीवादि पदार्थों के अस्तित्व को स्वीकारने के बावजूद जीवाजीवादि* पदार्थ जिस स्वरूप में हैं, वैसे स्वरूप में उन पदार्थों को स्वीकार न करना **अनधिगमात्मक (अज्ञान)** मिथ्यात्व है।[47]

➠ मिथ्यात्व के पांच प्रकार :-

मिथ्यात्व के पांच प्रकार दर्शाते हुए पंचवस्तुक ग्रंथ में कहा गया है कि,

अभिग्गहिअमणभिग्गहं च तह अभिनिवेसिअं चेव ।
संसइअमणाभोगं, मिच्छत्तं पंचहा एअं ।।८६।।

- आभिग्रहिक, अनाभिग्रहिक, आभिनिवेशिक, सांशयिक और अनाभोग। ये पांच प्रकार के मिथ्यात्व हैं। (अब प्रत्येक मिथ्यात्व का स्वरूप देखेंगे।)

(१) आभिग्रहिक मिथ्यात्व :-

जिसे तत्त्वों के वास्तविक स्वरूप का ज्ञान नहीं, ऐसी अज्ञानी जीवात्मा स्वयं के द्वारा स्वीकृत पदार्थों के प्रति ऐसी श्रद्धा रखती है कि, उन पदार्थों से विपरीत बात को वह समझ ही नहीं सकती। इसे **आभिग्रहिक मिथ्यादृष्टि** जीवात्मा कहा जाता है।[48]

जो जैन कहलाता हो, फिर भी अपने कुलाचार से आगम परीक्षा को बाधित करती है (अर्थात् आगम में निर्दिष्ट आचारसंहिता व सिद्धांतों को बाधित करती है) तो वह भी आभिग्रहिक मिथ्यादृष्टि जीवात्मा है। क्योंकि सम्यग्दृष्टि जीवात्मा अपरीक्षित वस्तु की (विषय-आचार-सिद्धांत की) पक्षपाती नहीं होती है।[49]

संक्षेप में, आभिग्रहिक मिथ्यादृष्टि जीवात्मा ने जिस पर श्रद्धा रखी हो, वह तत्त्व असत्य होने के बावजूद वह उसी को पकड़े रखती है और अन्य के सत्य तत्त्व को समझने के लिये तैयार नहीं होती है।

(२) अनाभिग्रहिक मिथ्यात्व :-

"सभी देव वंदनीय हैं, सभी दर्शन अच्छे और सच्चे हैं, सभी गुरु आराध्य हैं" - इस प्रकार की मान्यता वाली अज्ञानी जीवात्माओं का मिथ्यात्व अनाभिग्रहिक मिथ्यात्व है।

आभिग्रहिक मिथ्यात्व में स्वयं के माने हुए तत्त्वों को सच्चा मानने का आग्रह होता है और अन्य के तत्त्वों को झूठा सिद्ध करने की इच्छा होती है। जबकि अनाभिग्रहिक मिथ्यात्व में दूसरों को झूठा ठहराने का आग्रह नहीं होता है। परन्तु अज्ञानवश सभी देवों, धर्मों, गुरुओं को सच्चा मानने की मान्यता होती है।

(३) आभिनिवेशिक मिथ्यात्व :-[50]

सत्य तत्त्व को जानने के बावजूद दुराग्रह के वश होकर उसे स्वीकार न करना, आभिनिवेशिक मिथ्यात्व है।[51]

एक बार सम्यक्त्व प्राप्त करने के बाद यथार्थ तत्त्व को जानने के बाद कभी शास्त्र विरोधी बात पकड़ी जाए और पकड़ी जाने के बाद उसे अभिमानवश तथा दुराग्रहवश न छोड़े, वह जीवात्मा आभिनिवेशिक मिथ्यात्वी होती है। इस विषय में काफी चर्चा की जा सकती है, परन्तु विस्तार के भय से यहां रुकते हैं। जिज्ञासुओं से अन्य पुस्तकों से इस विषय में ज्ञान अर्जित करने का अनुरोध है।

(४) सांशयिक मिथ्यात्व[52] **:-**

श्री जिनेश्वर परमात्मा के वचन प्रामाणिक होंगे या नहीं ? तथा श्री जिनेश्वरों द्वारा बताए गये शास्त्र उनके तत्त्व सच्चे होंगे या नहीं ? इस प्रकार प्रभुवचन की प्रामाणिकता में संशय और शास्त्र के पदार्थों के संशय को **सांशयिक मिथ्यात्व**

कहा जाता है।

संक्षेप में देव, गुरु, धर्म, तत्त्व आदि के विषय में संशय होना, सांशयिक मिथ्यात्व कहलाता है। **यहां स्मरण रखना चाहिये कि,** शास्त्र-अध्ययन के समय सूक्ष्म पदार्थों के विषय में संशय होने को सांशयिक मिथ्यात्व नहीं समझना चाहिये। बल्कि जो संशय, अनिवर्तनीय (निवृत्त न होनेवाला) हो, वह सांशयिक मिथ्यात्व होता है।

(५) अनाभोग मिथ्यात्व[53] :-

यह मिथ्यात्व विचारशून्य एकेन्द्रिय जीवात्माओं तथा विशेष ज्ञान से विकल मुग्ध जीवात्माओं में होता है। साक्षात् या परम्परागत से तत्त्व का अस्वीकार करना, अनाभोग मिथ्यात्व है।[54]

पूर्वोक्त पांच प्रकार के मिथ्यात्वों में आभिग्रहिक व आभिनिवेशिक मिथ्यात्व बड़े मिथ्यात्व हैं-अधिक खराब मिथ्यात्व हैं। क्योंकि विपर्यास रूप हैं। आभिग्रहिक मिथ्यात्व में सत्य तत्त्व को जानकर भी स्वीकार करने की तैयारी नहीं है और अपने ही मत का आग्रह है तथा आभिनिवेशिक मिथ्यात्व में सत्य तत्त्व को जानने के बावजूद अपनी मान्यता का इतना अधिक दुराग्रह है कि, वह जीवात्मा सत्य का स्वीकार और असत्य का त्याग नहीं कर पाती है। **यद्यपि आभिनिवेशिक मिथ्यात्व वाली जीवात्मा उसका तत्त्व असत्य होने के बावजूद उसे सत्य के रूप में प्रस्थापित करने का प्रयास करती है। इसलिये यह दोनों मिथ्यात्व विपर्यास रूप होने के कारण सानुबंध क्लेश के कारण बनते हैं।**

जबकि अनाभिग्रहिक, सांशयिक व अनाभोग मिथ्यात्व में विपरीत अवधारणा रूपी जो विपर्यास पैदा हुआ है, वह योग्य प्रयत्नों से निवर्तनीय होने के कारण यह तीन मिथ्यात्व क्रूर अनुबंध के परिणामवाले नहीं होते हैं।[55] इसलिये सम्यक्त्व प्राप्ति की इच्छा हो, उस साधक के लिये पूर्वोक्त पांचों प्रकार के मिथ्यात्व का त्याग करना आवश्यक है।

प्रश्न : सम्यक्त्व के सड़सठ आचार कौन-कौन से हैं ?

उत्तर : सम्यक्त्व सप्ततिका, धर्म संग्रह आदि ग्रंथों में सम्यक्त्व के सड़सठ आचार इस प्रकार दर्शाए गये हैं।

(१-४) चार सद्दहणा, (५-७) तीन लिंग, (८-१७) दस प्रकार का विनय, (१८-२०) तीन शुद्धि, (२१-२५) पांच दूषण, (२६-३३) आठ प्रभावक, (३४-३८) पांच भूषण, (३९-४३) पांच लक्षण, (४४-४९) छह यतना, (५०-५५) छह आगार, (५६-६१) छह भावनाएं और (६२-६७) छह स्थानक।[56]

पूर्वोक्त सभी बोलों में जो त्याग करने योग्य है, उसका त्याग करने से तथा सन्मान के योग्य वस्तु का सन्मान करने से अप्राप्त सम्यग्दर्शन प्राप्त हो जाता है और संप्राप्त की शुद्धि होती है अर्थात् यह बोल तीसरी औषधि की भांति परम आदरणीय हैं। अब इन सभी बोल का आंशिक स्वरूप देखेंगे।

➠ चार सद्दहणा[57] :

(१) परमार्थ संस्तव : जैनशासन की अगाध ज्ञानराशि का चिंतन करना। प्रभु द्वारा प्ररूपित जीवाजीवादि पदार्थों को 'सत्' आदि पदों से मन में स्थिर करके चिंतन करना। आगम के पदार्थों के रहस्यार्थ तक पहुंचना। इससे हेय-उपादेयादि तत्त्वों का संवेदन के स्तर पर बोध होता है।

(२) संविग्न-गीतार्थ गुरु की सेवा : संयमी, भवभीरू, श्रद्धावान और गीतार्थ गुरुओं की मन-वचन-काया की शुद्धिपूर्वक सेवा करना। इससे उनका ज्ञान, संयम, श्रद्धा आदि सेवक में संक्रमित होते हैं।

(३) श्रद्धाभ्रष्टजन संसर्गवर्जन : निह्नव, यथाछंदा (उत्सूत्र प्ररूपक), पासत्था, कुशील, वेषविडंबक, श्रद्धाभ्रष्ट साधुओं-लोगों का संग न करना।

(४) परदर्शनी के परिचय का त्याग करना : अन्य (जैन से अतिरिक्त) दर्शनों के साधुओं व उनके अनुयायिओ का परिचय कदापि नहीं करना चाहिये।

➠ **तीन लिंग[58] :**

(१) शुश्रूषा : श्री जिनेश्वर प्रभु की वाणी सुनने की तीव्र इच्छा प्रथम लिंग है। जैसे खारे पानी के त्याग और मीठे पानी के संयोग से बीज अंकुरित होता है, वैसे ही जिनवचन के श्रवण से आत्मज्ञान होता है, आत्मचेतना जागृत होती है, सत्-असत् का विवेक प्राप्त होता है, कर्तव्य-अकर्तव्य आदि का भेद पता चलता है। युवा स्त्री से युक्त संगीत के जानकार युवा को जैसे दिव्यगीत सुनने में राग होता है, उससे भी अधिक राग धर्म सुनने में हो जाए, तो वह सम्यक्त्व का लिंग है।

(२) धर्मराग : श्री वीतराग द्वारा प्ररूपित धर्म पर आंतरिक राग होना चाहिये। श्रुत व चारित्र दो प्रकार का धर्म है। भूखे ब्राह्मण को घेबर देखकर जैसा आंतरिक राग होता है, वैसा राग धर्म के प्रति हो, तो वह सम्यक्त्व का लिंग है।

(३) देव-गुरु की वैयावच्च : जैसे विद्यासाधक अप्रमत्तता से विद्या की साधना को सिद्ध करता है, वैसे ही अप्रमत्तता से देव-गुरु की वैयावच्च (सेवा) करना, तीसरा लिंग है।

➠ **दस प्रकार का विनय[59] :** (१) अरिहंत, (२) सिद्ध, (३) आचार्य, (४) उपाध्याय, (५) साधु, (६) धर्म, (७) चैत्य, (८) श्रुत, (९) जिनप्रवचन (संघ) तथा (१०) सम्यक्त्व : इन सभी दस की पूजा करनी चाहिये, प्रशंसा करनी चाहिये, उनके प्रति सन्मान भाव रखना चाहिये, उनकी भक्ति करनी चाहिये और उनकी आशातना रोकनी चाहिये।

➠ **तीन शुद्धि[60] :** मनः शुद्धि, वचन शुद्धि और काया शुद्धि : यह तीन प्रकार की शुद्धि सम्यक्त्व को निर्मल बनाती है।

"जिन तथा जिनमत के अतिरिक्त सब असत्य है" ऐसी बुद्धि को **मनः शुद्धि** कहा जाता है।

''जिनभक्ति से जो नहीं हो सकता, वह अन्य किसी से तो कदापि नहीं हो सकता'' इस प्रकार की वचन की शुद्धि को **वचन शुद्धि** कहा जाता है। जिनागम से विपरीत नहीं बोलना चाहिये, यह भी **वचन शुद्धि** है।

''कोई छेद डाले, भेद डाले, कैसे भी उपसर्ग करे, परन्तु मैं जिन के अतिरिक्त किसी के समक्ष नहीं झुकूंगा।'' ऐसी दृढ़ता को **काया शुद्धि** कहा जाता है।

➠ पांच दूषण[61] :

(१) शंका, (२) कांक्षा, (३) विचिकित्सा, (४) मिथ्या दृष्टि की प्रशंसा और (५) मिथ्या मति का परिचय : यह पांच सम्यक्त्व को दूषित करते हैं, इसलिये दूषण कहलाते हैं।

(१) शंका : श्री अरिहंत परमात्मा द्वारा प्ररूपित धर्म तत्त्व में संदेह होना अर्थात् जिनमत सच्चा होगा या नहीं ? ऐसा संदेह होना, इसे 'शंका' कहा जाता है।

(२) कांक्षा : अन्य (मिथ्या) मत का पालन करने-प्राप्त करने की आकांक्षा होना, यह 'कांक्षा' नामक दूषण है।

(३) विचिकित्सा : प्रभु द्वारा प्ररूपित धर्म क्रिया के फल में संदेह करने को चिकित्सा कहा जाता है अथवा साधु भगवंतों के मलीन गात्र (शरीर) व मलीन वस्त्र देखकर दुर्गंछा करने को विचिकित्सा दोष कहते हैं।

(४) मिथ्यादृष्टि की प्रशंसा : मिथ्यात्वी लोगों की पूजादि व क्रियाकांड की प्रशंसा करना और उनके रीति-रिवाजों का कीर्तन करना, प्रशंसा नामक दूषण है।

(५) मिथ्यामति-परिचय (संस्तव) : मिथ्यामत में जानेवाले के साथ वार्तालाप करना, मित्रता करना 'संस्तव' नामक दूषण है। इन पांच दूषणों से सम्यक्त्व मलीन होकर नष्ट हो जाता है।

➠ **आठ प्रभावक[62] :**

(१) प्रवचन प्रभावक : श्री जिनेश्वर परमात्मा के प्रवचन को सांगोपांग जानता हो और उसके द्वारा भव्यात्माओं को जिनमत की ओर आकर्षित करे, वह प्रवचन प्रभावक कहलाता है।

(२) धर्मकथी : धर्म के उपदेश द्वारा लोगों को धर्म के रंग में रंगे, उनमें धार्मिक श्रद्धा जगाए और धार्मिक बोध को स्थिर करे, वह धर्मकथक प्रभावक कहलाता है।

(३) वादी प्रभावक : प्रमाण ग्रंथों-तर्क ग्रंथों अथवा सिद्धांतों के बल से जो अन्य मत का उच्छेद कर जैनमत की यथार्थता को चहुंओर प्रतिपादित करे, वह वादी प्रभावक कहलाता है।

(४) निमित्त वेत्ता प्रभावक : शासन की उन्नति के लिये अष्टांग निमित्त का उपयोग करे, वह निमित्त वेत्ता प्रभावक कहलाता है।

(५) तपस्वी प्रभावक : विविध प्रकार के घोर तपों के सेवन से जगत में जैनधर्म की उज्जवलता को चारों ओर फैलाए, वह तपस्वी प्रभावक होता है।

(६) विद्या प्रभावक : मंत्र, यंत्र आदि विद्या के जो जानकार ज्ञानी महात्मा संघ के महान कार्य हेतु मंत्रादि का प्रयोजन कर शासनप्रभावना करते हैं उन्हें विद्या प्रभावक कहा जाता है।

(७) सिद्ध प्रभावक : अंजन, चूर्ण, लेप आदि सिद्धयोग से जो महात्मा श्री जिनशासन की अभूतपूर्व प्रभावना करनेवाले होते हैं, वे सिद्ध प्रभावक होते हैं।

(८) कवि प्रभावक : अद्‌भुत काव्यों की रचना कर राजा आदि को रिझाकर महान शासनप्रभावना करनेवाले महापुरुष **'कवि'** नामक आठवें प्रभावक कहलाते हैं।

➠ **पांच भूषण[63] :**

धर्म के अंग या धर्म रूपी अंग जिससे सुशोभित होते हैं, उसे भूषण कहा जाता है। सम्यक्त्व के पांच भूषण हैं।

(१) स्थिरता : कैसे भी प्रलोभन दिये जाएं अथवा कैसी भी आपत्तियां या विकट परिस्थितियां उत्पन्न हों, तो भी सुलसा श्राविका की भांति जिनधर्म से विचलित न होना, **'स्थिरता'** नामक भूषण है।

(२) प्रभावना : धर्म के विभिन्न अनुष्ठानों तथा दान-शील-तप आदि के आसेवन से प्रभु शासन की उन्नति करना, लोगों के हृदय में प्रभुशासन की स्थापना करना, **'प्रभावना'** नामक भूषण कहलाता है।

(३) क्रिया-कुशलता : प्रभु द्वारा प्ररूपित प्रतिक्रमणादि आवश्यक क्रियाओं की कुशलता को तीसरा भूषण **क्रिया-कुशलता** कहा जाता है।

(४) देव-गुरु की आंतरिक भक्ति : श्री अरिहंत परमात्मा एवं उनकी आज्ञानुसार जीवन जीनेवाले तथा प्ररूपणा करनेवाले निर्ग्रंथ गुरुभगवंतों के प्रति आंतरिक प्रेम रखना चौथा भूषण है।

(५) तीर्थसेवा : शत्रुंजय आदि स्थावर-स्थाई तीर्थ और जंगम तीर्थरुप साधु-भगवंतादि चलायमान तीर्थों की सेवा करना **'तीर्थसेवा'** नामक पांचवां भूषण कहलाता है।

➠ पांच लक्षण[64] :

(१) प्रशम, (२) संवेग, (३) निर्वेद, (४) अनुकंपा और (५) आस्तिकता : ये पांच सम्यक्त्व के लक्षण हैं।

(१) प्रशम : अनुकूल अथवा प्रतिकूल परिस्थितियों के बीच समभाव रखना प्रशम कहलाता है। **"अपराधीशुं पण नवि चित्त थकी, चिंतवीए प्रतिकूल"** - यह प्रशम लक्षण का भावार्थ है।

(२) संवेग : मोक्षाभिलाषा को संवेग कहा जाता है। **"सुरनर सुख जे दुःख करी लेखवे, वंछे शिवसुख एक"** - यह संवेग लक्षण का प्राण है।

(३) निर्वेद : संसार के प्रति अरुचि व चार गतियों से भाग निकलने की भावना को निर्वेद कहा जाता है।

(४) अनुकंपा : शारीरिक व मानसिक दुःखों से पीड़ित जीवात्माओं के प्रति द्रव्य दया और धर्महीन जीवात्माओं के प्रति भाव दया रखने को अनुकंपा कहा जाता है।

(५) आस्तिकता : श्री जिनेश्वरों ने जो कहा है, वहीं निःसंदेह सत्य है, ऐसी दृढ़ता को आस्तिकता कहते हैं।

➠ **छह यतना[65] :**

छह यतना से समकित चमकता है और जैन के रूप में व्यवहार भी शोभायमान होता है। इसके छह प्रकार यहां प्रस्तुत हैं।

(१) परतीर्थियों के लौकिक देवों की प्रतिमाएं नहीं पूजनी चाहिये, यह **प्रथम यतना** है।

(२) परतीर्थियों द्वारा ग्रहण की गई जिन प्रतिमाओं को नहीं पूजना **द्वितीय यतना** है।

(३-४) मिथ्यात्व से लिप्त साधुओं से बार-बार उनकी कुशल-क्षेमादि पूछना तीसरी **संलाप** नामक **यतना** है और कुछेक बार पूछना **आलाप** नामक चौथी **यतना** है। (आलाप से संलाप और संलाप से आदर, सत्कार, स्नेहराग व परिणामतः सम्यक्त्व के लिये जोखिम उत्पन्न होता है, इसलिये इन यतनाओं का प्रयत्नपूर्वक आचरण करना चाहिये।)

(५-६) मिथ्यात्वी कुपात्र को सुपात्र बुद्धि से आहारादि देना, सम्यक्त्व के लिये दूषण है, इसका त्याग करना पांचवीं **यतना** है और उसे बार-बार निमंत्रित करने का त्याग करना छठवीं **यतना** है।

➠ **छह आगार[66] :** सम्यक्त्व के आचार में दृढ़ जीवों को राजा आदि की

आज्ञावश बेमन से सम्यक्त्व के आचारों से विरुद्ध वर्ताव करने के बावजूद उनके सम्यक्त्व में दूषण नहीं लगता है। ऐसे छह अपवाद (आगार) होते हैं।

(१) राजाभियोग : राजा की दाक्षिण्यता से या बलपूर्वक अन्य दर्शनियों के देव-गुरु को अनिच्छा से नमस्कारादि करना **राजाभियोग** कहलाता है। (इस विषय में कार्तिक शेठ का उदाहरण लेना चाहिये।)

(२) गणाभियोग : (जनसमुदाय को गण कहा जाता है।) जनसमुदाय के आग्रह से अंततः मिथ्यात्व के आचारों का आचरण करना **गणाभियोग** कहलाता है।

(३) बलाभियोग : बलवान लोगों के अथवा चोर आदि के द्वारा बलपूर्वक मिथ्यात्व के आचारों का आचरण कराया जाना **बलाभियोग** कहलाता है।

(४) देवाभियोग : क्षेत्रपाल-कुलदेवता आदि के भय से मिथ्यात्व का जो सेवन किया जाता है, वह **देवाभियोग** कहलाता है।

(५) गुर्वाभियोग : माता-पिता-विद्यागुरु-कलाचार्य आदि गुरुवर्ग के आग्रह से मिथ्यात्व का आसेवन करना **गुर्वाभियोग** कहलाता है।

(६) वृत्तिकांतार : दुष्काल आदि के कारण अथवा जंगल के मार्ग पर आजीविका के लिये मिथ्यात्व का जो आसेवन करना पड़ता है, वह **वृत्तिकांतार** आगार कहलाता है।

➠ छह भावना[67] :

मूल, द्वार, प्रतिष्ठान (पीठ), आधार, भाजन व निधि : इन छह उपमाओं से सम्यक्त्व की महिमा का विचार करना सम्यक्त्व की छह भावनाएं हैं।

(१) सर्वज्ञ द्वारा प्ररूपित धर्म रूपी वृक्ष का मूल सम्यक्त्व है। मूल सम्यक्त्व निश्चल व निर्मल हो तो धर्म रूपी वृक्ष के मोक्ष आदि फल प्राप्त होते हैं : इस प्रकार का चिंतन सम्यक्त्व की प्रथम भावना है।

(२) सम्यक्त्व धर्म रूपी नगर में प्रवेश करने का द्वार है : इस प्रकार का चिंतन दूसरी भावना है।

(३) सम्यक्त्व श्री जिनधर्म रूपी प्रासाद की पीठ (नींव) समान है। नींव मजबूत होगी तो ही प्रासाद का ढांचा टिकाऊ बनता है और सुशोभित होता है : इस प्रकार का चिंतन तीसरी भावना है।

(४) सम्यक्त्व सभी ज्ञानादि गुणों का निधान समान है। निधान में जैसे रत्न सुरक्षित रहते हैं, वैसे ही सम्यक्त्व की विद्यमानता में ही सभी गुण सुरक्षित रहते हैं : इस प्रकार का चिंतन चौथी भावना है।

(५) जैसे पृथ्वी सभी का आधार है, वैसे ही शम, दम, विनयादि सभी गुणों का आधार सम्यक्त्व है : इस प्रकार का चिंतन पांचवी भावना है।

(६) जैसे कोई पेय पदार्थ भाजन के बिना नहीं रह सकता है, वैसे ही श्रुत व चारित्र रूपी धर्म भी सम्यक्त्व रूपी भाजन के बिना नहीं रह सकता है - प्राप्त नहीं हो सकता है : इस प्रकार का चिंतन छठवीं भावना है।

➠ **छह स्थानक[68] :**

(१) आत्मा चैतन्य लक्षणवाली है और वह पुद्गलादि से पर है : यह सम्यक्त्व का प्रथम स्थानक है।

(२) आत्मा नित्य चैतन्यमय है। आत्मा भूतकाल में थी, वर्तमान में है और भविष्य में भी रहेगी। आत्मा की इस स्थिति को स्वीकार करना द्वितीय स्थानक है।

(३) चैतन्यमय आत्मा पुण्य-पाप की कर्ता है : यह बात स्वीकार करना तीसरा स्थानक है।

(४) चैतन्यमय आत्मा पुण्य-पाप का फल की भोक्ता है : यह बात स्वीकार करना चौथा स्थानक है।

(५) चैतन्यमय आत्मा के सभी कर्मों का क्षय होने पर उसे मोक्ष की प्राप्ति होती है : यह बात स्वीकार करना पांचवां स्थानक है।

(६) मोक्ष के ज्ञान-दर्शन चारित्र रुप उपाय है - यह बात स्वीकार करना छठवां स्थानक है।

(सम्यग्दर्शन के विषय में विस्तृत विवेचन हमारी 'सम्यगदर्शन' नामक पुस्तक श्रेणी में किया गया है।)

→ **टिप्पणकम् :-** 1. मोहे कोडाकोडी, सत्तरि वीसं च नामगोयाणं। तीसायराणि चउण्हं, तित्तीसयराइ आउस्स।। मोहनीय कर्म की उत्कृष्टस्थिति ७० कोड़ाकोड़ी सागरोपम की है। नाम तथा गोत्रकर्म की उत्कृष्ट स्थिति २० कोड़ाकोड़ी सागरोपम की है। ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, अंतराय तथा वेदनीय कर्म की उत्कृष्ट स्थिति ३० कोड़ाकोड़ी सागरोपम की है। आयुष्यकर्म की उत्कृष्टस्थिति ३३ सागरोपम की है। आयुष्यकर्म के अतिरिक्त सात कर्मों की स्थिति अंतःकोड़ाकोड़ी सागरोपम की हो तब जीवात्मा ग्रंथि देश में आते हैं। 2. अंतिमकोडाकोडी सव्वकम्माणमाउवज्जाणं। पलिआसंखिज्ज इमे भागे खीणे हवइ गंठी ।।१।।- आयुष्य को छोड़कर सभी कर्मों की स्थिति पल्योपम का असंख्यवां भाग न्यून एक कोड़ाकोड़ी सागरोपम की हो तब ग्रंथिस्थान (ग्रंथिदेश) प्राप्त होता है। **(करोड़ के साथ करोड़ का गुणा करने पर जो गुणनफल आता है वह कोड़ाकोड़ी कहलाता है।)** 3. घंसणघोलणजोगा, जीवेण जया हवेज्ज कम्मढिती। खविआ सव्वा सागरकोडाकोडी पमोत्तूणं ।।१।। तीएऽवि थेवमेत्तं, खवियं एत्थंतरमि जीवस्स। हवन्ति हु अभिन्नपुव्वो, गंठी एवं जिणा बेंति ।।२।। **(पंचाशक / ३-३०, टीका)** जीवात्मा घर्षण-घोलन न्याय से जब एक कोड़ाकोड़ी सागरोपम के अतिरिक्त सारी कर्मस्थिति को खपा दे और शेष एक कोड़ाकोड़ी सागरोपम स्थिति में से भी थोड़ी उ पल्योपम का असंख्यवां भाग जितनी स्थिति खपा दे, तब जिसका पूर्व में भेद नहीं किया, ऐसी ग्रंथि होती है - ग्रंथिदेश में आता है, ऐसा श्री जिनेश्वरदेव कहते हैं। 4. जहा वा तिन्नि मणूसा जंति पहं सहावगमणेणं। कालाइक्कमभीया, तुरंति पत्ता य दो चोरा।। दट्ठुं भग्गसमत्थे, ते एगो भग्गओ पडिनियत्तो। बीओ गहिओ तइओ, समइक्कंतो पुरं पत्तो। अडवीभवा मणूसा, जीवा कम्मठिई पहो दीहो। गंठी व भयट्ठाणं, राग-दोसा य दो चोरा।। भग्गो ठिइ परिवुड्ढि गहिओ पुणो गंठिओ गओ तइओ। सम्मत्तपुरं एवं, जोइज्जा तिन्नि करणाइं ।।१२११-१४।। **(विशेषावश्यकभाष्य)** 5. अनादिकालादारभ्य यावद् ग्रन्थिस्थानं तावद् प्रथमं यथाप्रवृत्तिकरणं

भवति, कर्मक्षपणनिबन्धनस्याध्यवसायमात्रस्य सर्वदैव भावात्, अष्टानां कर्मप्रकृतिनामुदयप्राप्तानां सर्वदैव क्षपणादिति। 6. जिसमें मोक्षगमन की योग्यता हो, उसे **भव्य** कहते हैं। जिसमें मोक्षगमन की योग्यता होने के बावजूद चरमावर्तकाल में नहीं आता है, उसे **दुर्भव्य** कहा जाता है और जिसमें मोक्षगमन की योग्यता न हो वह **अभव्य** कहलाता है।7. ग्रन्थिप्रदेशं यावत्तु अभव्योऽपि सङ्ख्येयमसङ्ख्येयं वा कालं तिष्ठति। तत्र स्थितश्चाभव्यो द्रव्यश्रुतं भिन्नापि दशपूर्वाणि यावल्लभते, जिनर्दृधदर्शनात् स्वर्गसुखार्थित्वादेव दीक्षाग्रहणे तत्सम्भवात्। अत एव भिन्नदशपूर्वान्तं श्रुतं मिथ्याश्रुतमपि स्यादित्यन्यदेतत्। (**धर्मसंग्रहः - द्वितीयोऽधिकारः**)8. पठमं अहापवत्तं बीयं तु नियट्टी तइयमणियट्टी। अंतोमुहुत्तियाइं उवसमअद्धं च लहइ कमा।।५।। 9. यथाप्रवृत्तकरणे, चरमेऽल्पमलत्वतः। आसन्नग्रन्थिभेदस्य, समस्तं जायते ह्यदः।।३८।। अपूर्वासन्नभावेन, व्यभिचारवियोगतः। तत्त्वतोऽपूर्वमेवेदमिति योगविदो विदुः।।३९।। प्रथमं यद् गुणस्थानं, सामान्येनोपवर्णितम्। अस्यां तु तदवस्थायां, मुख्यमन्वर्थयोगतः।।४०।। (**योगदृष्टि समु०**) 10. अपुव्वेण तिपुंजं मिच्छत्तं कुणइ कोद्दवोवमया। अनियट्टीकरणेण उ सो सम्मद्दंसणं लहइ।।१२१८।। (**विशेष्यावश्यकभाष्य**) 11. कार्मग्रन्थिकमतेन तु - 'मिथ्यात्वस्यान्तरकरणं करोति, तत्प्रविष्टश्चौपशमिकं सम्यक्त्वं लभते, तेन च मिथ्यात्वस्य पुञ्जत्रयं करोति, ततः क्षायोपशमिकपुञ्जोदयात् क्षायोपशमिकसम्यक्त्वं लभते' xxx ।।१२१८।। (**विशेषावश्यक भाष्य-टीका**) 12. तत्र श्रद्धानरुपत्वाविशेषादेकविधं सम्यक्त्वम्। (**धर्मसंग्रह-टीका**) रुचिर्जिनोक्ततत्त्वेषु, सम्यक् श्रद्धानमुच्यते। जायते तन्निसर्गेण, गुरोरधिगमेन च ।।१-१७।। (**योगशास्त्रम्**) 13. दुविहं तु दव्वभावा, निच्छं ववहारओ वि अहवा वि। निस्सग्गुवएसाओ, तुहवयणविऊहिं निद्दिट्ठं ।।९।। (**सम्यक्त्वस्तव प्रकरण**) 14. जल १ वत्थ २ मग्ग ३ कुद्दव ४ जराइ ५ नाएण जेण पन्नत्तं। निसग्गुवएसभवं, सम्मत्तं तस्स तुज्झ नमो ।।१२।। (**सम्यक्त्वस्तवप्रकरण**) 15. तुह वयणे तत्तरुई, परमट्ठमजाणओ वि दव्वगयं। सम्मं भावगयं पुण, परमट्ठवियाणओ होइ ।।१०।। (सम्य० स्त० प्र०) 16. जिणवयणमेव तत्तं, इत्थ रूई होई दव्वसम्मत्तं। जह भावणाणसद्धापरिसुद्धं भावसंमत्तं ।।१।। (**पञ्च०/ गा - १०६३**) इति। पञ्चवस्तुके प्रति (त्य) पादि तस्याप्ययमेवार्थः जिनवचनमेव तत्त्वं नान्यदिति सामान्यरुचेर्द्रव्यसम्यक्त्वरुपताया नयनिक्षेपप्रमाणपरिष्कृतविस्ताररुचेश्च भावसम्यक्त्वरुपतायास्तत्र परिस्फुटत्वात्। 17. एवं द्रव्य-भावाभ्यां द्वैविध्यं नयविशेषेण विचित्रं भावनीयम्। अथवा निश्चय-व्यवहाराभ्यां द्विविधम्। तल्लक्षणमिदम् - "निच्छयओ सम्मत्तं, नाणाइमयप्पसुद्धपरिणामो। इअरं पुण तुह समए, भणिअं सम्मत्तहेऊहिं" ।।१।। (**सम्य.प्र.गा. ११**) ति। ज्ञानादिमयशुभपरिणामो निश्चयसम्यक्त्वम्, ज्ञान-श्रद्धान-चरणैः सप्तषष्टिभेदशीलनं च व्यवहारसम्यक्त्वमित्येतदर्थः। ननु ज्ञानादिमय इत्यस्य ज्ञान-दर्शन-चारित्रसंलुलित इत्यर्थः, तथाचैतद्भावचारित्रमेव निश्चयसम्यक्त्वरूपत्वात्, मिथ्याऽऽचारनिवृत्तिरुपकार्यस्य तत एव भावात्, कार्यानुपहितस्य कारणस्य निश्चयनयेनानभ्युपगमात्। नन्वेवं तुर्यगुणस्थानादिवर्त्तिनां श्रेणिकादीनामपि

तन्न स्यादिति चेत्?, न स्यादेव, कः किमाह - अप्रमत्तसंयतानामेव तद्व्यवस्थितेः। तदुक्तमाचाराङ्गे - "जं सम्मं ति पासह, तं मोणं ति पासह, जं मोणं ति पासह, तं सम्मं ति पासह। ण इमं सक्कं सिढिलेहिं अद्दिज्जमाणेहिं गुणासाएहिं वंकसमायारेहिं पमत्तेहिं गारमावसंतेहिं। मुणी मोणं समादाय, धुणे कम्म सरीरगं। पंतलूहं च सेवंति, धीरा सम्मत्तदंसिणो" । **(आचा.२ / ५ / ३. सू. १२५)** त्ति। नन्वेवमपि कारकनिश्चयसम्यक्त्वयोर्भेदो न स्यात्, क्रियोपहितस्यैव कारकत्वात्, क्रियायाश्च चारित्ररुपत्वात्, ज्ञानादिमयपरिणामस्यापि तथात्वादिति चेत्? न, उपधेय - सङ्करेऽप्युपाध्योरसाङ्कर्येणादोषात्, कारके क्रियोपहितत्वमुपाधिर्नैश्चयिके च ज्ञानादि मयत्वमिति। एवंविधं नैश्चयिकसम्यक्त्वमधिकृत्यैव प्रशमादीनां लक्षणत्वं सिद्धान्तोक्तं सङ्गच्छते। अन्यथा श्रेणिककृष्णादीनामपि तदसंभवेन लक्षणव्याघात सम्भवात्। तदुक्तं विंशिकायां श्रीहरिभद्राचार्यैः "णिच्छयसम्मत्तं वाहिगिच्च सुत्तभणिअनिउणरूवं तु। एवंविहो णिओगो, होइ इमो हंत वण्णु त्ति" ।।१।। **(सद्धर्मवि. / गा. १७)** अत्र वाकारो विषयविशेषापेक्षया प्रकारान्तरोपदर्शनार्थः। अथवा ज्ञानादिमय इत्यस्यायमर्थः - ज्ञाननये ज्ञानस्य दशाविशेष एव सम्यक्त्वम्, क्रियानये च चारित्ररूपम्, दर्शननये तु स्वतन्त्रं व्यवस्थितमेव इति। शुद्धात्मपरिणामग्राहिनिश्चयनये तु - "आत्मैव दर्शन-ज्ञान-चारित्राण्यथवा यतेः। यत्तदात्मक एवैष, शरीरमधितिष्ठति" **।।यो.शा./४/१।।** इति योगशास्त्रवचनादात्मैव निरुपाधिशुद्धस्वरूपप्रकाशात् ज्ञानरूपः, तथा श्रद्धानाद् दर्शनरूपः, स्वभावाचरणाच्चारित्ररूप इति शुद्धात्मबोधाचरणतृप्तिरेव निश्चयसम्यक्त्वमित्यलं प्रपञ्चेन। 18. निश्चय सम्यक्त्व के विषय में योगशास्त्र में कहा गया है कि - "आत्मैव दर्शनज्ञानचारित्राण्यथवा यतेः। यस्तदात्मैव स्वगुणैः, शरीरमधितिष्ठति।।" साधु की आत्मा ही ज्ञान-दर्शन-चारित्र स्वरूप है अथवा साधु की जो आत्मा है, वही अपने ज्ञान, दर्शन, चारित्र रूपी गुणों के माध्यम से शरीर में स्थित है। इसलिये रत्नत्रयी के शुद्ध उपयोग में प्रवर्तमान जीवात्मा को ही निश्चय सम्यक्त्व होता है।, - व्यवहार सम्यक्त्व के विषय में गुणस्थानक विचार में कहा गया है कि, "देवे गुरौ च सङ्घे च, सद्भक्तिशासनोन्नतिम्। अव्रतोऽपि करोत्येव, स्थितिं तूर्ये गुणालये।।"देव-गुरु-संघ के विषय में सन्मानपूर्वक भक्ति करे, शासन की उन्नति करे, तो वह जीवात्मा व्रत रहित होने के बावजूद चौथे गुणस्थानक में स्थान पाता है - सम्यक्त्व प्राप्त करता है।19. जं जह भणियं तुमए, तं तह करणम्मि कारगो होइ। रोअगसम्मत्तं पुण, रुइमित्तकरं तु तुह धम्मे।।१४।। सयमिह मिच्छद्दिट्ठी, धम्मकहाइहिं दीवइ परस्स। दीवगसम्मत्तमिणं, भणंति तुह समयमईणो ।।१५।। **(सम्यक्त्वस्तवप्र०)** 20. सासवादनं च पूर्वोक्तौपशमिकसम्यक्त्वात् पततो जघन्यतः समय उत्कर्षतश्च षडावलिकायामवशिष्टायामनन्तानुबन्ध्युदयात् तद्वमने तदास्वादरुपम्। **(धर्मसंग्रहः)** 21. क्षयोपशम सम्यक्त्व का साधिक छियासठ सागरोपमकाल कैसे, यह दर्शाते हुए आगम में कहा गया है कि," दो वारे विजयाइसु, गयस्स तिन्नीअ अच्चुए अहवा। तह अइरेग नरभविय, नानाजीवाण सव्वद्धा ।।"दो

बार विजयादि में जानेवाले अथवा अच्युत देवलोक में तीन बार जानेवाले को छियासठ सागरोपम होते हैं तथा बीच में मनुष्यभव की आयु जितना अधिक होता है। अनेक जीवात्माओं को ध्यान में रखते हुए तो सर्वकाल में क्षयोपशम सम्यक्त्व होता है।22. तत्र भूतार्थेन सह संमत्या जीवाऽजीवादिनवपदार्थविषयिणी रुचिर्निसर्गरुचिः ।xxxx सहसंमत्येत्यस्य सहात्मना सङ्गता मतिः (सह) संमतिस्तयोपदेशनिरपेक्षक्षयोपशमेणेत्यर्थः । 23. परोपदेशप्रयुक्तं जीवाऽजीवादिपदार्थविषयिश्रद्धानम् उपदेशरुचिः । परस्तीर्थकरस्तद्वचनानुसारी छद्मस्थो वा, केवलज्ञानमूलकत्वप्रयुक्तोपदेशरुचिस्तज्ज्ञन्यबोधरुचिर्वेति निष्कर्षः। xxxx । उपदेशे तज्ज्ञन्यबोधे च रुचिरिह संशयव्यावर्त्तकतावच्छेदको धर्मविशेषः। 24. रागद्वेषरहितस्य पुंस आज्ञयैव धर्मानुष्ठानगता रुचिराज्ञारुचिः, साहित्यं च देशतः सर्वतश्च, तत्र देशतो दोषरहितानामचार्यादीनामाज्ञया धर्मानुष्ठाने रुचिर्माषतुषादीनां सम्यक्त्वसम्पादिका तत्तदनुष्ठाने। 25. सूत्राध्ययनाभ्यासजनितविशिष्टज्ञानेन जीवाजीवादिपदार्थविषयिणी रुचिः सूत्ररुचिर्गोविन्दाचार्यस्येव। जायते च पुनः पुनः स्मरणाद् दृढतरः संस्कार इव पुनः पुनरध्ययनाद् दृढतरं ज्ञानं निःसंशयमिति न किमप्यनुपपन्नम्। 26. एकेन पदेनानेकपदतदर्थप्रतिसंधानद्वारा उदके तैलबिन्दुवत् प्रसरणशीला रुचि-बीजरुचिः, प्रसार उत्तरोत्तरोत्पत्तिः ५। 27. अर्थतः सफलसूत्रविषयिणी रुचिरभिगमरुचिः। आह च - "सो होइ अभिगमरुई, सुअनाणं जस्स अत्थओ दिट्ठं। इक्कारस अंगाइं, पइन्नगं दिट्ठिवाओ अ"॥७॥ **(प्र.सा. / १५६)** त्ति । प्रकीर्णकमिति जातावेकवचनम्, ततः प्रकीर्णकानि उत्तराध्ययनादीनीत्यर्थः, दृष्टिवादश्चेति चकारादुपाङ्गादिपरिग्रहः। नन्वेवमियं सूत्ररुचेर्न भिद्येत, न चेयमर्थावच्छिन्नसूत्रविषया, सा च केवलं सूत्रविषयेत्येवं भेदः, केवलसूत्रस्य मूकत्वात्, तद्विषयरुचेरप्रमाणत्वात्। आह च - "मूअगं केवलं सूत्तं" **(उपदेशपदे गा. ८५६)** त्ति। न केवलं केवलसूत्ररुचेरप्रमाणत्वम्, किन्त्वज्ञानानुबन्धित्वमपि। तदुक्तमुपदेशमालायाम् - "अपरिच्छिअसुअणिहसस्स केवलमभिन्नसुत्तचारिस्स। सव्वुज्जमेण वि कयं, अन्नाणतवे बहुं पडइ" ॥७॥ **(उप.मा./ गा. ४१५)** त्ति। अथवा सूत्रनिर्युक्त्यादिविषयत्वेन स्थानाङ्गवृत्तौ प्रतिपादितेति ॥६॥ 28. सर्वप्रमाणसर्वनयजन्यसर्वद्रव्यसर्वभावविषयिणी रुचिर्विस्ताररुचिः ॥७॥ 29. दर्शन-ज्ञान-चारित्र-तपो-विनयाद्यनुष्ठानविषयिणी रुचिः क्रियारुचिः । न चाज्ञारुचिरपि धर्मानुष्ठानविषया इयमपि तथेति कोऽनयोर्भेदः? इति शङ्कनीयम्, सा ह्याज्ञास्मरणनियता, इयं त्वसङ्गेत्येवं भेदाद्। अत एव सर्वसात्म्येन परिणतचारित्रक्रियाश्चारित्रकाया महर्षयो भणिता। "इत्तो उ चरित्तकाओ" () त्ति हरिभद्राचार्यैः ॥८॥ 30. अनभिगृहीतकुदृष्टेः प्रवचनाविशारदस्य निर्वाणपदमात्रविषयिणी रुचिः सङ्क्षेप-रुचिर्यथोपशमादिपदत्रयविषयिणी चिलातिपुत्रस्य । न च विशेष्यभागरहितं विशेषणद्वयमात्रमेतल्लक्षणं युक्तम्, मूर्च्छादिदशासाधारण्यात् ॥९॥ 31. धर्मपदमात्रश्रवणजनितप्रीतिसहिता धर्मपदवाच्यविषयिणी रुचि-धर्मरुचिः । आह च - "जो अत्थिकायधम्मं, सुयधम्मं खलु चरित्तधम्मं च। सद्दहइ जिणाभिहिअं, सो धम्मरुइ त्ति णायव्वो"

।।१।। (**प्र.सा./गा.९६०**) ति। 32. जा करणाईए ठिई करणंते तीइ होइ संखंसो। (**पंचसंग्रह-उपशमनाकरण**) 33. अपुव्वकरणसमगं कुणइ अपुव्वे इमे उ चत्तारि। ठितिघायं रसघायं गुणसेढी बंधगद्धा य ।।११।। (पंचसंग्रह-उपशमनाकरण) 34. जा उक्कोसा पढमे तीसेणंता जहण्णिया बीए। करणे तीए जेट्ठा एवं जा सव्वकरणंपि ।।१०।। (**पंचसंग्रह - उपशमनाकरण**) 35. प्रथमं च सम्यक्त्वे लभ्यमाने कश्चित् सम्यक्त्वेन समं देशविरतिं सर्वविरतिं वा प्रतिपद्यते। उक्तं च शतकबृहच्चूर्णौ उवसमसम्मद्दिट्ठी अंतरकरणे ठिओ कोई देसविरइं पि लहइ, कोई पमत्तापमत्तभावं पि, सासायणो पुण न किं पि लहेइ। (श० बृ० चू०) त्ति। 36. "क्षायिकसम्यग्दृष्टिस्तु तृतीये चतुर्थे तस्मिन् भवे वा सिद्ध्यति। उक्तं च पञ्चसङ्ग्रहादौ - "तइअचउत्थे तंमि व, भवंमि सिज्झंति दंसणे खीणे। जं देवनिरयसंखाउ, चरमदेहेसु ते हुंति ।।८।। (**पं. सं./ गा. ७७८**) व्याख्या - बद्धायुः क्षीणसप्तको यदि देवगतिं नरकगतिं वा याति, तदा तद्भवान्तरितस्तृतीयभवे सिद्ध्यति। अथ तिर्यक्षु नृषु वोत्पद्यते। सोऽवश्यमसङ्ख्येयवर्षायुष्केष्वेव, न तु सङ्ख्येयवर्षायुष्केषु तद्भवानन्तरं च देवभवे, ततो नृभवे सिद्ध्यतीति चतुर्थभवे मोक्षः। अबद्धायुश्च तस्मिन्नेव भवे क्षपकश्रेणिं संपूर्णीकृत्य सिद्ध्यतीत्यर्थः"। एकं जीवं नानाजीवान् वाऽपेक्ष्य सम्यक्त्वोपयोगो जघन्यत उत्कृष्टतश्चान्तर्मुहूर्त्तमेव, क्षयोपशमरूपा तल्लब्धिस्त्वेकजीवस्य जघन्याऽन्तर्मुहूर्त्तमात्रेणैव तत्प्रतिपत्तेः। उत्कृष्टतस्त्वाशातनाप्रचुरस्यापार्द्धपुद्गलपरावर्त्तः। उक्तं च - "तित्थयरं पवयणसुअं, आयरिअं गणहरं महड्ढीयं। आसायंतो बहुसो, अणंतसंसारिओ होइ" ।।१।। (**उ.प. / गा. ४२३**) 37. "प्रशमसंवेगनिर्वेदानुकम्पास्तिक्याभिव्यक्तिलक्षणं तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्" (**तत्त्वार्थ - भाष्य - १ - २**) ३८. 38. क्षमादि पांच प्रकार के होते हैं। (१) उपकारक्षमादि, (२) अपकारक्षमादि, (३) विपाकक्षमादि, (४) वचनक्षमादि तथा (५) सहजक्षमादि। 39. सुरनरसुख जे दुःख करी लेखवे, वंछे शिवसुख एक, **सु०** बीजु लक्षण ते अंगीकरे, सार संवेगशुं टेक। **सु.** श्रीजिन. (२) सड़सठ बोल की सज्झाय) 40. नारक चारक सम भव उभग्यो, तारक जाणीने धर्म, **सु०** चाहे निकलवुं निर्वेद ते, त्रीजु लक्षण मर्म। सु. (**सड़सठ बोल की सज्झाय**)41. मिथ्यात्वं जिनप्रणीततत्त्वविपरीतश्रद्धानलक्षणम्। (**धर्मसंग्रह - वृत्तिः**) 42. तत्र लौकिकदेवगतं लौकिकदेवानां हरिहरब्रह्मादीनाम्, प्रणामपूजादिना तद्भवनगमनादिना च तत्तद्देशप्रसिद्धमनेकविधं ज्ञेयम् १। (**धर्मसंग्रहः**) 43. लौकिकगुरुगतमपि लौकिकगुरुणां ब्राह्मण-तापसादिनां नमस्कृति -करणं-तदग्रे पतनम्, तदग्रे नमः शिवायेत्यादिभणनम्, तत्कथाश्रवणम्, तदुक्तक्रियाकरणतः कथाश्रवणबहुमानकरणादिना च विविधम् २। 44. लोकोत्तरदेवगतं तु परतीर्थिकसंगृहीतजिनविम्बार्चनादिना इहलोकार्थं जिनयात्रागमनमाननादिना च स्यात् ३। 45. लोकोत्तरगुरुगतं च पार्श्वस्थादिषु गुरुत्वबुद्ध्या वन्दनादिना गुरुस्तूपादा वैहिकफलार्थं यात्रोपयाचितादिना चेति भेदचतुष्टयी। तदुक्तं दर्शनशुद्धिप्रकरणे - "दुविहं लोइयमिच्छं, देवगयं गुरुगयं मुणेयव्वं। लोउत्तरिअं पि दुविहं, देवगयं गुरुगयं चेव ।।१।। चउभेअं मिच्छत्तं, तिविहं तिविहेण जो विवज्जेइ। अकलंकं

सम्मत्तं, होइ फुडं तस्स जीवस्स ।।२।।" 46. अन्नेसिं सत्ताणं, मिच्छत्तं जो जणेइ मुढप्पा। सो तेण निमित्तेणं, न लहइ बोहिं जिणाभिहिअं ।।१।। (**सम्बोधप्रकरण, सम्य० - ४२**) 47. यद्यपि जीवादिपदार्थेषु तत्त्वमिति निश्चयात्मकस्य सम्यक्त्वस्य प्रतिपक्षभूतं मिथ्यात्वं द्विविधमेव पर्यवस्यति - जीवादयो न तत्त्वमिति विपर्यासात्मकं जीवादयस्तत्त्वमिति निश्चयाभावरुपानधिगमात्मकं च। तदाह वाचकमुख्यः (**प्रशमरतौ २२४ श्लोके**) " अनधिगमविपर्ययौ च मिथ्यात्वम्" इति ।। xxx ।।२०।। (**धर्मपरीक्षा श्लो० - ८, टीका**) 48. तत्र आभिग्रहिकम् - अनाकलिततत्त्वस्याप्रज्ञापनीयताप्रयोजकस्वस्वाभ्युपगतार्थश्रद्धानम् । (धर्मपरीक्षा, श्लोक-८, टीका) 49. यस्तु नामना जैनोऽपि स्वकुलाचारेणौवागमपरीक्षां बाधते, तस्याभिग्राहिकत्वमेव, सम्यग्दृशोऽपरीक्षितपक्षपातित्वायोगात्। तदुक्तं हरिभद्रसूरिभिः- "पक्षपातो न मे वीरे, न द्वेषः कपिलादिषु। युक्तिमद्वचनं यस्य, तस्य कार्यः परिग्रहः" ।।१।। (**लो.नि./गा. ३८**) इति। गीतार्थनिश्रितानां माषतुषादिकल्पानां तु प्रज्ञापाटवाभावाद् विवेकरहितानामपि गुणवत्पारतन्त्र्यान्न दोष इति भावः। तच्च नास्त्यात्मेत्यादि षड्विकल्पैः षड्विधम्१। 50. अनाभिग्रहिकं प्राकृतजनानाम्, सर्वे देवा वन्द्या न निन्दनीया, एवं सर्वे गुरुवः, सर्वे धर्मा इतीत्याद्यनेकविधम्।। (**धर्मसंग्रह**) अनाभिग्रहिक किञ्चित्सर्वदर्शनविषयम् - यथा 'सर्वाणि दर्शनानि शोभनानि' इति किञ्चिद्देशविषयम् - यथा "सर्व एव श्वेताम्बरदिगम्बरादिपक्षाः शोभनाः इत्यादि। (**धर्मपरीक्षा, श्लोक-१०, टीका**) स्वपराभ्युपगतार्थयोरविशेषेण श्रद्धानमनाभिग्रहिकम्" यथा सर्वाणि दर्शनानि शोभनानि इति प्रज्ञावतां मुग्धलोकानाम्। (**धर्मपरीक्षा, श्लो०-८, टीका**)51. आभिनिवेशिकं जानतोऽपि यथावस्थितं दुरभिनिवेशविप्लावितधियो गोष्ठामाहिलादेरिव। (**धर्मसंग्रह**) विदुषोऽपि स्वरसवाहिभगवत्प्रणीत-शास्त्रबाधितार्थ-श्रद्धानमाभिनिवेशिकम् (**धर्मपरीक्षा श्लो०-८, टीका**) 52. सांशयिकं देव-गुरु-धर्मेष्वयमन्यो वेति संशयानस्य भवति। (सूक्ष्मार्थादिविषयस्तु संशयः साधूनामपि भवति, स च "तमेव सच्चं णीसंकं, जं जिणेहिं पवेइअं" (**भगवतीसूत्रे**) इत्याद्यागमोदितभगवद्वचन-प्रामाण्यपुरस्कारेण निवर्त्तते। स्वरसवाहितया अनिवर्त्तमानश्च सः सांशयिकमिथ्यात्वरूपः सन्ननाचारापादक एव। अत एवाकाङ्क्षामोहोदयादाकर्षप्रसिद्धिः। इदमपि सर्वदर्शनजैनदर्शन-तदेकदेशपदवाक्यादिसंशयभेदेन बहुविधम्।) (**धर्मसंग्रहः**) भगवद्वचनप्रामाण्यसंशयप्रयुक्तः शास्त्रार्थसंशयः सांशयिकम्। (**धर्मपरीक्षा, श्लोक-८, टीका**) 54. अनाभोगिकं विचारशून्यस्यै-केन्द्रियादेर्वा विशेषज्ञानविकलस्य भवति। इदमपि सर्वांशविषयाव्यक्तबोधस्वरूपं विवक्षितकिञ्चिदं-शाव्यक्तबोधस्वरूपं चेत्यनेकविधम्। (**धर्मसंग्रहः**) 54. साक्षात्परम्परया च तत्त्वाप्रतिपत्तिरनाभोगम्। यथैकेन्द्रियादीनां तत्त्वातत्त्वानध्यवसायवतां मुग्धलोकानां च ।।(**धर्मपरीक्षा, श्लोक-८, टीका**) 55. एतेषु मध्ये आभिग्राहिकाऽऽभिनिवेशिके गुरुके, विपर्यासरूपत्वेन सानुबन्धक्लेशमूलत्वात्। शेषाणि च त्रीणि (न) विपरीतावधारणरूपविपर्यासव्यावृत्तत्वेन तेषां क्रूरानुबन्धफलकत्वाभावात्। तदुक्तं असप्पवित्ती, एत्तो सव्वत्थणत्थफला" ।।१।। (**उप.प.गा. ११८**) दुष्प्रतीकाराऽसत्प्रवृत्ति-

हेतुत्वेन एष विपर्यासोऽत्र गरीयान् दोषः। न त्वनध्यवसायसंशयावेवम्भूतातत्त्वाभिनिवेशाभावात्। तयोः सुप्रतीकारत्वेनात्यन्तानर्थसम्पादकत्वाभावादित्येतत्तात्पर्यार्थः (**धर्मसंग्रहः**) 56. "चउसद्दहण ४ तिलिंगं ३, दसविणय १० तिसुद्धि ३ पंचगयदोसं ५। अट्ठपभावण ८ भूसण ५ लक्खण ५ पंचविहसंजुत्तं ।।१।। (**प्र.सा. / १२६**) छव्विहजयणाऽऽगारं ६, छब्भावणभाविअं च ६ छट्ठाणं ६। इअ सत्तसट्ठीदंसणभेअविसुद्धं तु सम्मत्तं" ।।२।। (**प्र.सा./१२७**) 57. चउसद्दहण त्ति - "परमत्थसंथवो खलु १, सुमुणिअपरमत्थजइजणनिसेवा २। वावन्न ३ कुद्दिट्ठीण य, वज्जणा य ४ सम्मत्तसद्दहणा" ।।३।। (प्र.सा./१२८/प्रज्ञा.सू.११०/गा. १३१) 58. तिलिंग त्ति.- "सुस्सूस १, धम्मराओ २, गुरुदेवाणं जहासमाहीए। वेयावच्चे नियमो ३, सम्मद्दिट्ठिस्स लिंगाइं" ।।४।। (प्र.सा./१२९) 59. दसविणयं ति - "अरिहंत १ सिद्ध २ चेइअ ३, सुए अ ४ धम्मे अ ५ साहुवग्गे अ ६। आयरिअ ७ उवज्झाए ८, पवयणे ९ दंसणे १० विणओ' ।।५।। (**प्र.सा./१३१**) 60. तिसुद्धि त्ति - "मुत्तूण जिणं मुत्तूण, जिणमयं जिणमयट्ठिए मुत्तुं। संसारकत्तवारं, चिंतिज्जंतं जगं सेसं" ।।७।। (**प्र.सा./१३२**) 61. पंचगयदोसं ति - "संका १ कंख २ विगिच्छा ३ पसंस ४ तह संथवो ५ कुलिंगीसुं। सम्मत्तस्सइयारा, परिहरिअव्वा पयत्तेणं" ।।८।। (**प्र.सा./१३३**) 62. अट्ठपभावण त्ति - "पावयणी १ धम्मकही २, वाई ३ नेमित्तिओ ४ तवस्सी अ ५। विज्जा ६ सिद्धो अ ७ कई ८, अट्ठेव पभावगा भणिआ" ।।९।। (प्र.सा./१३४/चे.वः.म. १२८) 64. भूसण त्ति -" जिणसासणे कुसलया १, पभावणा २ तित्थसेवणा ३ थिरया ४। भत्ती अ ५ गुणा सम्मत्तदीवया उत्तमा पंच" ।।१०।। 64. लकखणपंचविहसंजुत्त ति लक्षणान्युक्तान्येवात्र गाथापि - "संगेवो चिअ १, उवसम २, निव्वेओ ३, तह य होइ अणुकंपा ४, । अत्थिक्कं चिअ एए, सम्मत्ते लकखणा पंच " ।।११।। (प्र.सा./१३६) 65. छव्विहजयण त्ति "ना अन्नतित्थिए अन्नतित्थिदेवे य तह सदेवाइं, गहिए कुतित्थिएहिं, विंदामि १ न वा नमंसामि ।।१२।। (**प्र.सा./१३५**) नेव अणालत्तो आलवेमि ३, नो संलवेमि ४। तह तेसिं, देमि न असणाईअं ५, पासेमि ने गंधपुप्फाई ६ ।।१३।। (प्र.सा./३३८) ६६. आगारं ति "रायाभिओगो अ १ गणाभिओगो २, बलाभिओगो ३, अ सुराभिओगो ४। कंतारवित्ती ५ गुरुनिग्गहो अ ६, छ छिंडिआउ जिणसासणंमि" ।।१४।। (**प्र.सा./१६९**) 67. छब्भावणभाविअं ति - "मूलं १ दारं २ पइट्ठाणं ३, आहारो ४ भायणं ५ निही ६। दुछक्कस्सावि धम्मस्स, संमत्तं परिकित्तिअं" ।।१५।। (**प्र.सा./१४०**) 38. छट्ठाणं ति - "अत्थि अ १ णिच्चो २ कुणई ३, कयं च वेएइ ४ अत्थि णिव्वाणं ५ । अत्थि अ मुक्खोवाओ ६, छस्सम्मत्तस्स ठाणाइं" ।।१६।। (**प्र.सा./१४१**)

✦✦✦

प्रकरण - ९ : ज्ञान-क्रिया से मोक्ष

➠ ज्ञान व क्रिया से मोक्ष :

मोक्ष साधना के प्रथम चरण में ही एक बात हृदयस्थ कर लेनी चाहिये कि, ज्ञान व क्रिया से ही मोक्ष की प्राप्ति होती है। मात्र ज्ञान अथवा मात्र क्रिया से मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती है। मात्र ज्ञान अथवा मात्र क्रिया को मोक्ष का कारण मानना मिथ्यात्व है। मोक्ष को प्राप्त करने के लिये दोनों की ही जरूरत होती है। क्योंकि ये दोनों एक-दूसरे के पूरक हैं। ज्ञान क्रिया चाहता है और क्रिया ज्ञान का साथ चाहती है।

अनादि संसार भ्रमण के दौरान मोहाधीन होकर जीवात्मा ने जिन परिणतियों-वृत्तियों और प्रवृत्तियों का सेवन किया, उनके फलस्वरूप जीवात्मा में असत् क्रिया और अज्ञान के संस्कारों का सिंचन हुआ है। असत् क्रिया के संस्कार जीवात्मा को असत् क्रियाओं (पापयुक्त प्रवृत्तियों) की ओर खींच ले जाते हैं और अज्ञान के संस्कार उसे विपरीत मान्यताओं, चंचल मन की स्थिति और अनुपयोग दशा में रखती है। (अज्ञान के तीन प्रकार हैं। (१) संशय, (२) विपर्यय तथा (३) अनध्यवसाय। विपरीत ज्ञान को **विपर्यय** कहा जाता है। विपर्यय अज्ञान से विपरीत मान्यताएं-विचारधाराएं उत्पन्न होती हैं। मन की चंचल स्थिति को (यह सही या वह सही ? इस प्रकार की मन की असमंजसतावाली स्थिति को) **संशय** कहा जाता है। इस अज्ञान से मन संशयग्रस्त रहता है और तत्त्व के निर्णय पर नहीं पहुंच पाता है। **अनध्यवसाय** से मन किसी निश्चित विषय में एकाग्र नहीं हो पाता है।)

दोनों प्रकार के संस्कारों का नाश किया जाए तो ही आत्मशुद्धि होती है।असत् क्रिया के संस्कारों को नष्ट करने के लिये सत् क्रिया (वीतराग प्ररूपित धर्म क्रिया) तथा अज्ञान के संस्कारों को नष्ट करने के लिये ज्ञान

साधना बताई गई है। धर्मक्रिया से प्रवृत्ति निर्मल होती है और ज्ञान से परिणति निर्मल होती है। प्रवृत्ति की निर्मलता व्यवहार धर्म है और परिणति की निर्मलता निश्चय धर्म है। दोनों प्रकार के धर्म के संयोजन से मोक्ष की प्राप्ति होती है।

सत् क्रिया से आत्मवीर्य की शुद्धि होती है और इससे प्रवृत्ति निर्मल होती है। प्रवृत्ति की निर्मलता से असत् क्रिया के संस्कारों का उन्मूलन होता हैं। साथ ही सत् क्रिया के संस्कारों का सिंचन होता है। ज्ञान की आराधना से परिणतियां विशुद्ध होती हैं और इससे अज्ञान के संस्कारों का उन्मूलन होता है तथा ज्ञान के संस्कारों का सिंचन होता है।

➠ ज्ञान-क्रिया का स्वरूप[1] :-

आत्म स्वरूप के अनुकूल दर्शन-ज्ञानशक्ति के बोध रूपी व्यापार को ज्ञान कहा जाता है अर्थात् जो बोध आत्मस्वरूप के अनुकूल है, उस बोध के व्यापार को ज्ञान कहा जाता है। हेय-उपादेय का जो बोध है, उसके व्यापार को (हेय को हेयस्वरूप तथा उपादेय को उपादेयस्वरूप संवेदन करने रूपी व्यापार को) **ज्ञान** कहा जाता है।

ज्ञान निज-पर का अवभासन स्वरूप है अर्थात् स्वयं का तथा परायों का (उपलक्षण से स्वकीय तथा परकीय का) अवभासन (प्रकाशन) करता है अर्थात् मैं कौन हूं ? मैं कौन नहीं हूं ? क्या मेरा है ? क्या मेरा नहीं है ? इत्यादि आत्म हितकारी पदार्थों का अवभासन कराता है, उसे **ज्ञान** कहा जाता है। **यहां स्मरण रखना चाहिये कि,** चिंतन और वेदन (संवेदन) दोनों के बीच भेद है। हेय-उपादेय पदार्थ का यथार्थ वेदन होना ही ज्ञान है। मात्र "मैं आत्मा हूं - शरीर नहीं, ज्ञानादि मेरे हैं - परिवारादि मेरे नहीं हैं।" यह चिंतन ज्ञान नहीं है।

अपने स्वरूप में रमण करना क्रिया है। इसमें चारित्र व वीर्य गुण की अभेद परिणति **क्रिया** है। ऐसी क्रिया मोक्ष साधक है। अभेद परिणति को सिद्ध करानेवाली

क्रियाएं भी उपादेय हैं। अनादि संसार में कायिकी आदि (आश्रव की कारण २५ क्रियाएं हैं) इन कायिकी आदि अशुद्ध क्रिया की प्रवृत्ति से संसार बना है और यही संसार विशुद्ध समिति-गुप्ति आदि तथा विनय-वैयावृत्यादि सत् क्रिया करने से छूटता है - निवृत्त होता है। इसलिये संसार का नाश करने के लिये संवर-निर्जरा रूपी क्रिया करनी चाहिये।

इसीलिये ज्ञान-क्रिया दोनों के संयोजन से ही मोक्ष की प्राप्ति होती है। ज्ञान क्रिया में प्राणवायु फूंकता है और क्रिया से ज्ञान सार्थक बनता है। जिसे जाना है, उसे प्राप्त करने के लिये क्रिया करना आवश्यक है। जैसे कि, सुंदर रसवती तृप्ति कराती हैं, वैसे ही जानने के बाद तृप्ति हेतु भोजन करने की क्रिया करनी पड़ती है। इसी प्रकार क्रिया को सार्थक बनाने के लिये ज्ञान आवश्यक है। चलने की क्रिया प्रारम्भ हो गई, परन्तु गंतव्य (जाने योग्य) स्थान का ज्ञान न हो तो चलने की क्रिया सफल नहीं होती है। अन्य उदाहरण देकर **अध्यात्म सार ग्रंथ** में भी इस विषय में स्पष्ट कहा गया है कि,

ज्ञानं शुद्धं क्रिया शुद्धे-त्यंशौ द्वाविह संगतौ ।
चक्रे महारथस्येव, पक्षाविव पतत्त्रिणः ।।१-२-१२।।

- जैसे महारथ के दो चक्र (गंतव्य स्थान की ओर गति करने में) सहायक होते हैं (अथवा) पक्षी के दो पंख (उड़ने में) सहायक होते हैं, वैसे ही अध्यात्म मार्ग में (मोक्षमार्ग में) शुद्ध ज्ञान व शुद्ध क्रिया, यह दोनों प्रकार के दो अंश जीवात्मा को (अध्यात्म मार्ग में) गमन करने में सहायक सिद्ध होते हैं - कारणरुप हैं।

जैसे महारथ को गंतव्य की दिशा में गति कराने में दो चक्र सहायक होते हैं और यदि उनमें त्रुटि हो तो महारथ गंतव्य तक नहीं पहुंच पाता है। उसी प्रकार मोक्ष मार्ग में प्रगति करने के लिये शुद्ध ज्ञान व शुद्ध क्रिया दोनों सहायक हैं। इनमें से किसी एक में भी कोई त्रुटि हो तो अध्यात्म मार्ग में

विकास नहीं किया जा सकता है। इसीलिये अध्यात्म शुद्ध ज्ञान व शुद्ध क्रिया स्वरूप दो अंशों का समुदाय रूप है। इसलिये अध्यात्म स्वरूप अधिकार के अंतिम श्लोकों में भी पुनः यही बात दोहराई गई है -

अध्यात्माभ्यासकालेऽपि, क्रिया काप्येवमस्ति हि ।
शुभौघसंज्ञानुगतं, ज्ञानमप्यस्ति किञ्चन ।।२८।।

अतो ज्ञानक्रियारूप-मध्यात्मं व्यवतिष्ठते।
एतत्प्रवर्द्धमानं स्यान्निर्दम्भाचारशालिनाम् ।।२९।।

- अध्यात्म के अध्ययनकाल में भी अंशतः क्रिया भी होती है और शुभ ओघ संज्ञा से युक्त ज्ञान भी होता है। (मुझे संसार से मुक्त होना है और इसके लिये चारित्र का पालन करना है, ऐसी शुभ ओघ संज्ञा से युक्त ज्ञान भी होता है।) इसलिये अध्यात्म के अध्ययनकाल में ज्ञान व क्रिया दोनों होते हैं। इससे ज्ञान-क्रिया रूपी अध्यात्म सुनिश्चित होता है। शुद्ध आचारवालों में अध्यात्म प्रवर्धमान होता है अर्थात् जो व्यक्ति शुद्ध आचरणवाला है, उसकी क्रिया और ज्ञान क्रमिक रूप से शुद्ध-शुद्धतर-शुद्धतम होते जाते हैं। (पांचवें आदि गुण स्थानक में अध्यात्म सम्यग्ज्ञान-सम्यक् क्रिया रूप में है। अपुनर्बंधक में सम्यग्ज्ञान व सम्यक् क्रिया के कारण भूत द्रव्य ज्ञान व द्रव्य क्रिया (प्रधान द्रव्य क्रिया) है, इसलिये वह अध्यात्म स्वरूप है।

अध्यात्म शुद्ध ज्ञान-शुद्ध क्रिया स्वरूप है। तो यहां प्रश्न उठता है कि, कौन-सा ज्ञान शुद्ध है ? और कौन-सा ज्ञान अशुद्ध है ? और कौन-सी क्रिया शुद्ध है ? तथा कौन-सी क्रिया अशुद्ध है ? इस प्रश्न का समाधान भिन्न-भिन्न ग्रंथों के आधार पर देखते हैं।

➠ शुद्ध ज्ञान :-

जो ज्ञान आत्म स्वरूप का बोध कराता है, आत्म स्वरूप की प्राप्ति करने की तीव्र इच्छा जागृत करता है, उसके लिये पुरुषार्थ कराता है, उसके लिये चिंतन-

मनोरथ और प्रवृत्तियां कराता है, उसे **शुद्ध ज्ञान** कहा जाता है। इसके अलावा हेय का हेय रूप में और उपादेय का उपादेय रूप में वेदन कराता है, हेय को छोड़ने और उपादेय को आचरण में लाने की उत्सुकता जगाता है, उसके लिये पुरुषार्थ करने को तत्पर बनाता है, वह **शुद्ध ज्ञान** है।

एक तरफ ज्ञान बढ़ता जाए और दूसरी ओर परपुद्गल की आसक्ति बढ़ती जाए, विषय गृद्धि और कषाय वृद्धि हो, रस, ऋद्धि और शाता की लोलुपता बढ़ती जाए, यश-कीर्ति आदि की महत्त्वाकांक्षाएं बढ़ती जाएं, स्वोत्कर्ष और परापकर्ष की भावना प्रबल होती जाए तथा जीवन में दंभ-आडंबर बढ़ता जाए तो वह ज्ञान *अशुद्ध है, यह समझना चाहिये,* ***शुद्ध ज्ञान का स्वरूप समझाते हुए ज्ञानसार ग्रंथ में कहा गया है कि,***

स्वभावलाभसंस्कारकारणं ज्ञानमिष्यते ।
ध्यान्ध्यमात्रमतस्त्वन्यत् तथा चोक्तं महात्मना ।।५३।।

- आत्म स्वभाव (आत्म स्वरूप) की प्राप्ति के संस्कार (वासना) के कारण ज्ञान इष्ट है। (यही शुद्ध ज्ञान है।) इसके अतिरिक्त अन्य ज्ञान बुद्धि का अंधापन मात्र है। ऐसा महात्मा (पतंजलि ऋषि) ने कहा है। (और यह सर्वसम्मत भी है।)

संक्षेप में, जो ज्ञान सभी पर पुद्गलों (पुद्गल सुख व पौद्गलिक भावों) से उद्विग्न बनाता है, स्व-स्वभाव का अर्थी बनाता है और आत्मा को यथार्थ रूप से दर्शाता है, वह **शुद्ध ज्ञान** है। मोक्ष की प्राप्ति के लिये इस प्रकार के शुद्ध ज्ञान को ही प्राप्त करने में उद्यम करने योग्य है।[2] यद्यपि जो ज्ञान प्राप्त होने के बाद भी निज-पर का विवेक प्राप्त नहीं होता है, आत्मा में एकता (तन्मयता) नहीं आती है और परवस्तु के त्याग का ज्ञान नहीं होता है, वह सारा ज्ञान अरण्यरुदन समान है।[3]

यहां स्मरण रखना चाहिये कि, आत्म स्वरूप की प्राप्ति के लिये पहले आत्मा के कर्मों तथा अशुभ अनुबंधों के आवरण दूर करना आवश्यक है। शुद्ध

ज्ञान जैसे आत्म स्वरूप की प्राप्ति की इच्छा जगाता है, वैसे ही प्रतिबंधक कर्मों-संस्कारों के उन्मूलन करानेवाली सत् क्रियाओं में पुरुषार्थ करने की भी इच्छा जगाता है। **आत्म स्वरूप की प्राप्ति करने की साधना की शुरुआत करने से पहले असत् क्रिया के संस्कार और अज्ञान के संस्कारों का उन्मूलन करना आवश्यक है।** इसके लिये असत् क्रियाओं के संस्कारों को उत्तेजित करनेवाली अप्रशस्त क्रियाओं का त्याग करके प्रशस्त क्रियाओं को जीवन में आत्मसात् करना आवश्यक है। इसके अतिरिक्त अज्ञान के संस्कार बढ़ानेवाली (भ्रांतिमूलक) अज्ञान व अज्ञान जनित क्रियाओं का त्याग करके ज्ञान तथा ज्ञान जनित क्रियाओं का सेवन करना भी आवश्यक है। - शुद्ध ज्ञान इन सभी साधनाओं की शुरुआत कराता है।

ज्ञानसार ग्रंथ में यहां तक कहा गया है कि, हमारा अधिक ज्ञान का आग्रह नहीं है। निर्वाण साधक एक पद (अध्ययन-प्रकरण) की बार-बार भावना की जाए, यही उत्कृष्ट ज्ञान है अर्थात् निर्वाण साधक एक पद का भी श्रवण, वाचन, मनन, चिंतन, निदिध्यासन हो, वह ज्ञान उत्कृष्ट है।[4]

शुद्ध ज्ञान शुद्ध क्रिया को खींच लाता है। दोनों के मिलन से अध्यात्म मार्ग में प्रगति होती है। मुख्यतया ज्ञान परिणति को विशुद्ध बनाता है और क्रिया प्रवृत्ति को निर्मल बनाती है। बाह्य-आंतरिक विशुद्धि से कषायों का ह्रास होता है और आत्मा विशुद्ध होती है। इसलिये हमें शुद्ध ज्ञान को प्राप्त करने का पुरुषार्थ करना चाहिये।

➠ शुद्ध क्रिया :

शुद्ध आत्म तत्त्व की प्राप्ति करना वह साध्य है। साध्य के अनुकूल जो धार्मिक क्रियाएं हैं, वे **शुद्ध क्रियाएं** हैं अर्थात् जो क्रिया साक्षात् या परम्परा से शुद्ध आत्म तत्त्व का कारण बने, वह **शुद्ध क्रिया** है। जो धार्मिक क्रियाएं शुद्ध आत्म तत्त्व की कारण नहीं बनती हैं, वे अशुद्ध क्रियाएं होती हैं।

जैसे गंतव्य स्थान (जाने योग्य इष्ट स्थान) की दिशा में होनेवाली गमन क्रिया शुद्ध होती है और गंतव्य स्थान से विपरीत दिशा में होनेवाली गमन क्रिया अशुद्ध होती है, वैसे ही शुद्ध आत्म तत्त्व के (मोक्ष के) अनुकूल भाव प्रकट करने में सहायक बननेवाली क्रिया शुद्ध होती है और उससे विपरीत क्रिया अशुद्ध होती है। **इसलिये जैसे साध्य उपादेय है, वैसे ही उसकी साधनभूत शुद्ध क्रिया भी उपादेय है।**

→ द्रव्य क्रिया-भाव क्रिया :-

हेय-उपादेय के यथार्थ वेदनपूर्वक होनेवाली धार्मिक क्रिया को **भाव क्रिया** कहा जाता है। जो सम्यगदृष्टि, देश विरतिधर और सर्व विरतिधर आदि जीवात्माओं में होती है।

भावक्रिया की कारण भूत धार्मिक क्रिया को **द्रव्य क्रिया** कहा जाता है अर्थात् जो धार्मिक क्रिया भाव क्रिया की साक्षात् अथवा पारम्परिक कारण बनती हो, उसे **द्रव्य क्रिया** कहा जाता है। ऐसी द्रव्य क्रिया को **प्रधान द्रव्य क्रिया** कहा जाता है। जो धार्मिक क्रिया साक्षात् अथवा परंपरा से भावक्रिया की कारण नहीं बनती है, वह धार्मिक क्रिया **अप्रधान द्रव्य क्रिया** कहलाती है। प्रधान द्रव्य क्रिया उपादेय है। क्योंकि, प्रधान द्रव्य क्रिया सम्यग्दर्शन को सन्मुख बनाकर उसे प्राप्त करने का पुरुषार्थ करवाती है और कालांतर में जब सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होती है तब वही क्रिया भावक्रिया बन जाती है तथा प्रधान द्रव्य क्रिया से आत्मा के असत् क्रियाओं के संस्कारों का उन्मूलन भी होता है। इसलिये वह उपादेय है। जबकि अप्रधान द्रव्य क्रिया इस प्रकार के आंतरिक पुरुषार्थ की प्रयोजक न होने के कारण हेय है। इसलिये **'ज्ञानक्रियाभ्यां मोक्षः'** कहा गया है, यहां मोक्ष की कारण क्रिया से भावक्रिया तथा उसकी कारण भूत प्रधान द्रव्य क्रिया ग्रहण करनी है।

→ मोक्ष साधना का क्रम :

ज्ञान-क्रिया के संमिलन से अर्थात् सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान व सम्यक् चारित्र के संमिलन से मोक्ष मार्ग प्रारम्भ होता है। साधक को मोक्ष मार्ग पर प्रवेश करने के लिये और उस मार्ग पर प्रगति करने के लिये किस प्रकार की साधना करनी चाहिये, इसकी सामान्य रूपरेखा दर्शाते हुए **सवासौ गाथा** के स्तवन में कहा गया है कि,

निश्चयदृष्टि हृदये धरीजी, पाले जे व्यवहार,
पुण्यवंत ते पामशेजी, भव समुद्रनो पार (५-४)
सोभागी जिन, सीमंधर सुणो वात (५-५)

- निश्चय दृष्टि को हृदय में धारण करके (उसकी प्राप्ति के उपाय) धार्मिक व्यवहारों का जो साधक पालन करता है, वह पुण्यवान साधक भवसागर पार कर लेता है।

आत्मा के शुद्ध स्वरूप को प्राप्त करना और इसके लिये निसंग दशा (निसंग अनुष्ठान) को प्राप्त करने का लक्ष्य रखना **निश्चय दृष्टि** है। इस लक्ष्य-ध्येय को अविचलित रूप से हृदय में धारण करके शास्त्रानुसारी विधि के अनुसार पंचाचार का पालन, पांच समिति-गुप्ति का पालन, पांच महाव्रतों का पालन, सामायिक, प्रतिक्रमण आदि धार्मिक क्रियाएं करना, वह **व्यवहार दृष्टि** है।

शास्त्रानुसारी धार्मिक क्रियाओं से विषय-कषाय के बंधन टूटते हैं, अनादि के कुसंस्कारों का उन्मूलन होता है, पापकर्मो का नाश होता है, मोहनीयादि कर्मों का क्षयोपशम होता है, परिणति-प्रवृत्ति-वृत्ति तीनों निर्मल होती हैं, सकाम निर्जरा होती है और पुण्यानुबंधी पुण्य का उपार्जन होता है। इन सभी से निसंगदशा की भूमिका निर्मित होती है। मोहनीयादि घाती कर्मों का विशिष्ट क्षयोपशम होने से ज्ञानदशा और अप्रमत्त भाव की प्राप्ति होती है। इससे साधक निसंग दशा के निकट पहुंचता है और कालांतर में उसे प्राप्त करता है।

निश्चय दृष्टि साध्य है। धार्मिक क्रियाएं साधन हैं और धार्मिक क्रियाओं

का सेवन करनेवाला साधक है। साधक साध्य के लक्ष्यपूर्वक साधन का सेवन करता है, तब उसके जीवन में साध्य-साधनदाव का अनुसरण आता है और ऐसा अनुसरण आत्मा के कर्ममल का नाश करके आत्मा में सत्ता रुप में निहित शुद्धता का आविर्भाव करता है अर्थात् परमपद को प्राप्त करता है।

यहां स्मरण रखना चाहिये कि, साध्य-साधनदाव के अनुसरण रहित कोरी निश्चय दृष्टि मोक्ष की कारण नहीं बनती है और साध्य के विमुख व्यवहार दृष्टि (व्यवहारों का पालन) भी मोक्ष प्रदान नहीं कर सकता है। धार्मिक व्यवहार साध्य-साधक हो तो आदरणीय है और साध्य-बाधक हो तो हेय है। **जगत के व्यवहारों में भी देखने को मिलता है कि,** साध्य के अभिमुख साधन के व्यवहार के बिना साध्य की सिद्धि नहीं होती है। धन कमाना हो तो उसके साधन (नौकरी-व्यवसाय) में लोग प्रवृत्त होते हैं। यद्यपि मात्र नौकरी-व्यवसाय में प्रवृत्त हो जाने से ही धन प्राप्ति नहीं हो जाती है। बल्कि धन प्राप्ति हो, ऐसे मुनाफे के मार्ग पर ही प्रवृत्त हो तो ही धन प्राप्ति होती है, मात्र विक्रय से धन प्राप्ति नहीं होती है। बल्कि मुनाफे से धन प्राप्ति होती है। वैसे ही मात्र धार्मिक क्रियाएं करने से निश्चय धर्म प्राप्त नहीं हो जाता है। बल्कि निश्चय धर्म के अभिमुख ले जानेवाली धार्मिक क्रियाओं से ही वह प्राप्त होता है। इसके अलावा धन कमाने का इच्छुक यदि नौकरी-व्यवसाय आदि न करे तो भी उसे धन प्राप्ति नहीं होती है। **इस प्रकार जो जीवात्माएं निश्चय दृष्टि को हृदय में धारण करके धार्मिक व्यवहारों का पालन करती हैं वे भवसागर पार करती हैं।**

निश्चय-व्यवहार की साध्य-साधनता को उदाहरण सहित समझाते हुए आगे कहा गया है कि,

तुरंग चढ़ी जेम पामीएजी, वेगे पुरनो पंथ,
मारग तिम शिवनो लहेजी, व्यवहारे निर्ग्रंथ (५-५)

महेल चढ़तां जिम नहींजी, तेह तुरंग नुं काज,
सफल नहीं निश्चय लहेजी, तेम तनु किरिया साज (५-६)

जैसे यात्रा पर निकले किसी यात्री को एक नगर से दूसरे नगर जाना हो तो घोड़ा (अथवा अन्य वाहन) उसे जल्दी से पहुंचने में सहायक होते हैं, वैसे ही निर्ग्रंथ मुनिवरों के लिये मोक्ष का मार्ग तय करने में व्यवहार (धार्मिक क्रियाओं का सेवन) सहायक-उपकारक सिद्ध होता है।

यद्यपि जैसे उस नगर में पहुंचने के बाद नगर के इष्ट महल की सातवीं मंजिल तक पहुंचने के लिये घोड़े का कोई प्रयोजन नहीं होता है, इसलिये उस घोड़े का त्याग कर दिया जाता है और जो साधक धार्मिक क्रियाओं के सेवन से कर्ममल को दूर करके निश्चय धर्म को प्राप्त कर लेता है, ऐसे साधक के लिये फिर धार्मिक क्रियाओं का प्रयोजन नहीं होता है, इसलिये वह उनका त्याग कर देता है।

इसलिये शुद्ध आत्म तत्त्व की प्राप्ति न हो, तब तक उसके उपाय रूपी धार्मिक क्रियाओं का आदर अवश्य करना चाहिये। श्री वीतराग परमात्मा के शासन में प्रथम गुण स्थानक से लेकर चौदहवें गुण स्थानक तक क्रमिक भूमिका की प्राप्ति हेतु विभिन्नप्रकार की क्रियाएं बताई गई हैं और साधक जैसे-जैसे क्रमिक भूमिकाएं प्राप्त करता जाता है, वैसे-वैसे पूर्व की भूमिकाओं का त्याग करता जाता है। परन्तु उन भूमिकाओं में रहकर उन भूमिकाओं के योग्य क्रियाएं तो अवश्य करनी ही पड़ती हैं तो ही अगली भूमिका में पहुंचा जा सकता है।

प्रथम गुणस्थानक से चौथे गुणस्थानक में पहुंचनेवाले साधक को मिथ्यात्व का त्याग और सम्यक्त्व की प्राप्ति करानेवाली धार्मिक क्रियाएं करनी चाहिये। चौथे से पांचवें, पांचवें से छठवें, छठवें से सातवें गुण स्थानक में जाने के लिये विविध भूमिकाओं में शास्त्रों द्वारा निर्दिष्ट क्रियाएं करनी चाहिये। योग शतक[5] नामक ग्रंथ में भी विविध गुणस्थानक से आगे

विकास करने के लिये विभिन्न धार्मिक क्रियाओं का उपदेश दिया गया है।

इसलिये निश्चय प्राप्ति हेतु व्यवहार (धार्मिक क्रियाएं) अत्यावश्यक हैं। जो मात्र निश्चय को ही स्वीकार करते हैं, वे व्यवहार के बिना निश्चय को प्राप्त नहीं कर सकते, यह दर्शाते हुए आगे कहा गया है कि,

निश्चय नवि पामी शकेजी, पाले नवि व्यवहार,
पुण्यरहित जे एहवाजी, तेहने कवण आधार (५-७)

निश्चय सापेक्ष व्यवहार करने से ही साध्य की सिद्धि होती है और निश्चय निरपेक्ष अकेला व्यवहार जड़ क्रिया स्वरूप है, जो साध्य सिद्ध करने में असमर्थ है। इसी प्रकार व्यवहार रहित अकेला निश्चय शुष्क ज्ञान स्वरूप होने के कारण साध्य की सिद्धि में असमर्थ है।

ज्ञान सच्चा है या नहीं ? और (ज्ञान की फलश्रुति से प्राप्त होनेवाली) ज्ञान दशा तात्त्विक है या नहीं ? इसकी परीक्षा भी जीवन में व्याप्त धार्मिक क्रियाओं से होती है, इस बात को दर्शाते हुए आगे कहा गया है कि,

हेम परीक्षा जेम हुएजी, सहत हुताशन ताप,
ज्ञानदशा तेम परखीएजी, जिहां बहु किरियाव्याप (५-८)

➞ जैसे स्वर्ण अग्नि के अपार ताप को सहन करता है, तब ही उसकी परीक्षा होती है। (निर्मल होकर बाहर आता है।) वैसे ही जिसके जीवन में अनेक धार्मिक क्रियाएं आई हों, उस जीवात्मा ने सच्ची ज्ञान दशा प्राप्त हुई है, ऐसा कहा जाता है। (अर्थात् धार्मिक क्रियाओं से ज्ञानदशा की परीक्षा होती है।)

जिस जीवात्मा ने जिस वस्तु को जिस स्वरूप में जाना है, उसी प्रकार उसका व्यवहार उसके जीवन में होता है, तो वह ज्ञान सच्चा होता है। जैसे जो व्यक्ति जानता है कि सांप विषैला-प्राणघातक होता है, वह व्यक्ति उससे निवृत्त होने की क्रिया अवश्य करता है। वैसे ही जो साधक स्त्री आदि हेय को हेय रूप में जान ले, तो उससे निवृत्त होने और धर्मादि उपादेय को उपादेय के रूप में जानकर

उसे आचरण में लाने की क्रिया अवश्य करनी चाहिये। तो ही उसका ज्ञान सच्चा कहलाता है।

यहां स्मरण रखना चाहिये कि, सच्चे ज्ञान के दो कार्य हैं । (१) पाप से मुक्ति और (२) पश्चात्ताप। जिसके पास ज्ञान है, वह व्यक्ति अवश्य ही पाप को पाप के रूप में और उसकी भयंकरता को जानता है। इसलिये वह पाप के रास्ते का त्याग कर देता है। कदाचित कर्म संयोग से जीवन में पाप करना पड़ता हो, तो वह अनिच्छा से करता है, विवशता से करता है, उससे छूटने का अवसर खोजता रहता है और पापसेवन का पश्चात्ताप करता रहता है। **सवासौ गाथा के स्तवन में आगे कहा गया है कि,**

आलंबन विण जिम पडेजी, पामी विषमी वाट,
मुग्ध पडे भवकूपमांजी, तिम विण किरिया घाट (५-९)

जैसे जानकार व्यक्ति के आलंबन के बिना यात्री गलत मार्ग पर चला जाता है और भयंकर जंगल के मार्ग पर पहुंच जाता है। वैसे ही परमार्थ को नहीं जाननेवाले लोग जीवन में धार्मिक क्रियाओं के समूह के बिना भवकूप में (संसार रूपी कुंए में) गिर जाते हैं। ऐसी जीवात्माओं की साध्य की इच्छा के बावजूद जीवन में साध्यसाधक धार्मिक क्रियाओं का आलंबन न होने से साध्यसाधनदाव के अभाव में इच्छित फल को प्राप्त नहीं कर पाती हैं। बल्कि, व्यवहार मार्ग का उच्छेद करने के कारण और एकांत से निश्चय की प्ररूपणा कर उत्सूत्रभाषी बनने के कारण अनंत संसार फल को प्राप्त करनेवाली बन जाती हैं। **इसीलिये सवासौ गाथा के स्तवन में कहा गया है कि,**

किरिया उत्थापी करीजी, छांडी तेणे लाज,
नवि जाणे ते उपजेजी, कारण विण नवि काज। (५-२)

निश्चयनय अवलंबतांजी, नवि जाणे तस मर्म,
छोड़े जे व्यवहारनेजी, लोपे ते जिन धर्म। (५-३)

शुद्ध धार्मिक व्यवहार साध्य सिद्धि के उपाय हैं और इन उपायों से मोहनीयादि

कर्मों का क्षय करके आत्मा को शुद्ध करना साध्य सिद्धि है। इस प्रकार व्यवहार कारण है और निश्चय कार्य है। इस मर्म को नहीं जाननेवाले लोग तुच्छ दलीलें करके मात्र एक निश्चय नय का ही अवलंबन पकड़ते हैं और व्यवहार नय का त्याग करते हैं, वे परमार्थ से जैन धर्म का लोप करनेवाले होते हैं।

➠ निश्चयनय वादियों की मिथ्या दलीलें :-

(१) धार्मिक क्रियाएं करना मन-वचन-काया की शुभ योग प्रवृत्ति है। मिथ्यात्व, अविरति, कषाय व प्रमाद जैसे कर्मबंध का कारण हैं, वैसे ही योग (प्रवृत्ति) भी कर्मबंध का कारण है। इसीलिये यह धार्मिक क्रियाएं करने की आवश्यकता नहीं है।

(२) ज्ञान जिस प्रकार का आत्म धर्म है, क्रिया उस प्रकार का आत्म धर्म नहीं है। बल्कि आत्म प्रदेशों की अस्थिरता (प्रवृत्ति) स्वरूप है। इसलिये कर्तव्य नहीं है। (मन-वचन-काया की प्रवृत्ति से (क्रिया से) आत्म प्रदेश उबलते पानी की तरह चंचल बन जाते हैं।)

(३) धार्मिक क्रिया आश्रव रूप है। शुभ तथा अशुभ दोनों प्रकार के आश्रव में शुभ आश्रव भी कर्म के बंध रुप है.। इसलिये कर्तव्य नहीं है।

(४) चौदहवें गुण स्थानक के अंत में अयोगी ही बनना है। इसलिये अंत में योग प्रवृत्तियों का त्याग करना ही है। तो यह धार्मिक क्रियाएं पहले से ही क्यों न छोड़ दी जाएं ?

(५) धार्मिक क्रियाएं तो जीवात्मा ने अलग-अलग जन्मों में अनंत बार की हैं। इसके बावजूद ज्ञान बिना इन जड़ क्रियाओं से आज तक आत्म कल्याण नहीं हुआ है। इसीलिये ऐसी जड़ क्रियाएं करने से क्या लाभ ?

(६) मरुदेवा माता, भरत महाराजा, इलाची पुत्र, चिलाती पुत्र, पृथ्वीचंद्र-गुणसागर आदि ने कहां धार्मिक क्रियाएं की थी ? वे मात्र ज्ञान की निर्मलता से ही तर गये। इसलिये क्रियाएं करना आवश्यक नहीं है। ऐसी अनेक दलीलों से व्यवहार मार्ग का जो त्याग करते-कराते हैं, उन्होंने जैन धर्म के राजमार्ग का

लोप किया है, ऐसा समझना चाहिये।

➠ मिथ्यादलीलों का प्रत्युत्तर :-

(१) तारक तीर्थंकरों ने शुद्ध आत्म तत्त्व में रमणता को परम उपादेय बताया है। इस अवस्था तक पहुंचने के लिये अनादि के अशुभ मार्ग में चले जाने के संस्कारों का क्षय करना आवश्यक है। शुभ योगों का सेवन करते हुए जीवात्मा अशुभ मार्ग से बाहर आती है और शुभ मार्ग पर स्थिर होकर अपने कषायों पर क्रमशः विजय प्राप्त करती है। साथ ही उपयोग की शुद्धि करती जाती है और उपयोगशुद्धि के लिये शुभ योगों का सेवन अत्यावश्यक है। वैसे भी जीवात्मा मन-वचन-काया की प्रवृत्ति (योग) के बिना नहीं रह सकती है। इसलिये तेरहवें गुणस्थानक तक योग रहेगा ही। इस योग को वह प्रशस्त बनाए तो साधक मोक्ष मार्ग पर आगे बढ़ता है। यद्यपि उपयोगशुद्धि के (निश्चय दृष्टि) लक्ष्य के साथ की जानेवाली प्रशस्त क्रियाएं पुण्यानुबंधी पुण्य का उपार्जन कराती हैं। जो राहबर जैसा है। जैसे राहबर (जानकार) जंगल पार करवाकर राजमार्ग तक पहुंचाकर लौट जाता है, वैसे ही पुण्यानुबंधी पुण्य भी चारित्र मार्ग पर पहुंचाकर स्वयं नष्ट हो जाता है। **इसलिये 'धार्मिक क्रियाएं तो योग प्रवृत्ति हैं' ऐसी बातें फैलाकर धार्मिक क्रियाओं का निषेध करना बिल्कुल उचित नहीं।**

(२) धार्मिक क्रियाएं भले ही आत्म धर्म (आत्म परिणाम) स्वरूप नहीं। परन्तु वह आत्म धर्म का कारण तो हैं ही। इसलिये विवक्षित इष्ट स्थल की प्राप्ति करने के लिये जैसे वाहन की आवश्यकता होती है, वैसे ही आत्म धर्म के साधन रुप से धार्मिक क्रियाएं अवश्य करणीय हैं।

(३) धार्मिक क्रियाओं से शुभ आश्रव होता है, यह बात सच्ची है। परन्तु इससे मोह का नाश होता है, पूर्व में उपार्जित कर्मों की स्थिति-रस का घात होता है, इसलिये निर्जरा का कारण भी है। इसमें बंध अल्प है और निर्जरा अनंत है। इसलिये करणीय है।

(४) **"जिसे अंत में छोड़ना ही है, उसे पहले से ही छोड़ देना चाहिये" यह नियम सही नहीं है।** क्योंकि मृत्यु के समय शरीर का त्याग करना ही पड़ता है। इसलिये उसे पहले से छोड़ देने के लिये कोई ज्ञानी नहीं कह सकता है। जैसा कि पूर्व में कहा है, विविध भूमिकाओं में शास्त्रों द्वारा निर्दिष्ट क्रियाएं करके आगे की भूमिकाएं प्राप्त हों, तब पूर्व भूमिका की क्रियाएं छोड़ ही देनी पड़ती हैं और अगली भूमिका की क्रियाएं करनी होती हैं। इसलिये प्रथम गुणस्थानक से लेकर यावत् चौदहवें गुणस्थानक तक क्रियाएं निहित हैं।

(५) भूतकाल में अनंत जड़ क्रियाएं की, फिर भी कल्याण नहीं हुआ। यह बात भी अपेक्षाकृत सही है। जड़ क्रियाएं ही अकल्याण की कारण हैं, परन्तु चेतनवंती क्रियाएं अकल्याण की कारण नहीं हैं। जिन साधकों ने चेतनवंती क्रियाएं की, उनका अवश्य ही कल्याण हुआ है। इसीलिये क्रियाएं त्यागने की आवश्यकता नहीं है। क्रिया में निहित जड़ता का त्याग करके उसमें चेतना जगाने की जरूरत है। वस्त्र मलीन है, तो वस्त्र की मलीनता दूर करनी है। परन्तु वस्त्र का ही त्याग नहीं करना है। वैसे ही क्रिया में से जड़ता को दूर करना है। परन्तु क्रिया का त्याग नहीं करना है।

(६) भरत महाराजा आदि के उदाहरण अपवाद हैं। इस प्रकार कुछ जीवात्मा ही मोक्ष प्राप्त करती हैं। अधिकांश जीवात्माएं तो व्यवहार मार्ग का सेवन करके ही निश्चय प्राप्त करके मोक्ष की प्राप्ति करती हैं। इसलिये **सवासौ गाथा** के स्तवन में कहा गया है कि,

चरित भणी बहु लोकमांजी, भरतादिकनां जेह,
लोपे शुभ व्यवहारनेजी, बोधि हणे निज तेह। (५-१०)

बहु दल दीसे जीवनां जी, व्यवहारे शिवयोग,
छांडी ताके पाधरोजी, छोड़ी पंथ अयोग। (५-११)

इसलिये निश्चयनय का अवलंबन लेकर व्यवहार मार्ग का कभी लोप न

करें। **आवश्यक सूत्र में व्यवहार धर्म के आचरण के फल का संदेह करने में भी अनंत संसार बताया गया है।**

आवश्यकमां भाखीयोजी, एही ज अर्थ विचार,
फलसंशय पण जाणतांजी, जाणीजे संसार। (५-१२)

इसलिये ध्येय रूप में निश्चय को रखकर व्यवहार मार्ग का यथोचित आचरण करना चाहिये। अकेला ज्ञानी भी नहीं तर सकता है और अकेला क्रियाशील भी नहीं तर सकता है। **ज्ञानसार ग्रंथ** के क्रियाष्टक में ज्ञानी व क्रियाशील आत्मा ही स्वयं तरती है तथा अन्य को तारती है, ऐसा स्पष्ट कहा गया है।

ज्ञानी क्रियापरः शान्तो भावितात्मा जितेन्द्रियः।
स्वयं तीर्णो भवाम्भोधेः, परं तारयितुं क्षमः ।।९-१।।

ज्ञानी, क्रिया में तत्पर, शांत (कषाय के ताप से रहित), भावितात्मा (शुद्ध स्वरूप में रममाण) और जितेन्द्रिय आत्मा स्वयं संसारसागर से तरती है और (उपदेश द्वारा) अन्य को तारती है।

ज्ञानसार ग्रंथ के क्रियाष्टक में क्रिया की अनन्य कारणता और उस पर हुए आरोपों का सुंदर प्रतिकार करते हुए कहा है कि,[6]

(१) क्रिया रहित अकेला ज्ञान निरर्थक है। जैसे कि कोई व्यक्ति इष्ट नगर जाने का मार्ग तो जानता है अर्थात् उसके पास मार्ग का ज्ञान तो है, परन्तु यदि वह उस मार्ग पर गति (चलने की क्रिया) ही न करे, तो क्या वह इष्ट नगर में पहुंच पाएगा ? बिल्कुल नहीं। इसीलिये केवल ज्ञान से स्वसाध्य की सिद्धि नहीं हो सकती है। इसके लिये साध्य के अनुकूल क्रिया भी करनी ही चाहिये।

(२) ज्ञान से पूर्ण जीवात्मा को (निज-पर के भेद को उचित ढंग से जाननेवाली जीवात्मा को) भी अवसर पर (निज कार्य को सिद्ध करने के अवसर पर) कार्य के अनुकूल क्रिया की अपेक्षा होती ही है। जैसे दीपक स्वयं स्वप्रकाश रूप है।

इसके बावजूद जैसे वह तेल आदि की क्रिया की अपेक्षा रखता है। वैसे ही ज्ञानी भी अवसर आने पर क्रिया की अपेक्षा रखता है। पूर्ण ज्ञानी को भी अवसर आने पर स्वभाव के अनुकूल क्रिया की आवश्यकता होती है।

➞ सम्यग्ज्ञानी-सम्यग्दृष्टि आत्मा प्रथम संवर की क्रियाओं की रुचि रखती है और देशविरति-सर्वविरति ग्रहण रूप क्रिया का आश्रय करती है, चारित्रयुक्त साधक भी केवलज्ञान रूपी कार्य प्राप्त करने में रुचि रखता है और इसके लिये शुक्लध्यान में आरोहण करने स्वरूप क्रिया का आश्रय करता है। केवलज्ञानी भी सर्व संवर-पूर्णानंद रूपी कार्य के अवसर पर योग निरोध रूपी क्रिया करते हैं - **इसीलिये कहा गया है कि, ज्ञानी भी क्रिया की अपेक्षा रखते हैं।**

(३) क्रिया तो बाह्यभाव रूप है, इसलिये क्रिया करने से क्या लाभ होगा ! हमें तो आंतरिक भावों में यत्न करना चाहिये, जो जीवात्माएं ऐसा कहकर क्रियाओं का निषेध करती हैं, वे मुख में निवाला डाले बिना तृप्ति (भूख की शांति) चाहती हैं। जैसे मुख में निवाला डाले बिना तृप्ति संभव नहीं, वैसे ही धार्मिक क्रिया किये बिना अंतर्भावो की प्राप्ति संभव नहीं होती है।

(४) इसलिये अंतर्भावो की प्राप्ति हेतु एवं उसे स्थिर करने हेतु वीतराग द्वारा प्ररूपित धार्मिक क्रियाएं अवश्य करनी चाहिये।

(५) **संप्राप्त शुभ भावों के रक्षण हेतु सत्क्रिया अत्यावश्यक है।** सत् क्रिया से अभिनव शुभ भावों की प्राप्ति होती है और संप्राप्त शुभ भावों का रक्षण होता है। **इसीलिये शुभ भावों के रक्षण हेतु ज्ञानियों ने निम्नलिखित सात[7] क्रियाएं बताई हैं।**

(१) नित्य स्मृति :- जीवन में स्वीकृत सम्यक्त्व-व्रत-महाव्रत आदि का नित्य स्मरण करना चाहिये। **(२) सन्मान :-** स्वीकृत सम्यक्त्व-व्रतादि के प्रति सन्मान रखना चाहिये। **(३) प्रतिपक्ष जुगुप्सा :-** सम्यक्त्व-महाव्रत के प्रतिपक्ष रूपी मिथ्यात्व-हिंसादि के प्रति जुगुप्सा भाव रखना चाहिये। **(४) परिणति-**

आलोचन :- सम्यक्त्वादि गुणों तथा उनके प्रतिपक्ष मिथ्यात्वादि दोषों के परिणाम का चिंतन करना चाहिये। **(५) तीर्थंकर भक्ति :-** श्री तीर्थंकर परमात्मा की भक्ति करनी चाहिये। **(६) सुसाधुओं की सेवा :-** सुसाधुओं की सेवा करनी चाहिये। **(७) उत्तर गुण की श्रद्धा :-** जिन गुणों को स्वीकार किया हो, उनसे अधिक गुणों पर श्रद्धा रखनी चाहिये - उन्हें प्राप्त करने की रुचि विकसित करनी चाहिये। जैसे कि, सम्यक्त्व को स्वीकार किया हो तो देशविरति की इच्छा रखनी चाहिये। देशविरति वाले को सर्वविरति की इच्छा रखनी चाहिये। **इन सात उपायों का सदैव सेवन करना चाहिये।**

(५) **क्षायोपशमिक भाव में** (चारित्र के अनुयायी वीर्य के क्षयोपशम भाव में) **प्रवर्तन के दौरान वंदनादि क्रिया की जाती है, उस क्रिया से कोई भी कारणसर पतित होने के बाद भी** (सम्यक्त्वादि गुणों से नीचे गिरनेवालों को भी) **पुनः सम्यक्त्वादि गुण-भाव की वृद्धि होती है।**[8] (यहां स्मरण रखना चाहिये कि, घाती कर्मों के क्षयोपशम भाव में प्रवर्तन के दौरान जो वंदनादि क्रिया होती है वह क्षायोपशमिक भाव की वृद्धि करनेवाली होती है और वही वंदनादि क्रियाएं औदयिक भाव में की जाएं तो वे ऐसे आत्मगुण विकसित करनेवाली सिद्ध नहीं होती हैं।)

(६) **इसलिये (सत् क्रियाएं आत्मगुणों की कारण होने से) ज्ञानादि गुण की वृद्धि के लिये सत् क्रियाएं अवश्य करनी चाहिये और स्वीकृत धर्म स्थान से नीचे न गिर जाएं, इसलिये भी क्रियाएं करनी चाहिये।** जीवात्मा अनादि से अशुभ में प्रवृत्त थी। सत् क्रियाओं का आलंबन न हो तो अशुभ में रहने के संस्कार उसे नीचे गिराने का काम करते हैं। इसलिये सत् क्रियाओं का आलंबन लेकर ऊपर चढ़ने का प्रयत्न करना चाहिये।

(७) **श्री जिनेश्वर परमात्मा के वचनानुसार अनेक बार अनुष्ठान (धार्मिक क्रिया) करने से असंग अनुष्ठान की प्राप्ति होती है।** दीर्घकाल पर्यन्त वचनानुष्ठान के सेवन से घाती कर्मों का विशिष्ट क्षयोपशम होता है, तब असंग

अनुष्ठान की प्राप्ति होती है। असंग अनुष्ठान में ज्ञान-क्रिया का अभेदभाव सिद्ध होता है। शुद्धउपयोग में शुद्ध वीर्योल्लास का अभेद सिद्ध होता है।

इसलिये सारी चर्चा का सार एक ही है कि, सत् क्रियाओं का सन्मान-सेवन अवश्य करना चाहिये। तत्त्व को जाननेवाले क्रिया का कभी निषेध न करें। **धर्म आत्मा में है। परन्तु आत्मा में निहित रत्नत्रयी की परिणति रूपी धर्म को प्रकट करने के लिये रत्नत्रयी की क्रिया कारण है। इसलिये कारन में कार्य का उपचार करके (निश्चय के अभिमुख) रत्नत्रयी की क्रियाएं भी धर्म हैं और इसीलिये उपादेय हैं।**[9]

➠ अनुष्ठान (क्रिया) शुद्धि :-

निश्चयदृष्टि रहित मात्र बाह्यदृष्टि से सेवित धर्मानुष्ठान शुद्ध नहीं होता है। निश्चयदृष्टिवाला अनुष्ठान ही शुद्ध अनुष्ठान होता है। शास्त्रकार महर्षियों ने एक ही अनुष्ठान के - क्रिया के आशय की शुद्धि एवं अशुद्धि के भेद से पांच प्रकार बताये हैं। योगबिंदुग्रंथ में यह पांच प्रकार दर्शाए गये हैं -

विषं गरोऽननुष्ठानं तद्धेतुरमृतं परम् ।
गुर्वादिपूजानुष्ठानमपेक्षादिविधानतः ।।१५५।।

- अपेक्षादि के विधान से (अपेक्षा-आशयों की भिन्नता के कारण) गुरु पूजादि अनुष्ठान के पांच भेद हैं। (१) विषानुष्ठान, (२) गरलानुष्ठान, (३) अननुष्ठान, (४) तद्हेतु अनुष्ठान व (५) अमृत अनुष्ठान।[10]

(१) विषानुष्ठान :- आलोक की कीर्ति-लब्धि आदि की स्पृहा से किये जानेवाले धर्म को **विषानुष्ठान** कहा जाता है। कीर्ति आदि की स्पृहा (रागादि को उत्पन्न करके भाव प्राणों की नाशक होने के कारण) विष समान है, इसलिये उसकी स्पृहा से किया जानेवाला धर्मानुष्ठान **विषानुष्ठान** कहलाता है। इससे सत्चित्त का नाश होता है। **संसार की विमुखता, मोक्ष की अभिमुखता और शुभ भावों की सम्पत्ति सत्चित्त का स्वरूप हैं।** विषानुष्ठान से शुभ भाव नष्ट हो जाते हैं और सांसारिक सुख की रुचि प्रकट हो जाने के कारण मोक्ष की

अभिमुखता अवरुद्ध हो जाती है। मनोवृत्तियां अत्यंत मलीन हो जाती हैं। इसके अलावा श्री वीतराग द्वारा प्ररूपित अनुष्ठान अनंत सुखमय मोक्ष का परम कारण होने से महान है। महान अनुष्ठान का अत्यंत तुच्छ कीर्ति-लब्धि एवं भोगों के लिये उपयोग करने से अनुष्ठान की महानता खत्म हो जाती है, जो कि अनुष्ठान की महाआशातना है। इससे जीवात्मा को बहुत नुकसान होता है। महान वस्तु का मूल्य घटानेवाले के लिये महान वस्तु दुर्लभ हो जाती है, इस प्रकार का कर्मोपार्जन होता है। इसलिये विषानुष्ठान हेय है।

(२) गरलानुष्ठान :-

दिव्य भोगों की अभिलाषा से (परलोक के दैवी सुखों की अभिलाषा से) किये जानेवाले गुरुपूजादि अनुष्ठान को **गरलानुष्ठान** कहा जाता है। क्योंकि, पूर्वकथित नीति के अनुसार गरलानुष्ठान कालांतर में सत्‌चित्त को नष्ट करता है। (विष तुरंत मारने का काम करता है। 'गरल' कुद्रव्यों के संयोग से बननेवाला एक प्रकार का विष ही है, जो कालांतर में मारता है।)

(३) अननुष्ठान :-

सन्निपात से उपद्रुत जीवात्मा का जैसे कोई अध्यवसाय नहीं होता है, वैसे ही अत्यंत मुग्ध जीवात्मा के (कोई निश्चित) अध्यवसाय रहित अनुष्ठान को **अननुष्ठान** कहा जाता है अर्थात् अत्यंत मुग्ध जीवात्मा आत्मशुद्धि तथा आलोक-परलोक के सुख आदि किसी भी अपेक्षा के बिना जो गुरुपूजादि धर्म समूर्च्छिम रूप से गतानुगतिकता से करती है, उसे **अननुष्ठान** कहा जाता है। यह अनुष्ठान विफल हो जाता है।

(४) तद्‌हेतु अनुष्ठान :-

तात्त्विक अनुष्ठान के (सदनुष्ठान के) राग से आदि धार्मिक काल में किये जानेवाले देव पूजादि धर्म को **तद्‌हेतु अनुष्ठान** कहा जाता है। **मुक्ति के प्रति अद्वेष से अथवा आंशिक मुक्ति के राग से किया जानेवाला तद्‌हेतु अनुष्ठान**

आंशिक शुभ भाव से प्रयुक्त होने के कारण सदनुष्ठान का कारण बनता है।

(५) अमृत अनुष्ठान :-

"श्री जिनेश्वर परमात्मा द्वारा कथित मार्ग ही तात्त्विक है - सच्चा है" - ऐसी जिनोदित मार्ग की श्रद्धापूर्वक तीव्र संवेग के परिणाम के साथ किये जानेवाले अनुष्ठान को **अमृत अनुष्ठान** कहा जाता है।

तद्हेतु अनुष्ठान में मुक्ति के प्रति अनुकूल भाव होता है और अमृत अनुष्ठान में मुक्ति के प्रति प्रगाढ़ राग होता है। पूर्वोक्त पांचों अनुष्ठानों में विष, गरल और अननुष्ठान, ये तीन अनुष्ठान ध्येय से विमुख करनेवाले होने के कारण **हेय** हैं और तद्हेतु व अमृत अनुष्ठान ध्येय की प्राप्ति करानेवाले होने के कारण **उपादेय** हैं। इसलिये यही दो अनुष्ठान करने योग्य हैं।

प्रश्न :- ध्येयसाधक धार्मिक व्यवहार करने योग्य हैं, यह बात तो हमारी समझ में आ गई। परन्तु वास्तव में कौन-से धार्मिक व्यवहार ध्येयसाधक-सच्चे हैं और कौन-से धार्मिक व्यवहार ध्येयबाधक-असत्य हैं ?

उत्तर :- पूज्य अध्यात्म योगी श्री आनंदघनजी महाराजा ने सरल शब्दों में पूर्वोक्त प्रश्न का उत्तर देते हुए **स्तवन** में कहा है कि,

"वचन निरपेक्ष व्यवहार जूठो कह्यो, वचन सापेक्ष व्यवहार साचो,
वचन निरपेक्ष व्यवहार संसारफल, सांभली आदरी कांई राचो
धार तलवारनी सोहिली दोहिली चौदमा जिनतणी चरण सेवा।"

श्री जिनवचन से निरपेक्ष धार्मिक व्यवहार ध्येयबाधक-असत्य है। इससे संसार की वृद्धि होती है और जिनवचन से सापेक्ष व्यवहार ध्येयसाधक होने के कारण सच्चा है। उससे संसार की कटौती होती है।

इसलिये मोक्षमार्ग के प्रत्येक साधक को निश्चय-व्यवहार का समन्वय स्वरूप जिनवचनानुसारी धार्मिक क्रियाओं का सन्मान अवश्य करना चाहिये।

इस प्रकार जिनशासन के अनुसार ज्ञान व क्रिया से मोक्ष की प्राप्ति होती है। जो मात्र ज्ञान को मोक्षदायक मानते हैं, उनकी दृष्टि एकांत दृष्टि है। जो ज्ञान व क्रिया दोनों को मोक्षदायक मानते हैं उनकी दृष्टि अनेकांत दृष्टि होती है। यह अनेकांत दृष्टि ही तारक होती है। एकांत दृष्टि मारक होती है, यह सदैव स्मरण रखना चाहिये। जगत के व्यवहार भी प्रमाणित करते हैं कि, ज्ञान-क्रिया के उभय से ही किसी भी कार्य की सिद्धि होती है।

➞ **टिप्पणकम् :- 1.** स्वरूपाभिमुखदर्शनज्ञानोपयोगता ज्ञानम्, स्वरुपाभिमुखवीर्यप्रवृत्तिः क्रिया, एवं "ज्ञान-क्रियाभ्यां मोक्षः", तत्र ज्ञानं स्वपरावभासनरूपम्, क्रिया स्वरुपरमणरूपा। तत्र चारित्रवीर्यगुणैकत्वपरिणतिः क्रिया, सा साधका अत्र अनादिसंसारे अशुद्धकायिक्यादिक्रियाव्यापारनिष्पन्नः संसारः। स एव विशुद्धसमितिगुप्त्यादिविनयवैयावृत्त्यादिसत्क्रियाकरणेन निवर्तते। अतः संसारक्षपणाय क्रिया संवरनिर्जरात्मिका करणीया। **(ज्ञानसार-ज्ञानमञ्जरी-टीका-१/९) 2.** यस्तु सकलपुद्गलोद्विग्नः स्वस्वभावार्थी आत्मानं यथार्थावबोधने जानाति तत्ज्ञानम्, तत्रोद्यमः कार्यः स्वसाध्यसिद्धये **(ज्ञानसार-ज्ञानमञ्जरी-टीका्** ५/१) **3.** यदात्मपरविभजनाऽऽत्मैकत्वपरपरित्यागाय न भवति तत्सर्वं विलापरुपमरण्ये। **(ज्ञानसार-ज्ञानमञ्जरी-५/३ टीका) 4.** निर्वाणपदप्येकं भाव्यते यन्मुहुर्मुहुः। तदेव ज्ञानमृत्कृष्टं निर्बन्धो नास्ति भूयसा ।।५-२।। **5.** पढमस्य लोगधम्मे परपीडावज्जणाए ओहेणं। गुरु-देवा-ऽतिहिपूयाइ दीणदाणाइ अहिगिच्च ।।२५।। बीयस्स उ लोगुत्तरधम्मम्मि अणुव्वाइ अहिगिच्च। परिशुद्धाणायोगा तस्स तहाभावमासज्ज ।।२७।। तइयस्स पुण विचित्तो तहुत्तरसुजोगसागहो णेओ। सामाइयाइविसओ णयनिउणं भावसारो त्ति ।।२९।। **(योगशतकम्) 6.** क्रियाविरहितं हन्त! ज्ञानमात्रमनर्थकम्। गतिं विना पथज्ञोऽपि, नाप्नोति पुरमीप्सितम् ।।२।। स्वानुकूलां क्रियां काले, ज्ञानपूर्णोऽप्यपेक्षते। प्रदीपः स्वप्रकाशोऽपि, तैलपूर्त्यादिकां यथा ।।३।। बाह्यभावं पुरस्कृत्य, ये क्रियां व्यवहारतः। वदने कवलक्षेपम्, विना ते तृप्तिकाङ्क्षिणः ।।४।। गुणवद्बहुमानादेर्नित्यस्मृत्या च सत्क्रिया। जातं न पातयेद् भावमजातं जनयेदपि ।।५।। क्षायोपशमिके भावे या क्रिया क्रियते तया। पतितस्यापि तद्भावप्रवृद्धिर्जायते पुनः ।।६।। गुणवृद्धयै ततः कुर्यात् क्रियामस्खलनाय वा। एकं तु

संयमस्थानं जिनानामवतिष्ठते ।।७।। वचोऽनुष्ठानतोऽसङ्गक्रियासंगतिमङ्गति। सेयं ज्ञानक्रियाऽभेदभूमिरानन्दपिच्छला ।।८।। **7.** तम्हा णिच्चसइए बहुमाणेणं च अहिगयगुणिंमि पडिवक्खदुगंछाए, परिणइआलोयणेणं च ।।३६।। तित्थंकरभत्तीए, सुसाहुजणपज्जुवासणाए य। उत्तरगुणसद्धाए इत्थ सया होइ जइयव्वं ।।३७।। एवमसतो वि, इमो जायइ जाओवि न पडइ कयाइ। ता एत्थं बुद्धिमया, अपमाओ होइ कायव्वो ।।३८।। **(पञ्चा० प्र० पञ्चा० ३) 8.** खओवसमिगभावे, दढजत्तकयं सुहं अणुट्ठाणं। परिवडियं पि हु जायइ, पुणोवि तब्भाववुड्ढिकरं ।।३४।।**(पञ्चा० प्र० पञ्चा० ३) 9.** तत्त्वज्ञाः क्रियानिषेधकाः, किन्तु क्रिया हि शुद्धरत्नत्रयीरुपवस्तुधर्मसाधने कारणम्, न धर्मः। धर्मत्वम् आत्मस्थमेव। उक्तं च श्रीहरिभद्रपूज्यैः दशवैकालिकवृत्तौ - 'धर्मसाधनत्वात् धर्म इति'। अतः द्रव्यक्रियां धर्मत्वेन गृह्णन्ति तत्कारणे कार्योपचार एव, नान्यः। **(ज्ञानसार-ज्ञानमञ्जरी टीका** - ९ - ८) **10.** विषं लब्ध्याद्यपेक्षात इदं सञ्चित्तमारणात्। महतोऽल्पार्थनाज्ज्ञेयं लघुत्वापादनात्तथा ।।१५६।। दिव्यभोगाभिलाषेण गरमाहुर्मनीषिणः। एतद्विहितनीत्यैव कालान्तरनिपातनात् ।।१५७।। अनाभोगवतश्चैतदननुष्ठानमुच्यते। सम्प्रमुग्धं मनोऽस्येति ततश्चैतद्यथोदितम् ।।१५८।। एत्द्रागादिदं हेतुः श्रेष्ठो योगविदो विदुः। सदनुष्ठानभावस्य शुभभावांशयोगतः ।।१५९।। जिनोदितमिति त्वाहुर्भावसारमदः पुनः। संवेगगर्भमत्यन्तममृतं मुनिपुङ्गवाः ।।१६०।। **(योगबिन्दुः)** संमोहादननुष्ठानं सदनुष्ठानरागतः तद्धेतुरमृतं तु स्याच्छ्रद्धया जैनवर्त्मनः ।।१३।। **(मुक्ति-अद्वेष द्वात्रिंशिका)**

योग सिद्धि के छह उपाय :-

उत्साहान्निश्चयाद्धैर्यात्, संतोषात्तत्त्वदर्शनात्।
मुनेर्जनपदत्यागात्, षड्भिर्योगः प्रसिद्ध्यति ।। [योगबिन्दुः]

(१) उत्साह (वीर्योल्लास), **(२) निश्चय** (कर्त्तव्य का एकाग्र परिणाम), **(३) धैर्य, (४) संतोष** (आत्म रमणता), **(५) तत्त्व दर्शन** (योग ही परमार्थ है, ऐसा तत्त्व दर्शन) और **(६) जनपद त्याग** (लोकसंज्ञा-लोकरंजन का त्याग) :- **इन छह उपायों से योग की सिद्धि होती है।**

✦✦✦

अन्य संपादित-लेखित-संकलित पुस्तको

क्रम	पुस्तक का नाम / प्रकाशनवर्ष
१.	षड्दर्शन समुच्चय ● भाग-१ (बौद्ध-नैयायिक-सांख्यदर्शन) (वि.सं.२०६१)
२.	षड्दर्शन समुच्चय ● भाग-२ (जैन-वैशेषिक-मीमांसकदर्शन) (वि.सं.२०६१)
३.	श्रमणधर्म, धर्मसंग्रह सारोद्धार, भाग-२ (वि.सं. २०६१)
४.	तिथि अंगे सत्य और कुतर्कोनी समालोचना (वि.सं. २०६१)
५.	तत्त्वविषयक प्रश्नोत्तरी ● (वि.सं. २०६२)
६.	योगदृष्टिथी जीवनदृष्टि बदलीये ● (वि.सं. २०६२)
७.	त्रिस्तुतिक मत समीक्षा (प्रश्नोत्तरी-गुजराती) (वि.सं. २०६४)
८.	त्रिस्तुतिक मतसमीक्षा (प्रश्नोत्तरी) (वि.सं. २०६४)
९.	चतुर्थस्तुति निर्णय (सानुवाद) भाग १-२ (वि.सं. २०६४)
१०.	योगपूर्वसेवा ● (वि.सं. २०६४)
११.	अहिंसा महान के आज्ञा? (संकलनकारः नरेशभाई नवसारीवाले) (वि.सं.२०६४)
१२.	शुद्धधर्म ● (वि.सं. २०६५)
१३.	● अध्यात्मशुद्धि (वि.सं. २०६६)
१४.	● समाधि मृत्यु द्वारा सद्गति और सद्गति द्वारा भवमुक्ति (वि.सं. २०६७)
१५.	षड्दर्शन समुच्चय-१ (हिन्दी भावानुवाद) (बौद्ध-नैयायिक-सांख्यदर्शन) (२०६८)
१६.	षड्दर्शन समुच्चय-२ (हिन्दी भावानुवाद) (जैन-वैशेषिक-मीमांसकदर्शन) (२०६८)
१७.	षड्दर्शनसूत्रसंग्रह एवं षड्दर्शनविषयककृतयः (वि.सं. २०६८)
१८.	आत्मानी त्रण अवस्था (वि.सं. २०६८)
१९.	जैनदर्शनना महत्त्वना सिद्धांतो (स्याद्वाद, प्रमाण, नय, सप्तभंगी, निक्षेप) (२०६८)
२०.	आत्मानो विकासक्रम (चौद गुणस्थान-आठ योगदृष्टि) (वि.सं. २०६८)
२१.	नवत्त्वसंग्रह (गुर्जरानुवादसमेत) (पू.आत्मारामजी म. कृत) (वि.सं.२०६९)
२२.	जीवनलक्ष्य (वि.सं. २०६९)
२३.	अध्यात्मके अधिकारी (वि.सं. २०७०)

नोंध : ● यह निशानी के पुस्तक अप्राप्य है.

अन्य संपादित-लेखित-संकलित पुस्तको

क्रम	पुस्तक के नाम / प्रकाशनवर्ष
२४.	भावना भावनाशिनी (२०७०)
२५.	संघपट्टक (वि.सं. २०७०)
२६.	शुद्धधर्म - १ (शुद्धधर्म केम पामशो ?) (वि.सं. २०७१)
२७.	शुद्धधर्म - २ (बंध-अनुबंध) (वि.सं. २०७१)
२८.	शुद्धधर्म - ३ (लेश्याशुद्धि) (वि.सं. २०७१)
२९.	सम्यक्त्व शल्योद्धार (गुर्जरानुवाद समेत) (पू.आत्मारामजीम. कृत) (वि.सं.२०७१)
३०.	धर्मद्रव्यनी शास्त्रीयव्यवस्था और अशास्त्रीय व्यवस्थानी सामे लालबत्ती (बृहद्संस्करण) (वि.सं. २०७१)
३१.	धर्मद्रव्यनी शास्त्रीयव्यवस्था और अशास्त्रीय व्यवस्थानी सामे लालबती (बृहद्संस्करण) (वि.सं. २०७१)
३२.	प्रभुवीरनी अंतिम देशनाः कलिकालमां केम पार उतरशो? (वि.सं. २०७१)
३३.	अध्यात्म केम पामशो ? (वि.सं. २०७२)
३४.	सम्यग्दर्शन - १ : सम्यग्दर्शन केम पामशो ? (वि.सं. २०७२)
३५.	सम्यग्दर्शन - २ : सम्यग्श्रद्धाने आत्मसात् करो (वि.सं. २०७२)
३६.	सम्यग्दर्शन - ३ : सम्यग्दर्शन अंगे विशेष बातो (वि.सं. २०७२)
३७.	सम्यग्दर्शन - ४ : सम्यग्दर्शनने स्थिर केम बनावशो ? (वि. सं. २०७२)
३८.	सम्यग्दर्शन - ५ : समक्तिना सडसठ बोल (कथा सहित) (वि.सं. २०७२)
३९.	जैनमतवृक्ष (गुर्जरानुवाद समेत) और पू.आत्मारामजी महाराजाना पद्यसाहित्य (वि.सं. २०७२)
४०.	जीवनकर्त्तव्यने ओलखीये (वि.सं. २०७२)
४१.	योगसिद्धिना सोपान (वि.सं. २०७२)
४२.	भावना द्वारा भवमुक्ति (वि.सं. २०७२)
४३.	अध्यात्म-ध्यानयोग (वि.सं. २०७२)
४४.	जैनधर्मनुं स्वरूप (गुर्जरानुवाद समेत) (पू. आत्मारामजी म. कृत) (वि.सं. २०७२)
४५.	श्री सम्यग्ज्ञान प्रचारक समितिः साहित्य सूचि-पुस्तक परिचय (वि.सं. २०७२)
४६.	धर्मने मलिन बनावनार दोषोने ओलखो (वि.सं.२०७२)
४७.	जैनधर्मविषयक प्रश्नोत्तर और प्रश्नोत्तर संग्रह (गुर्जरानुवाद समेत)
४८.	ईसाइ मत - समीक्षा (गुर्जरानुवादसमेत)
४९.	जैनतत्त्वादर्श, भाग - १-२-३ (गुर्जरानुवादसमेत)
५२-५३	आत्मा का विकासक्रम, भाग - १-२ (हिन्दी)
५४.	योगधर्मनो अधिकारी

संदर्भ ग्रंथ की यादी

१. अध्यात्ममत परीक्षा
२. अध्यात्मसार
३. अमृतवेलनी सज्झाय
४. अष्टकप्रकरण
५. आचारांग सूत्र
६. आवश्यकसूत्र
७. उपदेश रहस्य
८. उपदेशपद प्रकरण
९. उपदेशमाला
१०. उपमितिभवप्रपंचा कथा
११. ओघनिर्युक्ति भाष्य
१२. कर्मग्रंथ - १-२
१३. कल्पसूत्र
१४. गुणस्थानक क्रमारोह
१५. गुरुतत्त्व विनिश्चय
१६. जैनतर्कभाषा
१७. ज्ञानसार प्रकरण
१८. तत्त्वार्थभाष्य - तत्त्वार्थाधिगमसूत्र
१९. दोढसो गाथानुं स्तवन
२०. द्वात्रिंशद् द्वात्रिंशिका
२१. धर्मपरीक्षा
२२. धर्मबिन्दु प्रकरण
२३. धर्मरत्न प्रकरण
२४. धर्मसंग्रह, भाग १-२
२५. नवतत्त्वप्रकरण
२६. निगोद षट्त्रिंशिका
२७. पंचवस्तुक ग्रंथ, भाग १-२
२८. पंचसंग्रह
२९. पंचसूत्र
३०. पंचाशक प्रकरण
३१. प्रवचन सारोद्धार
३२. प्रशमरति
३३. ब्रह्म समुच्चय प्रकरण
३४. योगदृष्टि समुच्चय
३५. योगदृष्टि समुच्चय
३६. योगपूर्वसेवा बत्रीसी
३७. योगबिंदु
३८. योगविंशिका
३९. योगशतक
४०. योगशास्त्र
४१. योगसार
४२. रत्नसंचय प्रकरण
४३. ललितविस्तरा
४४. विंशति विंशिका
४५. विचारसार प्रकरण
४७. शतकबृहद्चूर्णि
४८. शास्त्रवार्ता समुच्चय
४९. श्रीप्रज्ञापना सूत्र
५०. षड्दर्शन समुच्चय
५१. षोडशक प्रकरण
५२. समकितना सडसठबोलकी सज्झाय
५३. समवाय कारणनुं स्तवन
५४. सम्बोध प्रकरण
५५. सम्बोध सत्तरी
५६. सम्मतितर्क
५७. सम्यक्त्व सप्ततिका
५८. सम्यक्त्व सप्ततिका
५९. सवासो गाथाका स्तवन
६०. साडा त्रणसो गाथाका स्तवन

...વિદ્વાનમોદલિ પૂ.આ.ભ.શ્રીમદ્ વિજય પ્રેમસૂરીશ્વરજી મહારાજ...
સમાધિ
સુવર્ણવર્ષ
Years
...વિ.સં.૨૦૨૪-૨૦૭૪, વૈશાખ વદ ૧૧ ખંભાત...

શ્રી સમ્યગ્જ્ઞાન
પ્રચારક સમિતિ